सुधा संजीवनी

की

अमर घूंट

भारत सरकार से सम्मानित व पुरस्कृत

लेखक :-

कविराज डा० सीताराम ध्यानी

B.I.M.S., आयुर्वेदाचार्य

ध्यानी पुस्तक रत्नावलि का चतुर्थ रत्न

अपार जीवन सिन्धु–आयुर्वेद मंथन

से

सुधा संजीवनी

के अमर घूँट

एक आयुर्वेद स्नातक का मानव कल्याणार्थ पावन प्रयास

भारत सरकार से सम्मानित व पुरस्कृत—

लेखक :—

कविराज डा० सीताराम ध्यानी

B. I. M. S., आयुर्वेदाचार्य राजकीय चिकित्साधिकारी,

ग्राम—पीड़ा, कौडिया, पो० लैंसडौन, गढ़वाल (उ०प्र०)

प्रकाशक

कविराज डा० सीताराम ध्यानी

B. I. M. S., आयुर्वेदाचार्य

राजकीय चिकित्साधिकारी

लेखक के विशेष सहयोगी—

श्री छोटियालाल थपलियाल

कम्पाउण्डर, राजकीय चिकित्सालय

चोपता, पोस्ट जाखणी

जिला—चमोली (उ.प्र.)

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ

१९६९-७०

मूल्य—५.०० रु०

मुद्रक

मीरा प्रिंटिंग प्रेस

मांमू भान्जा रोड, अलीगढ़

—: मंगल कामना :—

"जनार्दनं भूत पतिं जगद् गुरुम्—
स्मरन् मनुष्यः सततं महामुने:।
दु:खानि सर्वाण्य पहन्ति साधय—
त्यशेषकार्याणि च यान्यभीप्सते ॥"

आभार प्रदर्शन

पूज्य गुरुदेव श्री द० आ० अनन्त कुलकर्णी, भूतपूर्व डिप्टी डाइरेक्टर आयुर्वेद (उ० प्र०), डा० मुकन्दीलाल जी डी. आई. एम.एस., डाइरेक्टर आयुर्वेद, लखनऊ (उ० प्र०), सिद्ध शल्य चिकित्सक डा० यज्ञेश्वर प्रसाद नैथाणी, एम. बी. बी. एस. मेडीकल कालेज, इलाहाबाद (उ० प्र०) श्री एम. एल. ध्यानी. केन्द्रीय डिप्टी सुपिरिटेंडेंट बोर्डर सिक्यूरिटी पुलिस फोर्स, दिल्ली, वैद्यवर प्रियबन्धु श्री देवीशरण गर्ग, सम्पादक 'धन्वन्तरि' विजयगढ़ (अलीगढ़), श्री जी. एस विष्ट, एम. ए. प्रिंसिपल इण्टर कालेज मैकोटी, चमोली आदि महानुभावों का मैं हार्दिक आभारी हूँ जिनके सद्परामर्श, उपयुक्त सहयोग व सहायता के बिना यह पुण्य कार्य सम्पन्न होना कठिन सा था। सधन्यवाद—

लेखक।

लेखक
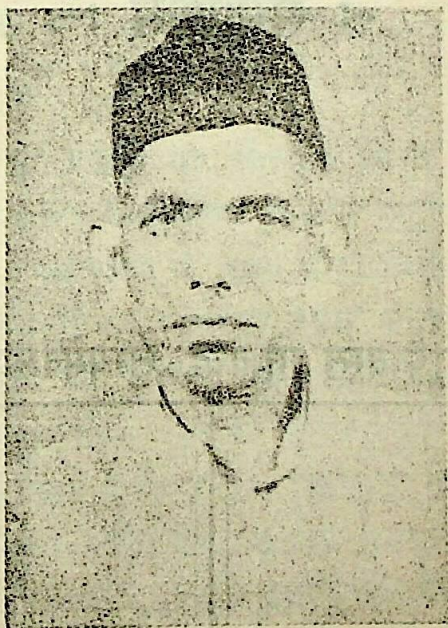
कविराज डा० सीताराम ध्यानी

B. I. M. S, आयुर्वेदाचार्य

राजकीय चिकित्साधिकारी (उ० प्र०)

सुधा संजीवनी

-: समर्पणम् :-

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेवसमर्पये

लेखक :-

कविराज डा० सीताराम ध्यानी

B. I. M. S., आयुर्वेदाचार्य

दो शब्द

कविराज ध्यानी जी लिखित प्रस्तुत पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन-मनन किया। वस्तुतः यह अमृत-घूँट ही है। इसे ध्यान से पढ़ने और विचार करने पर पाठक को पग-पग पर स्वजीवन सुधार के लिये प्रेरणाप्रद बचन मिलेंगे। इसे पढ़ने से पाठक को अपने दुर्गुणों को दूर कर सद्गुण संग्रह करने की सुन्दर प्रेरणा मिलती है। पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक को एक उपन्यास न समझें, प्रत्युत इसका धैर्य के साथ समझते हुये मनन करें। मुझे विश्वास है कि वे इस पुस्तक से बहुत कुछ लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

विजयगढ़
जनवरी १९६९

ज्वालाप्रसाद अग्रवाल
सम्पादक-'धन्वन्तरि'

सुधा संजीवनी

थके हो जीव यात्रा में सुधा संजीवनी पीलो ।
सुखद स्वर्णिम सफल जीवन बना निज सौ वरस जी लो ।।
कला को देख कारीगर कहीं जो दोष बतलाओ ।
मिलें जो गुण भले उसमें, भलाई देख अपनाओ ।।
गुलाबी फूल काँटों से, समझ सुन्दर निकाले हैं ।
बुरा कांटा जो छेदे तन, नहीं कोई निकाले हैं ।।
मिला अनमोल नर तन क्यों ? जरा कुछ सोच बतलाओ ।
पुरुष हो तुम कि पुरुषोत्तम-प्रवर पुरुषत्व अपनाओ ।।
गुलाबी फूल जीवन बन, जगत उपवन में खिल जाये ।
लुभाने औ भलाई में सभी के बीच घुल जाये ।।
सरोवर में कमल कमनीय खिल ज्यों रम्य बन जाता ।
जनम ले सद्पुरुष त्यों ही जगत भी धन्य बन जाता ।।
चराचर सृष्टि में लेना व देना क्रम चला आता ।
लिया ही है, दिया जिसने नहीं, वह चोर कहलाता ।।
समझदारी इसी में है विधाता क्रम को समझें ।
सदाचारी सुदानी बन कि जीवन धर्म को समझें ।।
न समझें समुझि समझायें कि मानव कर्म को समझें ।
रमा है हर बदन में जो उसी प्रभु मर्म को समझें ।।
उसी की अर्चना सेवा निछावर तन बदन कर दें ।
नया जीवन नई धारा बहे मन जीवनी भर दें ।।
उठी जो लेखनी अपनी, समाज अरु देश के हित में ।
नहीं, तो मूल्य उसका क्या, लगे जो यों न जनहित में ।।

'सुधा संजीवनी'

लेखक—
Kaviraj Dr. S. R. Dhyani
B. I. M. S. Ayurvedacharya,
Rajkeeya chikitsadhikari (U. P.)

विश्व का रंगमंच और आज का परेशान मानव

"अहो विधाता धन्य तुझे क्या अद्भुत रास रचाया है ।
राम-नाम 'सियराम' कथा का नाटक ठाट सजाया है ।"

सृष्टि के विशाल नाटक का प्रत्येक अभिनय सुचारुरूप से चल रहा है । दिनमणि, चन्द्र, नक्षत्र आदि सभी अपने कर्त्तव्य निभाने में सावधान और जागरूक है । दिन, रात, प्रहर, वर्ष ऋतु आदि सभी तो अपने अपने निर्धारित कर्म में सावधान हैं ।

पेड़, पौधे, पुष्प, लता आदि अपनी प्यारी देवी प्रकृति की सजावट में दत्त चित्त हैं, इस प्रकार सभी अपने कर्त्तव्य कर्म में त्याग व सेवा भावना से उस सर्व व्यापक अपने प्रभु के प्रति अपनी हार्दिक उपासना का परिचय दे रहे हैं । इस पुनीत कार्य में प्रकृति के साथ उन सबका जो सह-योग है वह वर्णनातीत और अति प्रशंसनीय है । सारा दृश्य आमोद प्रमोद से भर पूर है ।

उधर मानव अकेला ही एक ओर बैठा हुआ शिर पर हाथ धर अपना रोना रो रहा है । यह सब क्यों ? वह भी जो इस विशाल सृष्टि का एक अंग है, एक जीव है तो उसी के लिए ऐसा अन्याय व परेशानी क्यों ? क्योंकि उस सर्वात्मा-सर्वव्यापक-परमात्मा से वह असहयोग कर बैठा है, उसकी उपासना-अर्चना में वह प्रकृति से सहयोग नहीं कर रहा है, अपने कर्त्तव्य कर्म को न पहिचान कर, विपरीत भाव-स्वार्थ साधना में ही संलग्न है और इस प्रकार वह अपने कर्त्तव्य कर्म से वञ्चित होकर, उसकी उपासना सेवा से दूर रहकर पग पग पर असफल व परेशान है । क्योंकि गीता के

इस महान् उद्देश्य को वह भूल गया है कि—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरत; संसिद्धि लभते नरः ।
स्व कर्म निरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानाँ येन सर्वमिदं ततम् ।
स्व कर्मणा तमम्यर्च्यं सिद्धि विन्दति मानवः ॥

(गीता अ० १८/४५,४६)

"मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि को एक मात्र अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्र होकर ही प्राप्त कर सकता है। अपने कर्त्तव्य कर्म में तत्पर होकर मनुष्य उस सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे हे अर्जुन ! तुम सुनो ! वह सर्व व्यापक एकात्मा-परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि में एक रूप हो विराजमान है (हर इक घट तृण व कण अणु में विराजत औ सुशोभित हो—रही 'सियराम' की माया जहाँ भर में प्रकाशित हो ।) उसे ही सब में अनुभव कर स्वार्थ त्याग करके, त्याग व सेवा भावना से युक्त स्वधर्म रूप कर्म के पालन से उपासना करे ।"

प्रकृति में उगे असंख्य लता, पुष्प, पौधे, पेड़ आदि निरन्तर अपने को परोपकार में खपा रहे हैं। इसी प्रकार मनुष्य को इन सब से त्याग व सेवा की शिक्षा ग्रहण कर अपने को परहित में खपा देना ही जीवन का मुख्य ध्येय होना जरूरी है । इसके लिये सर्वत्र सब कर्मों में मनुष्य को जनता-जनार्दन की सेवा को ही अपना मुख्य ध्येय बनाना चाहिये ।

संक्षेप में, मनुष्य किस प्रकार अपनी कमियों, दोषों व कमजोरी को दूर कर सुखी व स्वस्थ होकर आनन्द पूर्वक अपनी जीवन यात्रा में सफल होकर अमरत्व को प्राप्त कर सकता है—यही सब कुछ किस सरलता सुनुभव व परिश्रम से आम जनता के समझने के लिये यहां पुस्तक रूप में प्रदर्शित किया गया है, यह गुणग्राही पाठक महानुभाव ही समझ सकते हैं—अन्त में

"संत हंस गुण गहहिंपय परिहर वारि विकार ।"

सुधा संजीवनी
की
※ विषय सूची ※

ॐ तत्सत् ।

सुधा संजीवनी

घूंट—१

"जीवन सार्थक बनाने के लिये प्रभु से प्रार्थना।"

प्रभो ! मेरे से जो कुछ इस जीवन में हो रहा है या आगे होगा वह सब तेरी ही प्रेरणा, तेरी ही कृपा से है। अपना कार्य सम्पादन के लिये ही आपने मुझे यह पुण्य जीवन दिया, इसके लिए मैं चिर आभारी हूँ। मैं भी पूर्णतः आप पर निर्भर हूँ। मैंने अपनी जीवन नौका आप पर छोड़ दी है और मैं निश्चिन्त हो गया हूँ। अब इसको संसार सिन्धु से पार लगानी आप की ही जिम्मेदारी है।

इस जीवन यात्रा में जो भी जीव मेरे सम्पर्क में आवें, वे मेरे से कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करें ! मेरे से जीवों का अधिक से अधिक कल्याण हो। मैं उनके कार्य सम्पादन में अधिक से अधिक लाभ-प्रद सिद्ध होऊँ ! इसके निमित्त मैं उनसे कुछ पाने की आशा न रक्खूँ ! मेरे सद्भाव के सम्पर्क में आने वाला कोई भी प्राणी वंचित न रह जाय। मैं किसी के सद्भाव के आश्रित न रहूँ। जहाँ भ्रम,. भय अंधकार है वहाँ मैं प्रकाश बन कर राह प्रदर्शक बनूँ।

दीन दुःखी जीवों की सेवा सुश्रूषा के लिये मुझे निरन्तर स्वस्थ व सावधान बनाए रखना। मैं दूसरों से सान्त्वना व सहानुभूति की भिक्षा न माँगू बल्कि मैं ही सब को सान्त्वना व सहानुभूति प्रदान करने का माध्यम बनू। मैं भूलकर भी यह विचार न करूँ कि दूसरे मुझे बड़ा समझें मेरा आदर करें बल्कि मैं ही दूसरों को बड़ा समझूँ और उनका हृदय से आदर करूँ।

प्रभो ! मैं यह आशा न करूँ कि मुझसे दूसरे प्रेम करें, बल्कि मेरे हृदय में इतनी शक्ति भरो कि मैं जीव मात्र के प्रति अधिक से अधिक प्रेम करूँ, क्योंकि जब हम देते हैं तभी पाते हैं। एक बीज बोते हैं, कई गुना

होकर मिलता है । प्रभो ! मुझे स्वयं के लिये कुछ नहीं चाहिये, केवल सद्-बुद्धि और कार्य क्षमता इतनी हो कि मैं जग कल्याण में अधिक से अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकूँ ।

प्रार्थना का अर्थ मांगना नहीं वल्कि अपनी आत्मा को परमात्मा में मिलाना या अपने भीतर के प्रकाश को वाहर फैलाना है, जिससे कम विकसित प्रकाश माध्यमों को और प्रकाशित होने का अवसर मिल सके । प्रकाश को फैलाने में ही सुख है । जिस प्रकार विद्या औरों को देने से वह बढ़ती है, उसी प्रकार हमारी आत्म ज्योति औरों को और प्रकाशित करने में हम ही को अधिक आनन्द व सुख देने में सहायक होती है । भले या बुरे बीज जो भी हम बोते हैं वे कई गुना होकर हम ही को मिलते हैं । यदि भले बोयेंगे तो भला व सुख मिलेगा, बुरा बोयेंगे तो बुराई व दुःख मिलेगा । इसलिये समय रहते जितने अधिक सद् बीज बो सको, बोओ ! इसलिये प्रभु से हमारी प्रार्थना समूह रूप में यह हो:—

तुम मातु पिता तुम वन्धु सखा, तुम ही बल बित्त हमारे प्रभो !
तुम ज्ञान की खान प्रधान महान्, तुम ही रखवारे सहारे प्रभो !!
बल बुद्धि प्रदान करो हमको दुःखी दीनों के दुःख दरिद्र हरें !
सत् कर्म के पालन में रत हों, प्रिय धर्म के हेतु ही जीयें मरें !! तुम०
सब शुद्ध प्रबुद्ध समृद्ध रहें, जन-जीवन में यह भाव भरो !
अघहीन अदीन प्रवीन बनें, सुखी स्वस्थ शतायु चिरायु करो !! तुम०
विपदायें पड़ें बड़े विघ्न पड़ें, मुँह सत्य से नाथ न मोड़ें कभी !
मर जांय अभी या जीयें जुग लौं, पर धर्म स्वकर्म न छोड़ें कभी !! तुम०
सत ज्ञान सुकर्म समान्वित हो, सत साधन संचित ही धन हो !
सुख-शान्ति का स्रोत सभी के लिये, शुचि सत्य अहिंसा का जीवन हो ! तुम
निजता परता भ्रम भाव मिटे सन्मित्र समान चरें विचरें !
सदाचार की सम्पत्ति साथ रहे, तप त्याग करें ध्रुव धर्म धरें !! तुम०

ओ३म् तत् सत्—१

घूँट—२

आज का, थका परेशान मानव

आधि, व्याधि, चिकित्सक और संजीवनी ।

आज मनुष्य ने अपने जीवन दायरे को कितना संकुचित एवं स्वार्थ-पूर्ण बना दिया है और इसी निमित्त वह अंधकार में भटकता भटकता एक मात्र साँसारिक भोग्य पदार्थों में अपने सुख व आनन्द की ढूँढ में लगा हुआ हैं, जो स्वप्नवत् ही है । इसी दृष्टिकोण को अपना कर आये दिन मानव की आधि-व्याधि एवं समस्यायें घटने के बजाय दिन व दिन बढ़ती चली जा रही हैं ।

आज मानव बाहरी तड़क भड़क वेष-भूषा, सजावट से दूसरों पर हावी होकर अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगा हुआ है और आन्तरिक शुद्धि से कोसों दूर चला जा रहा है । जीवन के उदार दृष्टि कोण को न समझ कर ही आज मानव अपनी ही त्रुटियों व कमजोरियों का शिकार होता जा रहा है. इसलिये नाना दुःख भोगता हुआ चारों ओर से परेशान जान पड़ता हैं ।

हमारे तत्ववेत्ता ऋषि-मुनियों ने मानव की इन्हीं त्रुटियों को समझ कर ही यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वार्थपरता और साँसारिक भोग कदापि स्थाई आनन्द नहीं हो सकते । हमारे स्थाई सुख व आनन्द का केन्द्र भौतिक सुख सामग्री न होकर आन्तरिक स्वच्छता व श्रेष्ठता में है । सत्संग, त्याग, बलिदान. संयम और उपवास—ये अमोघ उपाय हैं. जिनसे आन्तरिक शुद्धि में प्रचुर सहायता मिलती है ।

आज हमारे पतन का एकमात्र कारण अपनी परम पवित्र प्राचीन भारतीय संस्कृति की अवहेलना है, जो पुकार पुकार कर मानव को चेतावनी देती हुई कहती है:—

"ऐ मानव ! अपने हृदय में विश्व प्रेम की ज्योति जला दो । दीन दुःखी—सभी को अपनी प्रेम सरिता में स्नान करने दो ! अपनी भुजाओं को इतना फैलादो कि मानव मात्र तुम्हारी प्रेम पास से वंचित न रहने पाये यहाँ तक कि विश्व के कण कण को अपनी प्रेम की सरिता से सींच दो ! और यह कि चारों ओर आवादी-खुशहाली , सरसब्जता व आनन्द की झड़ी लग जाय—

"जब उमड़ा दरिया उलफत का हर चार तरफ आबादी है ।
हरंरात नई नई इक शादी है, हर रोज मुवारक बादी है ।।
+ + + और फिर—
नित राहत है, नित फरहत है, नित रंग नये आबादी है !!

आज विश्व प्रेम की भावना को न समझ कर ही मानव-मानव के संहार में संलग्न है, जो मानव जीवन पर कुठाराघात है । जिस डाली पर बैठा है जब उसी की जड़ काटने पर कटिबद्ध है, तो फिर कल्याण कैसा ?

यह याद रक्खो ! कि विश्वप्रेम वह रहस्य मय दिव्य रसायन है, जो एक हृदय को दूसरे से जोड़ता है; उसमें नई उमंग, नया उत्साह व नई ज्योति जगाता है । जख्मी-दुःखी घायलों के लिये वह जादू भरा मर्हम है, जिसके प्रयोग करते ही सब आधि-व्याधि काफूर होजाते हैं और फिर एक प्रकार से वास्तविक सुख व आनन्द में झूमने लगता है । सच्चा जीना आदर्श और महत् उद्देश्य के लिये ही जीना है । जब तक जीना है विश्व हित के लिये ही जीना है—

"जन्म दुनिया में पाकर गर महज अपने लिये जिया—
तो क्या जिया ? इनसान वह जो दूसरों के लिये जिया''
जीवन सफल सार्थक है, यही इनसानियत भी—
न पहिचानी न जानी, तो क्या रही इनसानियत भी''

अमर संदेश सुधा संजीवनी यही

आज मानव यदि अपना उद्धार चाहता है तो उसे उपरोक्त दृष्टिकोण अपनाना ही होगा और प्राणाचार्य कहाने वाले मानव के लिये तो इसके सिवाय दूसरा चारा ही नहीं है !

मनुष्य को यह समझना चाहिये कि सारे विश्व में हमारा प्राण बिखरा पड़ा है। हम सब एक विराट् मशीन के भिन्न २ कल पुर्जे हैं। शरीरों को न देखो, उनके अन्दर रहने वाली आत्मा को देखो। वह उस महान् विश्वात्मा का एक अंश मात्र है। उससे प्रेम करोगे तो वह विश्वात्मा तुम पर प्रसन्न होकर नाना प्रकार की सुख-सुविधाओं की तुम पर बौछार कर देगी। सभी प्रयास उसके आशीर्वाद प्राप्त करने का होना चाहिये। हमारा सम्पूर्ण समाज एक बड़ा शरीर है और हम सब उसके भिन्न २ अंग हैं। एक अंग के दुःखी होने पर सारा शरीर ही दुःखी हो जाता है। हमारी सारी कोशिश ही यह होनी चाहिये कि किस तरह उस दुःखी अंग को निःस्वार्थ भाव से सुख-सुविधा पहुँचा सकें। नर-नारायण, जनता-जनार्दन, विराट पुरुष आदि शब्दों में एक मात्र यही भाव ओत-प्रोत है। उसी की हमें निःस्वार्थ भाव से सेवासुश्रूषा-पूजा करनी आवश्यक है, तभी हमारा जीवन सार्थक कहलाया जा सकता है। इसी पुण्य विचार धारा को अपना कर हम मानसिक व शारीरिक सुख सुविधा को प्राप्त कर स्वस्थ होकर अपनी लम्बी जीवन मात्रा में आगे बढ़ सकते हैं।

संसार में कर्म करने के लिये उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता है, बिना स्वस्थ चित्त हुये कोई भी कार्य सम्भव नहीं। मानव शरीर में मस्तिष्क ही शरीर का राजा है, इस राजा के स्वस्थ व प्रसन्न रहने से ही सम्पूर्ण शारीरिक राज्य स्वस्थ व सुखी रह सकता है। मानसिक रोगों का नाम ~~व्याधि है~~। १ ३

आधि और शारीरिक रोगों का नाम व्याधि है।

"विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृति रुच्यते।

सुख संज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च ॥ (च० सू० ९/४)

The word disease has been constituted with two terms i. e. 'dis' & 'ease' and Conveys the meaning of discomfortness or unwholesome in the body, The great physician 'charaka' has rightly said that disease is nothing but a disequilibrium of the Dhatus.

"तद् दुःख संयोगा व्याधय उच्यन्ते ।"

(सु० सू० १/२०)

Sushruta has also said that anything which produces pain & discomfort in the body & mind is called disease.

पंच महाभूतों से निर्मित शारीरिक धातुओं में जब किसी कारण (मिथ्या आहार विहार) से संतुलन बिगड़ जाता है, तब धातु वैषम्य होना ही रोग कहलाता है, और जब तक संतुलन (साम्यावस्था) बना रहता है, तब तक आरोग्य कहलाता है।

आधि-व्याधि के आम कारण—

"काल बुद्धीन्द्रियाथानां योगोमिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनाम् त्रिविधोहेतु संग्रहः ॥

(च० सू० १/५३)

The general causes of both the bodily & mental diseases according to 'Charaka' have been stated of 3 kinds i. e. Excessive, wrongful & total or partial lack of conjunction of use of 1. objects of all senses (असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग), 2. Motor or psychic activities (प्रज्ञापराध), 3. Seasonal Variation (परिणाम)

"तत्र खलु एषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधंप्रकोपणं तद्यथा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ।"

(च० वि० ६/६)

"कालः पुनः परिणामुच्यते ।" (च० सू० १२/४२)

Parinama : Improper functioning or manifestations of the climatic changes of the seasons.

Parinama is called 'Kala' or 'time'

यह सब कुछ मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के अन्तर्गत हमें सिखाया जाता है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा हम रोगों से बचने का उपाय

सीखते हैं एवं मस्तिष्क को स्वस्थ और समुन्नत बनाने की रीतियों का अध्ययन करते हैं। अर्थात् मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के द्वारा मानसिक विकारों का निराकरण, निरोध एवं स्वस्थ मस्तिष्क का संरक्षण होता है।

हमारा सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान मुख्य ३ स्तम्भों पर आधारित है :—

I निराकरणात्मक (Curative)
II निरोधात्मक (Preventive)
III संरक्षणात्मक (Preservative)

उत्तम मानसिक स्वास्थ्य एवं सुन्दर व्यक्तित्व के लिये शिक्षा विशारदों ने मानव में ६ गुणों का होना आवश्यक माना है :—

I संतुलन (Balance)
II सम्बद्धता (Consistency)
III संतुष्टि (Contentment)
IV समरसता (Uniformity)
V अभियोजन शीलता (Adaptability)
VI कार्य क्षमता (Efficiency)

इन गुणों से युक्त व्यक्ति अपने को देशकाल एव परिस्थिति के अनुसार ढाल सकता है और समाज में उत्तम जीवन व्यतीत कर सकता है। उसके अन्दर स्वार्थ की संकुचित भावना, अंधविश्वास, आलस्य एवं असहयोग की भावना के बदले में आत्मविश्वास, आशावादिता, सहानुभूति एवं क्रिया शीलता की भावना प्रवल होती है। प्रतिष्ठित व्यक्तियों, वृद्धों एवं गुरुजनों के प्रति उसके हृदय में दृढ़ आदर व विनम्रता की भावना सदैव जागृत रहती है। सुशीलता उसका स्वर्णाभूषण होता है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के द्वारा हम मस्तिष्क को स्वस्थ रखने, उसे संतुलित करने और उसका संरक्षण करने की विधियों का अध्ययन करते हैं, मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का सम्बन्ध हमें पारिवारिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। अतः यह मानना पड़ता है कि मानसिक

स्वास्थ्य विज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत एव व्यापक है, और इसकी जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के प्रकार—

I निरोधात्मक (Preventive)

II निराकरणात्मक (Curative)

प्रथम निरोधात्मक पद्धतियाँ

मानसिक विचारों तथा व्यक्तित्व के असन्तुलन को रोकने के लिये, उनके कारणों के अन्वेषण में जिन पद्धतियों का सहारा लिया जाता है, वे सभी मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान की निरोधात्मक पद्धतियां मानी जाती हैं, उनमें प्रधान में हैं—

१—निरीक्षण (Observation)
२—प्रश्नावलि (Questionaire)
३—मूल्यांकन (Rating)
४—उपलब्धि (Achievement) परीक्षा
५—बुद्धि परीक्षा (Intelligence test)
६—शारीरिक परीक्षा (Physical examination)
७—व्यक्तित्व परीक्षा (Personality test)
८—औपचारिक विवरण (Informal report)
९—व्यक्ति इतिहास (Case history)

द्वितीय—निराकरणात्मक विधियाँ

१—निर्देश (Suggestions)
२—संम्मोहन (Hypnosis)
३—मनो विश्लेषण (Psycho-analysis)
४—पुनर्शिक्षण (Reeducation)
५—निद्रा (Sleep)
६—विश्राम (Relaxation)

७—शल्य चिकित्सा (Surgical therapy)
८—आघात चिकित्सा (Shock-therapy)
९—सामूहिक चिकित्सा (Group therapy)
१०—संगीत चिकित्सा (Music therapy)
११—व्यावहारिक चिकित्सा (Occupational therapy)
१२—ग्रन्थ चिकित्सा (Biblio therapy)
१३—आंगुलिक चित्रण चिकित्सा (Fingir printing therapy)
१४—मनो अभिनय (Psycho-drama)
१५—जल चिकित्सा (Hydro therapy)
१६—ज्वर चिकित्सा (Fever therapy)

प्रधान हैं। जिनका उपयोग मनश्चिकित्सा के लिए किया जाता है। मन की वैकारिक स्थिति को स्वस्थ व निर्विकार अवस्था में लाना ही मनश्चिकित्सा का अभिप्राय है।

हमारी प्राचीन चिकित्सा पद्धति के अनुसार आचार्य चरक ने इसे सत्त्वावजय नाम दिया है—

"प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्ति व्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभिः॥"

(च० सू० १/३५)

अर्थात् पूर्वोक्त (शारीरिक) रोग दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा से शान्त होते हैं, परन्तु मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि से शान्त होते हैं। यहाँ ज्ञान विज्ञान आदि सत्त्वावजय चिकित्सा के ही अंग हैं।

सत्त्व शब्द मन का वाचक है और अवजय का अर्थ विजय प्राप्त करना है अर्थात् मन पर विजय करना या उस पर नियंत्रण रखना। मन की इसी अनियंत्रणता व चंचलता को ध्यान में रखते हुए ही अर्जुन भगवान कृष्ण से पूछते हैं—

"चंचल हि मनः कृष्णः प्रमाथी वलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सु दुष्करम्॥"

हे भगवान् यह मन तो अत्यन्त चंचल है, इस पर विजय या नियंत्रण कैसे पाया जाय ? इसे काबू में कैसे किया जाय ? क्योंकि यह तो वायु के समान वेगवान् और काबू में करना अत्यन्त कठिन है, इस पर निमंत्रण करना तो मैं अपनी शक्ति से बाहर की बात मानता हूँ ।

इस पर भगवान् उत्तर देते हैं:—

'असंशयं महोबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।।"

ऐ विशाल बाहु अर्जुन ! निःसन्देह जैसा तुम कहते हो यह मन वैसा ही कठिन है वश में करना. परन्तु अभ्यास के द्वारा और विषयों के प्रति विसम बुद्धि अपनाने से यह वश में किया जा सकता है, इसके लिये निरन्तर अभ्यास आवश्यक है ।

"यतो यतो निश्चराते मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्येतदात्मन्येव वशनयेत् ।।"

"ऐ अर्जुन ! यह अस्थिर और चंचल मन जैसे २ विषयों की ओर भागने का प्रयत्न करे वैसे २ इसको तुरन्त हटा कर निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपने वश में करो आत्मा के वश में करो ।"

यहाँ पर मन को टिकाने के लिये कोई आधार होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आधार के तो वह क्षण भर भी नहीं टिक सकता ।
इसके लिये—

विषयान् ध्यायतश्चितं विषयेषु विषज्जते ।
मा ममनुस्मरतश्चितं मह्येव प्रविलीयते ।।"

(श्रीमद् भागवत)

जब यह मन विषय का ध्यान करता है तो उसी में रम जाता है, और जब मेरे ध्यान में आता है तो उसी में रमण करने लगता है । अतः मन को अपने वश में करने के लिये सबसे सरल विधि यही है कि जैसे २ वह विषय की ओर भागे वैसे ही तुरन्त भगवान का नाम जपना आरम्भ कर दो आप देखेगे कि वह उसी में रमने लगता है और तब आत्म बल भी

बढ़ता है और चित्त की वृत्ति सदभाव की ओर बढ़ने लगती है। सत्कर्म की ओर मन की प्रवृत्ति हो कर सन्मार्ग का द्वार खुल जाता है।

अतः सत्त्वावजय चिकित्सा का अर्थ—उपचार की वे विधियां हैं जिनके द्वारा मन पर नियमन या नियंत्रण प्राप्त किया जाय। आधुनिक मानसवेत्ता इसी को मानसोपचार (Psycho therapy) कहते हैं। आचार्य चरक के अनुसार सत्वावजय का प्रमुख उद्देश्य–मन को अहित अर्थों की ओर जाने से रोकना है —

"पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्योमनो निग्रहः।"

मानसिक रोगों का प्रमुख कारण–प्रज्ञापराध अर्थात् धी, स्मृति और धृति का भ्रंश होना है। और इस प्रकार मानसिक प्रक्रियाओं में ह्रास अथवा विकृति आ जाने के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान जाता रहता है, तब वह निरन्तर अनेक प्रज्ञापराधों में रत रहने लगता हैं। एवं स्वास्थ्य व नैतिकता के नियमों का उल्लंघन करने लगता है। और इस प्रकार स्वास्थ्य एवं सद्वृत्त के नियमों की अवहेलना से शरीरस्थ दोषों का सात्म्य (सन्तुलन) बिगड़ जाता है और तब मानव अनेक आदि व्याधि का शिकार बन जाता हैं।

अतः मानसिक रोगों के उपचार में सबसे प्रथम कर्त्तव्य मानसिक प्रक्रियाओं को व्यवस्थित करना उन्हें सही दिशा में लगाना है। इस प्रकार उसका मन अहित पदार्थों की ओर जाने से रोका जाकर ही मन स्वस्थ हो सकता है, मानसिक उपचार में प्रधानतः धी, धैर्य, स्मृति और चित्त की एकाग्रता को विकसित करने का प्रयास आवश्यक है. मानसिक प्रक्रियाओं में व्यवस्था आने से प्राणी में अन्तः दृष्टि का विकास होता है और तब यह हिताहित परखने में निरन्तर सावधान रहता है।

इस प्रकार मानसोपचार के सभी रूप रोगी को एक ऐसी अनुभूति प्रदान करने का प्रयास करते हैं जो उसे अपने भय आशंकाओं पर विजय पाने, अपनी नैतिकताओं को ऊपर उठाने तथा अपनी समस्याओं के समाधान के लिये अधिक सफल उपायों की खोज निकालने में सहायक होगी।

सत्वावजय चिकित्सा का अधिकारी—

जो मानसोपचार शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो। जो धर्म, अर्थ आदि विषयों पर पूर्ण अधिकार के साथ बोलने का अधिकार रखता हो। रोगी जिसको अपना एक विश्वसनीय मित्र समझ कर अपनी गुप्त से गुप्त बात को भी प्रकट कर सके। अन्ततोगत्वा जिसकी सम्पूर्ण आन्तरिक सद्भावना नि.स्वार्थ भाव से रोगी को सब प्रकार स्वस्थ करने में जुट सके, वही एक मात्र मानसोपचार का अधिकारी होने के योग्य होता है।

सत्त्वावजय चिकित्सा के अङ्ग

१ - ताड़न (रोगी को कष्ट पहुँचाकर उसकी स्मृति को ठीक रास्ते पर लाना)

२—विस्मापन (आश्चर्यजनक कथा, वार्ता, घटना सुनाकर रोगी की स्मृति को ठीक करना)

३—त्रासन (डरा धमका कर भ्रष्ट स्मृति को ठीक रास्ते पर लाना)

४—आश्वासन (इष्टाश्वासन)

५—संवेगों का शासन—यदि काम, क्रोध, भय, शोक, हर्ष ईर्ष्या और लोभ के अत्यन्त वशीभूत होकर उन्माद हुआ हो तो परस्पर विरोधी संवेगों को उत्पन्न करना। जैसे बैर को मित्रता से, असाधुता को साधुता से, शोक को हर्ष से, घृणा को प्रेम से, कृपणता को दान से, असत्य को सत्य से, भय को निर्भयता से आदि।

६—चित्र प्रसादन या प्रहर्षण —रोगी को सब प्रकार प्रसन्न चित्त रखने का प्रयास।

७—स्वधर्म विमुख मार्ग से रोगी को सदुपदेशों से मोड़ कर स्वधर्म में नियुक्त करना।

मानव के लिये में धर्म ही एक अमूल्य रसायन है—

चिकित्सक का प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वह रोगी को हर प्रकार के कुपथ्य गमन से बचावे। उसे अहित मार्ग से हटाकर हित व कल्याणकारी मार्ग पर चलने के हित में भरसक प्रेरणा दे। रोगी के सम्पर्क में आने वाले सम्पूर्ण समाज को उचित कर्त्तव्य कर्म पालन हेतु ही चिकित्सक

का सब प्रयत्न होना चाहिये। जिससे सारा दूषित वातावरण शुद्ध होकर समाज आधि व्याधि से बचा रहे। क्योंकि उचित कर्त्तव्य करने से ही मानव जीवन मर्यादित और सुसंस्कृत होकर विकसित हो सकता है। मान-मर्यादा के अन्दर रहकर जीवन भली प्रकार फूलता फलता है। धर्म का प्रयोजन केवल पूजा पाठ या महंतगिरी का डंका बजाने से नहीं है।

जीवन के स्वाभाविक विकास के लिये जिन जिन सद्‌गुणों व सद्-वृत्तियों की आवश्यकता होती है, उन सबकी कुंजी धर्म में निहित है। यहां तक कि सारी सृष्टि व्यवस्था भी धर्मद्वारा ही सुव्यवस्थित चल रही है। सृष्टि की कोई भी वस्तु अमर्यादित और विकार ग्रस्त होकर अधिक समय तक नहीं टिक सकती। इसलिये मानव जीवन को मर्यादित व सुरक्षित रखने के लिये धर्म की सीमा रक्खी गई है।

"आचारः प्रथमोधर्मः।" (मनु०)

यों समझिये कि जीवन धर्म की बुनियाद धर्म ही है। इस आधार-शिला को अलग करते ही जीवन रूपी आगार धराशायी हो जाता है या वह लड़खड़ाने लगता है। इसलिये मनु महाराज ने आचार को सबसे पहिला धर्म माना है। जीवन के अन्य कर्म तब हैं। सृष्टि भी उसी जीवन की पुष्टि करने में सहायता का हाथ बढ़ाती है जो अपने पालन पोषण में अहनिशि सावधान है। (संयम-नियम पूर्वक जो जीवन चर्या चल रही है)। जरा सी असावधानी से सारी गड़बड़ी आरम्भ हो जाती है ओर जीवन विकार ग्रस्त होकर लड़खड़ाने लगता है। योग क्या है ?

प्रकृति के साथ संयोग ही योग है। सारी सृष्टि क्रम ही प्रकृति योग से ठीक ठीक चल रहा है।

मनुष्य अपने चित्त की कुप्रवृत्तियों को संयम नियम के द्वारा रोकने के अभ्यास से ही प्रकृति से भली प्रकार योग स्थापित कर सकता है। और ऐसा ही शरीर योगमय होता है—

" न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः—
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।"

(श्वेत०)

उपनिषदकार कहता है कि योगाग्नि-यय शरीर वाले को रोग जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता।

"मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति" (कौटिल्य) अर्थात् धर्मनिष्ठ व्यक्ति की मृत्यु भी रक्षा करती है। और वह धर्म सदाचार ही है।

"आचारश्च सतां धर्मः।"

(महाभारत)

और वह धर्म सदाचार ही है या सज्जनों का श्रेष्ठाचरण ही सदाचार है और वही दूसरों के अनुकरण के लिये धर्म कहलाता है।

प्रकृतिस्थ होकर ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। यह बात याद रखिये कि आज मानव प्रकृति से असहयोग करके ही नाना प्रकार से पीड़ित हो रहा है।

हमने आयुर्वेद रोगोत्पत्ति प्रकरण में पढ़ा है कि जब तक मनुष्य प्रकृति में खुले रूप से घुल मिलकर, चलता फिरता जीवन बिताता था तब तक उसे किसी चिकित्सक की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि वह स्वस्थ था परन्तु ज्यों ही उसने अपने को अलग निवास ग्रहों में रखना आरम्भ किया त्यों ही अस्वस्थ रहने लगा। जल जब तक बहता रहता है तब तक वह स्वच्छ है, ज्यों ही रुकावट आई कि गंदला हो जाता है। ठीक यही दशा मानव जीवन के साथ भी घटती है। मनुष्य, जीव, पशु-पक्षी जो भी प्रकृति के साथ अधिकाधिक घुल मिलकर जीवन बितायेगा वह उतना ही अधिक हृष्ट-पुष्ट होगा। अतः मानव प्रकृति के जितना निकट रहेगा उतना ही अधिक सुखी व स्वस्थ रहेगा। यह मेरा अपना सत्य विचार है। इसको परखने के लिये जंगली पशुओं को देखें और घर के पालतू पशुओं को। अजायब घर के पशुपक्षी जो पकड़ कर वहाँ रक्खे गये हैं।

हमारे ऋषि मुनियों ने जो सात्त्विक आहार विहार, आचार-विचार सेवन के लिये बार-बार जोर दिया है उसके पीछे गूढ़ रहस्य यही है कि उनके सेवन से हमारा जीवन अधिकाधिक प्रकृति के सम्पर्क में रहे, जिससे उसको अधिक प्राकृतिक पोषण तत्व उपलब्ध हो सकें और तभी जीवन

का चहुँमुख विकास सम्भव है। प्रकृति के अधिक सम्पर्क से जीवनीय शक्ति बढ़ती है, विकसित होती है, अंग प्रत्यंग पुष्ट व वलिष्ठ होते हैं और शरीर पर रोगाक्रमण होना कठिन हो जाता है, जीवन अधिकाधिक सुख स्वास्थ्य उत्साह व आनन्द की अनुभूति करता है।

मानव समाज के अन्दर चिकित्सक वर्ग ही एक ऐसा है, जो स्वकर्म-वश होकर अपने साथ साथ अन्यों का भी उद्धार कर सकता है और इहलोक व परलोक को तीर्थ बना सकता है। ऐसे चिकित्सक को संत, महात्मा, योगी, महापुरुष आदि पदवी से भी बिभूषित किया जाय तो थोड़ा ही है।

परन्तु अफसोस आज हम अपने परम पावन स्वधर्म (जनता जनार्दन की निःस्वार्थ सेवा भावना) को छोड़कर केवल येनकेनप्रकारेण धन अर्जित कर स्व उदर पूर्ति करने तक ही अपना जीवन उद्देश्य समझ बैठे हैं। यह चिकित्सक वर्ग के लिये बड़ी लज्जा की बात है और राष्ट्र के हित साधन में वड़ा ही अनहित है जब तक चिकित्सक में निःस्वार्थ सेवा भावना जाग्रत नहीं हो तो तब तक वह सफल चिकित्सक नहीं बन सकता, यश मिलना तो दूर रहा। स्वधर्म पालन ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है

आपने अनुभव किया होगा कि जब कोई आपके प्रति दुःख में दो शब्द सहानुभूति के बोलता है तो आप कितनी सान्त्वना व सुख अनुभव करते हैं। क्यों न हो सद्भाव धर्म से हृदय प्रसन्न व सुख अनुभव करता है इसके विपरीत जब मनुष्य असद्भाव-अधर्म या अकर्त्तव्यकर्म हिंसा, अत्याचार आदि दुष्कर्म करता है, तो उसका हृदय भय, चिन्ता, विषाद, व्याकुलता, ग्लानि आदि से भर कर (भारी होकर) भीतर ही भीतर जल भुनकर राख होने लगता है। इस प्रकार की दुर्भावनाओं का प्रभाव हृदय, स्नायुमण्डल और रक्त परिभ्रमण (Blood Circulation) पर निश्चित रूप से पड़ता है। बुद्धि विकृत हो जाती है। शरीर का जीवनीय रस सूख कर प्राण शक्ति घट जाती है। यहां तक कि शरीर की स्वाभाविक क्रियायें गड़-बड़ा जाती हैं। मनुष्य के लिये ये दुर्भावनायें रोगों से भी अधिक घातक सिद्ध होती हैं। साथ ही अल्पायुकारक भी।

उपनिषदकार कहता है कि योगाग्नि-यय शरीर वाले को रोग जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता।

"मृत्युश्पि धर्मिष्ठं रक्षति" (कौटिल्य) अर्थात् धर्मनिष्ठ व्यक्ति की मृत्यु भी रक्षा करती है। और वह धर्म सदाचार ही है।

"आचारश्च सतां धर्मः।"

(महाभारत)

और वह धर्म सदाचार ही है या सज्जनों का श्रेष्ठाचरण ही सदाचार है और वही दूसरों के अनुकरण के लिये धर्म कहलाता है।

प्रकृतिस्थ होकर ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। यह बात याद रखिये कि आज मानव प्रकृति से असहयोग करके ही नाना प्रकार से पीड़ित हो रहा है।

हमने आयुर्वेद रोगोत्पत्ति प्रकरण में पढ़ा है कि जब तक मनुष्य प्रकृति में खुले रूप से घुल मिलकर, चलता फिरता जीवन बिताता था तब तक उसे किसी चिकित्सक की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि वह स्वस्थ था परन्तु ज्यों ही उसने अपने को अलग निवास ग्रहों में रखना आरम्भ किया त्यों ही अस्वस्थ रहने लगा। जल जब तक बहता रहता है तब तक वह स्वच्छ है, ज्यों ही रुकावट आई कि गंदला हो जाता है। ठीक यही दशा मानव जीवन के साथ भी घटती है। मनुष्य, जीव, पशु-पक्षी जो भी प्रकृति के साथ अधिकाधिक घुल मिलकर जीवन बितायेगा वह उतना ही अधिक हृष्ट-पुष्ट होगा। अतः मानव प्रकृति के जितना निकट रहेगा उतना ही अधिक सुखी व स्वस्थ रहेगा। यह मेरा अपना सत्य विचार है। इसकी परखने के लिये जंगली पशुओं को देखें और घर के पालतू पशुओं को। अजायब घर के पशुपक्षी जो पकड़ कर वहाँ रक्खे गये हैं।

हमारे ऋषि मुनियों ने जो सात्विक आहार विहार, आचार-विचार सेवन के लिये बार-बार जोर दिया है उसके पीछे गूढ़ रहस्य यही है कि उनके सेवन से हमारा जीवन अधिकाधिक प्रकृति के सम्पर्क में रहे, जिससे उसको अधिक प्राकृतिक पोषण तत्व उत्पन्न हो सकें और तभी जीवन

का चहुँमुख विकास सम्भव है। प्रकृति के अधिक सम्पर्क से जीवनीय शक्ति बढ़ती है, विकसित होती है, अंग प्रत्यंग पुष्ट व वलिष्ठ होते हैं और शरीर पर रोगाक्रमण होना कठिन हो जाता है, जीवन अधिकाधिक सुख स्वास्थ्य उत्साह व आनन्द की अनुभूति करता है।

मानव समाज के अन्दर चिकित्सक वर्ग ही एक ऐसा है, जो स्वकर्म-वश होकर अपने साथ साथ अन्यों का भी उद्धार कर सकता है और इहलोक व परलोक को तीर्थ बना सकता है। ऐसे चिकित्सक को संत, महात्मा, योगी, महापुरुष आदि पदवी से भी विभूषित किया जाय तो थोड़ा ही है।

परन्तु अफसोस आज हम अपने परम पावन स्वधर्म (जनता जनार्दन की निःस्वार्थ सेवा भावना) को छोड़कर केवल येनकेनप्रकारेण धन अर्जित कर स्व उदर पूर्ति करने तक ही अपना जीवन उद्देश्य समझ बैठे हैं। यह चिकित्सक वर्ग के लिये बड़ी लज्जा की वात है और राष्ट्र के हित साधन में वड़ा ही अनहित है जब तक चिकित्सक में निःस्वार्थ सेवा भावना जाग्रत नहीं हो तो तव तक वह सफल चिकित्सक नहीं बन सकता, यश मिलना तो दूर रहा। स्वधर्म पालन ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है

आपने अनुभव किया होगा कि जब कोई आपके प्रति दुःख में दो शब्द सहानुभूति के बोलता है तो आप कितनी सान्त्वना व सुख अनुभव करते हैं। क्यों न हो सद्भाव धर्म से हृदय प्रसन्न व सुख अनुभव करता है इसके विपरीत जब मनुष्य असद्भाव-अधर्म या अकर्त्तव्यकर्म हिंसा, अत्याचार आदि दुष्कर्म करता है, तो उसका हृदय भय, चिन्ता, विषाद, व्याकुलता. ग्लानि आदि से भर कर (भारी होकर) भीतर ही भीतर जल भुनकर राख होने लगता है। इस प्रकार की दुर्भावनाओं का प्रभाव हृदय, स्नायुमण्डल और रक्त परिभ्रमण (Blood Circulation) पर निश्चित रूप से पड़ता है। बुद्धि विकृत हो जाती है। शरीर का जीवनीय रस सूख कर प्राण शक्ति घट जाती है। यहां तक कि शरीर की स्वाभाविक क्रियायें गड़-बड़ा जाती हैं। मनुष्य के लिये ये दुर्भावनायें रोगों से भी अधिक घातक सिद्ध होती हैं। साथ ही अल्पायुकारक भी।

काम, क्रोध आदि उद्वेगों से मानसिक अंतर्द्वंद्व उपस्थित होकर नाना प्रकार के मानसिक रोगों का प्रादुर्भाव होता है और जीवन का सारा कारोबार ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। प्रत्युत धर्मानुकूल जीवन चर्या अपनाने से मनुष्य आधि-व्याधि से मुक्त होकर सुखी, स्वस्थ और दीर्घजीवन प्राप्त करता है। इसलिये जो कर्त्तव्य कर्म करके कृतार्थ होगया उसे रोग, शोक, भय, मृत्यु का कोई भय नहीं होता। क्योंकि कर्त्तव्य कर्म करने से चित्तकी शुद्धि होती है और चित्त शुद्ध होने से शरीर व मन में स्वतः सुख व आनन्द का संचार होने लगता है।

"आनन्दं बर्धते देहे, शुद्धे चेतसि राघव।

(योग वसिष्ठ)

और यही आनन्द व प्रसन्नता मानव की परम जीवन शक्ति या संजीवन है जिसको कर्मठ चिकित्सक ने रोगी को पिला कर, उसे स्वस्थ बनाना है, उसे नया जीवन प्रदान करना है। केवल औषधि गले में उड़ेल देने से आज का रोगी मानव ठीक नहीं हो सकता। आज के रोगी मनुष्य के लिये तो औषधि के बजाय संजीवनी की आवश्यकता है जो उसको आज के विविध हृदयावसाद (Heart failure) और मानसिक विकारों से मुक्त कर सके, एक ही घूंट पीकर नव जीवन की अनुभूति ला सके और भ्रष्टचित्त मानव को स्वधर्म में प्रवृत्त कर सके और ऐसा एक मात्र इस संजीवनी का घूंट पीने से ही सम्भव है।

महाकवि शेक्सपियर ने कहा है—

"A light heart lives long. कि हलका हृदय दीर्घायु होता है।"

इसके विपरीत आज के संसार में हृदयवसाद (Heart failure) से जो मृत्यु संख्या दिनों दिन वढ़ रही है, उससे कौन परिचित नहीं ? यह सब कुछ आज मानव की प्रवृत्ति अधर्म और स्वेच्छाचारिता के कारण से ही है।

स्वधर्म हानि के कारण ही आज संसार का मानव नाना विध आधि-व्याधि से पीड़ित होकर बेचैनी और विनास की ओर बढ़ता चला जा रहा

है। धर्म से हृदय बलिष्ठ होता है और मनोबल बढ़ता है। मनुष्य में मनोबल ही श्रेष्ठ बल है। यह एक मात्र जीवन में संयम नियम के उचित पालन से ही सम्भव है। मन ही मनुष्य का सब कुछ है। "मन के हारे हार हैं, मन के जीते जीत" मनोबल बढने से ही जीवन में दृढ़ता आती है और तभी चारों पदार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

"मनः सर्वमिदं राम तस्मिनन्तश्चिकित्सिते।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जाल मयो भवेत् ॥"

(वसिष्ठ)

महर्षि वसिष्ठ श्री राम से कहते हैं:—यह मन ही सर्वस्व है, मन के अपने भीतर चिकित्सा करने से सारा संसार ही ठीक हो जाता है।" यहां भी चित्त शुद्धि से तात्पर्य है। इसी लिये मानसी चिकित्सा धार्मिक सिद्धान्तों के अनुशीलन पर आधारित है और वह एक मात्र चित्त की शुद्धि से सम्भव है।

वास्तव में आज के मानव को सब प्रकार स्वस्थ बनाने के लिये चित्त शुद्धि कारक सजीवनी की आवश्यकता है; क्योंकि नानाविध विषैली औषधि और वातावरण से वह परेशान, दुखी व बेचैन हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया है।

इसके लिये निःस्वार्थ, उदार हृदय प्राणाचार्य की आवश्यकता है। क्योंकि चिकित्सक भी वही सफल होता है जो रोगी की हार्दिक इच्छा को पूर्ण करने के साथ साथ रोगी का प्रेम भाजन बन जाय, जिसको रुग्ण अपना वास्तविक उद्धारक मानने लग जाय। इसलिये आज के रुग्ण का उपचार करते हुये, चिकित्सक को चाहिये कि सभी वातावरण व व्यवस्था उपयुक्त ढंग पर चलती रहे, जिससे रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर सके। इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाय कि रोगी का विश्वास प्राप्त कर नानाविध युक्तियों के द्वारा रोगी की प्रसन्नता बढ़ाने का मुख्य प्रयास हो।

रोगी के उपचार में अधिक औषधि व इंजक्शनों का प्रयोग छोड़ अति अल्प मात्रा में औषधि प्रयोग किया जाय, युक्तियों द्वारा अधिक प्रसन्नता

लाने का प्रयत्न किया जाय, प्राकृतिक आहार बिहार का उपयोग अधिक किया जाय आवश्यक उपवास व शोधन क्रम पर विशेष ध्यान दिया जाय।

इस प्रकार उपयुक्त चिकित्सा व्यवस्था से रोगी में उत्साह, सन्तोष, प्रसन्नता और तेज बढ़ते हैं. चिकित्सक के प्रति मैत्री भाव दृढ़ होता है और पथ्य आदि भोजन के प्रति उसकी रुचि बढ़ने लगती है. फिर स्वयमेव उसका बल बढ़ने लगता है और तब वह धीरे धीरे शारीरिक व मानसिक सुख व सन्तोष का अनुभव करता है, और इस प्रकार उसका रोग दिन व दिन घटने लगता है। उपचार करते हुये रोगी की भावनाओं को समझ कर ऐसी युक्तियों से काम लिया जाय कि रोगी किसी प्रकार भी हतोत्साहित न हो, न किसी प्रकार उसके मन पर ठेस ही पहुँचे क्योंकि इससे सारी बनी बनाई इमारत उजड़ जायगी और चिकित्सक को निराश हो घर का रास्ता नापना होगा।

रोग चाहे मानसिक हो या शारीरिक, उसमें रोगी अपने प्रति घृणा या आत्म-हीनता की भावना अपना लेता है, और इस प्रकार वह अपना शत्रु आप ही बन जाता है और सम्पूर्ण संसार को भी शत्रु समझने लगता है। यह बात याद रखने की है कि जिस शारीरिक रोग में मानसिक कारण की जितनी प्रबलता होती है, उसमें रोगी के मन में अपने आप के प्रति घृणा या आत्महीनता की प्रवृत्ति भी उतनी ही प्रबल होती है। इसलिये चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह रोगी में आत्ममैत्री भावना को जितना बढ़ा सके उतना ही रोगी के उपचार में वह अधिक सफल हो सकेगा।

यह बात न भूलिये कि रोगी में रोग लक्षण ज्यों ज्यों घटने आरम्भ होते हैं, चिकित्सक का आन्तरिक आनन्द भी बढ़ने लगता है, यही उसकी चिकित्सा-सफलता का पूर्ण रूप है। चिकित्सक की हार्दिक सद्भावना अपने रोगी के प्रति जितनी दृढ़ व प्रबल होगी उतना ही चिकित्सक अपने रोगी के रोग दूर करने में अधिक सफल हो सकेगा।

मैं जो इस बात पर विश्वास करता हूँ कि पृथ्वी पर यदि वास्तविक प्रभु भक्त हैं तो वह एक वास्तविक चिकित्सक (प्राणाचार्य) के सिवाय और नहीं हो सकता, क्योंकि वही मानव मात्र के प्रति अति प्रेम से सेवा सुश्रूषा

करके जनता जनार्दन की अधिक पूजा करता है। इसलिये असली प्रभु भक्ति का अधिकारी भी वही है।

एक अंग्रेज कवि ने कहा है :—

"He Prayeth best, who Loveth best" S. T. Coleride

कि जो अति अधिक प्रेम करता है, वही वास्तविक्र प्रभु प्रार्थना करता है।

आज के चिकित्सक को वास्तविक चिकित्सक (प्राणाचार्य) वनने के लिये वाह्य दृष्टि कोण (जो स्वार्थरत हो भौतिक धन साधन जुटाने में अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो रोग वृद्धि करने का साधन मात्र वन गया है) छोड़कर अन्तर्दृष्टि (आत्मवत् सर्व भूतेषु—निःस्वार्थ सेवा से जनता जनार्दन की सेवा) मार्ग को अपनाना होगा तभी जगत् कल्याण सम्भव है।

सुखी स्वस्थ और स्वच्छ जीवन के लिये मनुष्य को स्वच्छ सदाचरण अपनाना होगा। दंड व मृत्यु भय से बचना है तो प्राणी की हिंसा न करो, न सोचो। काम व विचार वही अपनाओ जैसा तुम दूसरों से अपने लिये चाहते हो। जीवन किसको प्यारा नहीं ? जिस समय वेरहमी से तुम किसी प्राणी की अपनी तृप्ति के लिये छुरी चलाकर हत्या करते हो, उस समय यदि सोच लेते कि इसका दंड मुझे अवश्य भोगना होगा तो हिंसा के लिये तुम ऐसी वेरहमी कभी न अपनाते।

एक मनुष्य चाहता हैं कि उसे सुख व आनन्द प्राप्त हो, दुःख न भोगना पड़े परन्तु साथ ही दूसरों का अनहित सोचता है, अपने स्वार्थ के लिये हिंसा करता है, पर अनहित में लगा है। तो ऐसे मनुष्य को दंड के रूप में नाना दुःख, संकट, भय व आशंकाओं का निरन्तर जीवन में सामना करना होगा साथ ही उसके कुकर्मों से उसकी आयु की अवधि भी घट जाती है।

दूसरा वह मनुष्य है जो सुख व आनन्द की कामना करता है। वह दूसरों के साथ भी अपने जैसा व्यवहार करता है। उसका कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिससे दूसरों की हानि हो—प्रत्युत लाभ ही हो। वह दूसरों के अनहित की कभी सोचता तक नहीं। सदाचरण ही उसका जीवन धर्म बन गया है।

निरन्तर सत्कर्म करते उसकी जीवनी बीत रही है। बस ऐसे ही व्यक्ति को सुख व आनन्द मिलता है। उसके लिये यही स्वर्ग है और कलिकाल होते हुये भी सत्ययुग है। वह अवश्य ही दीर्घायु के बाद उत्तम लोक को प्राप्त होगा।

बाहर बभूति रमाने, तिलक धारण करने, हठ योग करने, अगोया वस्त्र धारण करने से क्या होगा ? यदि हृदय दूषित है, मन में मलिनता है, मस्तिष्क बुरे विचारों से भरा है। शुद्ध अन्तःकरण के लिये उपरोक्त बाहरी ठाटबाट-वेष भूषा की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म में लीन रहने की आवश्यकता है, उसे पहिचानने की जरूरत है, उसको जानने के लिये—

"बाहर भरमाये भटकत का—
अन्तर पट को खोल !
देख विराजत घट घट व्यापक—
जोत जली अनमोल ।
द्वेष करै का ? तू उसमें—
अपने को देख हृदय पट खोल ।। मुसा०।।

ऐसी ब्रह्म ज्योति को जानने की आवश्यकता है। इसके लिये जात पात की जरूरत नहीं एक मात्र ब्राह्मण बनने की जरूरत है।

ब्राह्मण वह है जो घट घट व्यापक उस ब्रह्म ज्योति को जानता हो। प्राणी मात्र में जो अपनी आत्मा को देख रहा है। जिसके लिये विषयासक्ति, काम, क्रोध द्वेष, ईर्ष्या लोभ और मद नाचीज हो गये हों। जो जीव मात्र के हित साधन में जुटा हुआ है। सब जीवों ने बैर व द्वेष छोड़ जिसको अपना मित्र समझ लिया है। जिसने अपने पर काबू पालिया है या इन्द्रियों जिसकी इच्छानुसार विषयों में बरत रही हैं। जिसने संयम-नियम शासनाभ्यास तप से अपने को पवित्र कर लिया है। जो संसार में रहते हुये सब कुछ करते हुये भी कमलपत्र वत विलग है।

जिसके लिये सभी धर्म, सभी जीव समान है—बस ऐसा ही व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने योग्य है।

जब मनुष्य यह जान जाता है कि एक ही आत्मा घट घट में विराजमान है—

"एकोदेवः सर्व भूतेषु गूढ़ :—
सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा ।"

तब वह अनुभव करने लगता है कि मानव मात्र की सेवा अपनी ही सेवा है। उसका सुख व आनन्द मेरे सुख सन्तोष का जरिया है। फिर इस प्रकार स्वार्थ त्याग से प्रेम, प्रेम से सेवा, सेवा से आत्मीयता और आत्मीयता से आनन्द का अनुभव। आनन्द से ज्ञान और ज्ञान से परम ज्ञान—कल्याण—ईश्वर का साक्षात्कार। बस तभी मानव समस्त विश्व में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सम्पूर्ण विश्व को देखने में समर्थ हो सकेगा और तभी वास्तविक स्वराज्य का अनुभव सम्भव है।

"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधि गच्छति" ॥
(मनु०)

बस यही है वह संजीवनी—परमौषध—महान् कल्याणकारी जीवन रसायन जिसको अपना कर आज का दुःखी सशंकित भयभीत मानव पीकर अपने कल्याण के साथ साथ विश्व का कल्याण कर सकता है।

"हो जीवन ध्येय सदा प्रभु गुण गान।
'सियराम' जग कल्याण रत, तज अभिमान॥"

ॐ तत् सत्

घूँट—३

जीवन में अचेतन व चेतन मन का महत्त्व

जीवन में जन्मजात भावनाओं (मूल-प्रवृत्तियों) के अवरोध (दमन) और इच्छाओं के प्रतिरुद्ध होने के कारण मन के अज्ञात भाग का निर्माण होता है।

चेतन मन से संचालित क्रियाओं का हमें ज्ञान होता है; पर अचेतन मन का नहीं। अचेतन मन की क्रियाऐं सुप्तावस्था में स्वप्न के रूप में दिखाई देती हैं जो किसी अज्ञात शक्ति से संचालित होती हैं। यही अचेतन मन की शक्ति है। फलतः यही आन्तरिक शक्ति ही अचेतन मन है।

जीवन में कभी कभी हम ऐसा स्वप्न देखते हैं जिसका कारण समझना हमें असम्भव जान पड़ता है। जीवन में जागृतावस्था में जिन कार्यों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते वे स्वप्न में होती दिखाई देती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई आन्तरिक शक्ति ऐसी अवश्य है, जिस पर हमारा नियंत्रण नहीं है, और वह एक मात्र अचेतन मन की ही शक्ति है।

मनो विश्लेषण वाद का विषय ही अचेतन मन या उसके कारनामे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन के मुख्यतः दो भाग हैं :— (क) चेतन (Conscious) और (ख) अचेतन (Unconscious) बाहरी मन (स्थूल) ही चेतन मन है और आन्तरिक मन (सूक्ष्म) ही अचेतन हैं।

अचेतन मन के फिर २ भाग हैं :—

(१) प्रसुप्त, (२) प्रतिहारी। और यह प्रसुप्त अचेतन मन ही शक्ति का केन्द्र है। हमारी सम्पूर्ण वासनाओं का उद्गम यहीं से होता है। परन्तु यदि वासना पर नियंत्रण रहा तो कार्य अच्छा होता है, अन्यथा बुरा।

इसके अवदमन से व्यक्ति का ह्रास (पतन) होता है और शोधन से विकास व उन्नति इसके ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने तुलसी व सूरदास हैं। उनके अन्दर जब काम वासना प्रबल हो चली और बाढ़ का तूफान मचाने लगी तब उन्होंने उस काम वासना का रुख तत्काल बदलकर साहित्य निर्माण में लगाया और उनकी वह साहित्य कला इतनी अनुपम हैं कि किसी कवि ने कहा है—

"सूर सूर तुलसी शशी—
उड़गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम—
जहँ तहँ करत प्रकास॥"

यह सब कुछ उन्होंने अपनी वासना के शोधन से ही किया। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर जो वासना है, उसको यदि अच्छे ध्येय की ओर मोड़ दिया जाय तो वह असम्भव को भी सम्भव बना दिखा सकती है।

आज कितनी भयंकर विनाशकारी स्थिति है कि शक्ति की अमोघ स्रोत उस काम वासना को हमारे नव युवक व युवतियाँ नाना प्रकार के व्यसनों में फंस कर व्यर्थ ही खोरहे हैं। यदि उसका उपयोग साहित्य कला या नवीन आविष्कारों पर किया जाता तो आज भारत पुनः अपने अतीत के गौरवान्वित पद को प्राप्त करता ?

व्यक्ति की नैतिकता की रक्षा प्रतिहारी (प्रहरी अचेतन) मन द्वारा होती है। आदर्श जीवन इसी प्रतिहारी मन के नियंत्रण (संयम-नियम पालन) से बनता है।

अब हम देखें कि यह अचेतन मन कैसे बनता है ? और इसकी सामग्री कहाँ से आती है ?

चेतन मन से ही अचेतन मन की सामग्री आती है। वातावरण के इस संघर्ष मय संसार में जो कुछ विचार हमारे मन में उठते हैं उनकी प्रतिक्रिया अचेतन मन में बनती है और वहाँ जमा होती रहती है। यदि रुई के गद्दे के समान इनकी तहें (परत पर परत) सुव्यवस्थित हुई तो व्यक्ति

की मानसिक स्थिति सुसंगठित होती है और कार्य भी ठीक तरह चलते रहते हैं और यदि अचेतन मन में प्रवेश करने वाले विचार वहाँ रहने वाले दूसरे विचारों से मेल नहीं खाते तो वहाँ एक संघर्ष उठ खड़ा होता है। और मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। इसी मानसिक असंतुलित अवस्था को ही अंतर्द्वंद्व (Mental Conflict) कहते हैं।

कभी-कभी किसी नवीन विचार, बात या घटना के घटित होते ही मन एक दम विक्षुब्ध सा हो उठता है। यह विक्षुब्धता अचेतन और चेतन मन के परस्पर संघर्ष से होती है।

इस समय चेतन मन में आया हुआ विचार व्यक्ति के नैतिक आदर्श के प्रतिहारी (चौकीदार या प्रहरी) की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। या उसकी इस संघर्ष में कुछ भी नहीं चलती अत परस्पर झगड़ा उठ खड़ा होता है। और ऐसी स्थिति में यदि कभी चेतन व अचेतन में परस्पर कोई समझौता हो गया जो विक्षुब्धता मिट जाती है और व्यक्ति का दैनिक काम-काज ठीक ढंग से पुनः चालू हो जाता है।

इस प्रकार चेतन और अचेतन का परस्पर संघर्ष ही अंतर्द्वंद्व कहलाता है। और स्वभावतः यह अंतर्द्वंद्व प्रत्येक व्यक्ति में होता है, क्योंकि निर्दोष तो कोई भी नहीं होता। दोषों की अधिकता से अधिक और अल्पता से अल्परूप में यह अंतर्द्वंद्व व्यक्तियों में देखा जाता है। अन्तर केवल मात्रा का होता है, प्रकार का नहीं। जैसे दोष जो प्रत्येक शरीर में होते हैं परन्तु वे ही घट बढ़ कर शरीर में रोग रूप धारण करते हैं तभी चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है जो पुनः दोष साम्य करके शरीर को स्वस्थ बना सके। इसी प्रकार मनोविश्लेषक उसी का विश्लेषण करता है, जिसमें यह अंतर्द्वंद्व उसकी दैनिक जीवन चर्या में बाधक बनता है।

इस विषय में प्रसिद्ध मनो वैज्ञानिक फ्राइड (FREUD) के विचार बड़े महत्त्व के हैं। वह महोदय मन की तुलना समुद्र में तैरते हुये एक बर्फ के टुकड़े से करते हैं। जैसे समुद्र में तैरता हुआ बरफ का टुकड़ा पानी से ऊपर आठवां (१/८) भाग ही दिखाई देता है, शेष ७ भाग जल मग्न रहता है।

इसी प्रकार हमारे मन का केवल १/८ भाग चेतन मन का प्रतिनिधित्व करता है अन्य भाग(७ भाग) ७/८ अचेतन के रूप में छिपा रहता है।

जिस प्रकार समुद्र में तूफान आने से बर्फ का वह तैरता टुकड़ा उलट पलट सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति में अन्तर्द्वंद्व के वेग से अचेतन मन की वह बड़ी शक्ति व्यक्ति के कार्यों में देखी जाती है जो उस विक्षिप्त अवस्था में वह करता है।

दूसरे स्थल पर फ्रायड महोदय मन की तुलना नाट्यशाला से करता है। जिस प्रकार खेल नाटक शाला में अपने आप नहीं होते पात्र उनके कारण होते हैं। खेल में खेलने के कुछ अंश मात्र होते हैं उसी प्रकार व्यक्ति के व्यवहार का कारण अचेतन मन में छिपा रहता है और व्यवहार में व्यक्त भावनाऐं हमारी समस्त भावनाओं की अंश मात्र है। जैसे नाटक के परदे के सामने होने वाली घटनाऐं परदे के भीतर से संचालित होती हैं निर्देशक की इच्छानुसार) वैसे ही हमारे व्यवहार अचेतन मन से संचालित होते हैं। अचेतन मन का यह नाटक स्वप्नावस्था में भली प्रकार देखा जाता है। जहाँ जागृतावस्था में चेतनमन का नाटक चालू रहता है, वहाँ स्वप्नावस्था में अचेतन मन का नाटक चालू रहता है।

हम भूलते क्यों हैं ?

जिस कार्य में व्यक्ति की रुचि नहीं होती उसे चेतन मन स्मृति पटल से हटा देता है, इसी से व्यक्ति भूलता है। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि अचेतन मन के दो-दो भाग हैं—

प्रसुप्त और प्रतिहारी। एक सोता है तो दूसरा पहरा देता है।

व्यक्ति के अनुकूल विकास के लिये यह आवश्यक है कि प्रमुख भाग को सदा प्रकाशन का मार्ग मिलता रहे, क्योंकि यही शक्ति का खजाना है। यदि शक्ति का सदुपयोग न हुआ दुरुपयोग होने का भय बना रहता है।

जब प्रकाशन के लिये स्वाभाविक मार्ग नहीं मिलता जो प्रसुप्त मन विकृत् मार्ग की ओर चल पड़ता है। जिससे व्यक्ति के जीवन में बाधा, संकट,

दु:ख व भय के बादल मण्डराने लगते है, जिससे कोई न कोई बिगाड़ अवश्यम्भावी हो जाता है और इस प्रकार जीवन रथ आगे बढ़ने से रुक जाता है। प्रतिहारी मन व्यक्ति की दु:ख, संकट व बुरे विचारों से रक्षा करता है ठीक पहरेदार की तरह। इसी लिये यह व्यक्ति का नैतिक आदर्श है। इस प्रतिहारी मन का विकास शिक्षा से होता है। यदि व्यक्ति को उचित शिक्षा न मिले जो उसका प्रतिहारी मन या नैतिक आदर्श अवांछनीय होकर जीवन को बरबाद कर बैठता है।

प्रतिहारी मन यदि निर्बल पड़ जाय तो अंतर्द्वंद्व आरम्भ हो जाता है और प्रहरी के निर्बल पड़ने से चोरों (बुरे विचारों) की बन पड़ती है और जीवन संकट मय बन जाता है। या जीवन में विक्षिप्तता आजाती है। और व्यक्ति अवांछनीय व्यवहार को अपना कर मानसिक रोगी बन जाता है।

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि मनुष्य का अचेतन मन सच्चा व विश्वासपात्र मित्र सा होता है। बालक और प्रौढ़ व्यक्ति में यह भेद है कि बालक का चेतन व अचेतन दोनों मन सच्चे और विश्वास पात्र होते हैं और प्रौढ़ का केवल अचेतन मन। यही कारण है कि बुरे वातावरण का प्रभाव बच्चे पर कम पड़ता है, क्योंकि उसके हृदय में कपट नहीं होता वह स्वच्छ होता है अचेतन मन सच्चा होता है इसका उत्तम प्रमाण इस बात में है कि कोई अनैतिक कार्य करने पर व्यक्ति कुछ न कुछ पश्चाताप अवश्य करता है और इस पश्चाताप की सीमा से व्यक्ति की नैतिकता का अनुमान लगाया जाता है। व्यक्ति की मुखमुद्रा देख कर उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अचेतन मन अपना भाव मुख-मुद्रा तथा भूलों द्वारा प्रगट कर देता है।

अचेतन मन की अपार शक्ति —

(The unlimited power of the unconscious mind)

मनो-वैज्ञानिकों ने अचेतन मन को अतिशक्तिशाली माना है कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो यदि अचेतन मन में वह बैठ गया तो करके छोड़ता है। आन्तरिक शरीर की सारी प्रक्रिया अचेतन मन द्वारा ही नियंत्रित होती है। आत्मनिर्देश का फल भी अचेतन मन की शक्ति पर निर्भर है।

व्यक्ति यदि रोगी हो, तो अचेतन मन की कल्पना से वह शीघ्र रोग मुक्त हो सकता है, और मनोविश्लेषक यही करते हैं। अचेतन मन की अपार शक्ति के उपयोग से व्यक्ति असम्भव को सम्भव और एक साधारण व्यक्ति से महापुरुष तक बन सकता है। किसी भी प्रकार से अस्वस्थ क्यों न हो आत्म-निर्देश की भावना को अपना कर स्वस्थ हो सकता है।

सुप्तावस्था में चेतन मन सोता है और अचेतन जागता है और जाग्रतावस्था में चेतन मन जागता है और अचेतन सोता है। सुप्तावस्था में अचेतन मन का कार्य बढ़ जाता है। सोने के पहिले यदि हम एक निश्चित समय पर उठने के लिये आत्म निर्देश करके सो जाते हैं, तो आत्म निर्दिष्ट समय पर अवश्य उठ जाते हैं।

सुप्तावस्था में अचेतन मन की चेतनता का यह ज्वलन्त प्रमाण है। इसी प्रकार जा ग्रतावस्था में भी जब किसी निश्चित समय पर हम कहीं जाने का विचार कर देते हैं तो ठीक समय स्मरण होकर वहां के लिये रमाना हो जाते हैं।

यदि व्यक्ति अचेतन मन की अपार शक्ति का ठीक तरह उपयोग करना जान जाय तो वह क्या नहीं कर सकता? जो जानते हैं वे नाना प्रकार के चमत्कार दिखा कर साधारण लोगों को आश्चर्य में डाल देते हैं। अचेतन मन की इस आपार शक्ति को न जान कर ही आज अधिकतर लोग मानसिक रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। जिनके दुःखों को दूर करने के लिये आज मनो-विश्लेषकों की आवश्यकता अधिक बढ़ गई है।

व्यक्ति के असाधारण व्यवहार से ही अंतर्द्वंद्व उत्पन्न होता है, और वह रुग्ण हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव दुःख से बचने का होता है इसलिये वह परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच समझौता करने की पूरी चेष्टा करता है।

मनोविश्लेषक विभिन्न विधियों द्वारा अचेतन मन के रूप को व्यक्ति के सामने रखता है। व्यक्तित्व का विकास जितना ही सुसंगठित होगा

उतना ही पक्का उसकी विरोधी भावना और नैतिक आदर्श में समझौता होगा और इसके होने पर व्यक्ति का व्यवहार उचित हो जाता है।

चेतन व अचेतन मन का आधार भूत जो मस्तिष्क है, उसके विषय में संक्षेप में यहाँ कुछ जनकारी देना असंगत न होगा।

मस्तिक ४ भागों में विभक्त हैं:—

१—वृहत् मस्तिष्क (Cerebrum).
२—लघु मस्तिष्क (Cerebellum).
३—मज्जासेतु (Pons Varallis)
४—सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongata).

मस्तिष्क जितना शक्तिशाली है, उतना ही उसकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया गया है। इसी से इसे सुरक्षित रखने के लिये प्रकृति ने इसे ३ झिल्लियों से आच्छादिक कर रक्खा है —

१—स्थूल तथा वाह्यावरण (Duramatter).
२—मध्यस्थ आवरण (Arachnoid).
३—अन्तरावरण (Piamatter).

वाह्यावरण मोटा और मजबूत होता है। यह कपाल की अस्थियों के नीचे स्थित है। यह मस्तिष्क की रक्षा के लिये कवच का सा काम करता है। इसके नीचे का आवरण मध्यस्थ आवरण है। यह पतला और कोमल होता है। सबसे नीचे वाली झिल्ली को अन्तरावरण कहते हैं। यह अत्यन्त पतली होती है। और मस्तिष्क में चिपटी रहती है। इसी में रक्त नलिकाओं (Capillaries) का जाल सा फैला रहता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क में बहुत से उभार और गड्ढे होते हैं। उभार को चक्रांश (Covolution) कहते और गढे को सीता Fissure) कहते हैं। मस्तिष्क से चिपटा रहने के कारण अन्तरावरण सीताओं में भी घुसा रहता है।

I. वृहत् मस्तिष्क के कार्य—

चेतन व अचेतन मन की सारी शक्ति में सन्तुलन बनाये रखना लघु मस्तिष्क का कार्य है। विचार शक्ति स्मरण शक्ति, संवेदना, इच्छा व

संकल्प, संचालन शक्ति, मनोविकार आदि का सम्बन्ध वृहत् मस्तिष्क से है। यही वृद्धि या ज्ञान का केन्द्र भी है। प्रत्येक इन्द्रिय कार्य के लिये इसमें भिन्न भिन्न केन्द्र निश्चित हैं। इस भाग में दोष आजाने से विविध मनोविकार फूट पड़ते हैं।

जिन बच्चों का वृहत् मस्तिष्क छोटा होता है, उनके बौद्धिक कार्य अन्य बच्चों से पिछड़े हुए होते हैं और बुद्धिमान बच्चों में वृहत् मस्तिष्क का आकार बड़ा होता है। आपने देखा होगा, बहुत छोटे शिर वाले बच्चे जिन्हें चूहा कहा जाता है अत्यल्प वृहत् मस्तिष्क होने से न कुछ बोल सकते है न कुछ कर ही सकते हैं। ऐसे ही ३ बेकार के बच्चे मैंने ग्राम पाली कौड़िया, गढ़वाल (उ० प्र०) डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के देखे थे। जो गुनगुनाने के सिवाय कुछ बोल नहीं सकते थे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के मस्तिष्क का भार प्रायः २०, २२ छ० तक और स्त्रियों के प्रायः १८, २० छटाँक तक होता हैं।

II लघु मस्तिष्क—

बड़े मस्तिष्क के पिछले भाग में नीचे की ओर एक छोटे से स्नायु-केन्द्र को लघु मस्तिष्क कहते हैं। यह आकार में चिपके हुए गोले के समान होता है। इसका भार २ या २॥ छ० तक होता है। यह दो भागों में विभक्त है। यह भी वृ० मस्तिष्क की भांति ऊपर धूसर या भूरा तथा भीतर श्वेत होता है। इसमें भी सीतायें और चक्रांश होता है, परन्तु वृ० मस्तिष्क की अपेक्षा इसकी सीतायें कम चौड़ी हैं परन्तु गहरी अधिक होती हैं। वृ० मस्तिष्क का अन्तरावरण लघु मस्तिष्क के भीतर अधिक दूर तक चला गया होता है।

लघु मस्तिष्क के कार्य—

यह शरीर में माँस पेशियों की चेष्टा को नियंत्रित करता है। लघु मस्तिष्क में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न होने से माँस पेशियों का कार्य स्थगित हो जाता है। मस्तिष्क का गठिया (Chorea) इसी कारण होता है।

शरीर में सम्यक् रूप से गति कराने का काम लघु मस्तिष्क पर निर्भर है। इसका दांया भाग वृहत् मस्तिष्क के बाँये भाग का तथा वाँया भाग वृ० मस्तिष्क के दाँये भाग का सहकारी है। इस प्रकार शरीर की क्रियाओं में संतुलन बनाये रखना लघु मस्तिष्क का मुख्य कार्य है। एक प्रकार से शारीरिक चेष्टाओं के नियंत्रण रखने में लघु मस्तिष्क उच्च शासक (गवर्नर) का सा काम करता है।

स्नायु संस्थान या वात संस्थान
(NERVOUS—SYSTEM)
अथवा
मज्जा सूत्र संस्थान।
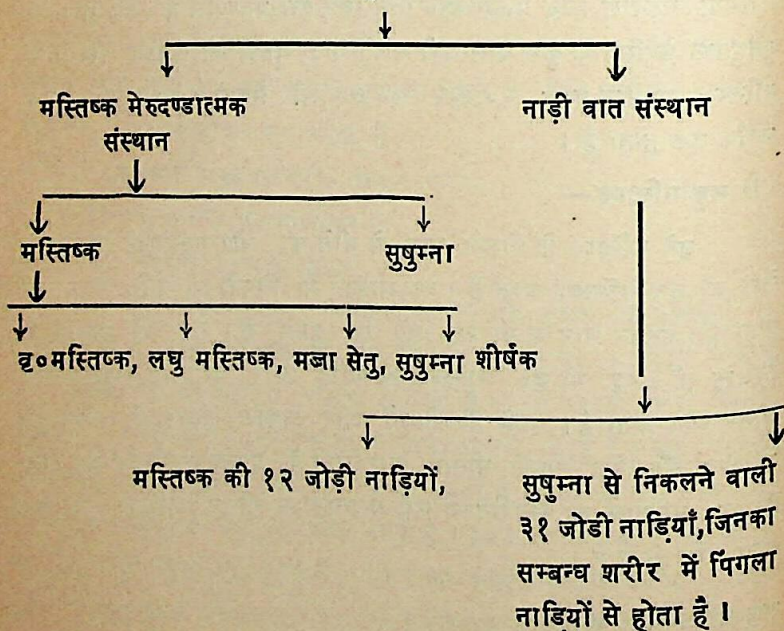
पिंगल नाड़ी मंडल—

प्रत्येक सौषुम्न नाड़ी का सम्बन्ध पिंगल नाड़ी मण्डल से रहता है। इस मंडल को स्वतंत्र स्नायु संस्थान (SYMPATHETIC NERVOUS

SYSTEM) भी कहते हैं। पृष्ठ वंश के दोनों ओर दो डोरियाँ होती हैं। इसमें से प्रत्येक में थोड़ी थोड़ी दूर पर गांठों के आकार के उभार होते हैं। ये गाँठें (Ganglias) पिंगल वर्ण की होती हैं। इसीलिये इस भाग को पिंगल नाड़ी मंडल कहते हैं और इस मंडल से निकलने वाली नाड़ी को पिंगल नाड़ी कहते हैं। इसी संस्थान के द्वारा भीतरी अंगों में गति उत्पन्न होती है यही संस्थान भय, शोक, क्रोध, उद्वेग, घृणा, द्वेष, सुख, प्रेम आदि के वेगों में अंगों की क्रियाओं को नियन्त्रित करता है।

मस्तिष्क की नाड़ियाँ—

मस्तिष्क के निचले भाग से मस्तिष्क की १२ बारह जोड़ी नाड़ियां निकलती हैं। इन्हें कपालिक नाड़ियां कहते हैं। इनका सम्बन्ध विशेषरूप से घ्रावणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय, गरदन तथा चक्षुरेन्द्रियों से होता है। इन में से कुछ सांवेदनिक और कुछ चालक हैं।

(१) घ्राण नाड़ी, (२) दृष्टि नाड़ी, (३) नेत्र चालिका नाड़ी (नेत्र संचालक नाड़ी) (४) नेत्र चालिका नाड़ी (नेत्र को गति देने वाली) (५) त्रिशाखा नाड़ी—यह सब से बड़ी नाड़ी है—असिगोलक, नासिका, मुख, दंत, कपोल तथा जिह्वा के अगले भाग तक फैली है। अन्य दो शाखाओं का सम्बन्ध ऊपरी व निचले जवड़े से है, जिससे जबड़ों में गति होती है। (६) स्वाद नाड़ी (७) मौखिकी नाड़ी (८) श्रवण नाड़ी, (९) जिह्वा नाड़ी (१०) वितरित नाड़ी—इसका सम्बन्ध हृदय, फेफड़े, यकृत् और आमाशय से है। क्षेत्र विस्तृत होने से वितरित कहा है। (११) सौषुम्निक नाड़ी—यह ग्रीवा से विशेष पेशियों को जाने वाली एक संचालिका नाड़ी है। इसी से उन पेशियों को गति मिलती है। (१२) जिह्वा अधोवर्ती नाड़ी—यह जिह्वा के निचले भाग में रहती है, और जिह्वा की पेशियों का संचालन करती है।

सुषुम्ना से निकलने वाली ३१ जोड़ी नाड़ियां:—

ग्रीवा में ८, वक्ष में १२

कटि में ५, जिगर में ५.

चंचु में १.

प्रत्येक नाड़ी सुषुम्ना से २ भागों से जुड़ी होती है। अगले भाग को पूर्वमूल तथा पिछले भाग को पश्चात् मूल कहते हैं ये दोनों जड़ें सुषुम्ना ही के निकट परस्पर मिल जाती हैं। इन के मेल से ही पूरी नाड़ी बनती है, सुषुम्ना की सभी नाड़ी मिश्रित हैं। प्रत्येक नाड़ी में २-२ सूत्र होते हैं। जिसमें एक सांवेदनिक (Sensory) तथा दूसरा चालक (Motor) होता है। साँवेदनिक सूत्र विभिन्न अंगों से आकर सुषुम्ना में मिलते हैं। तथा उनके समाचारों को पहुँचाते हैं। इससे इन भागों को संवेदना का ज्ञान होता है, इसी लिये इन्हें साँवेदनिक सूत्र कहा गया है। दूसरा सूत्र सुषुम्ना के भीतरी भाग से निकल कर विभिन्न भागों को जाते हैं और उनमें गति उत्पन्न करते हैं, इसलिये इन्हें चालक सूत्र कहा गया है।

३—सुषुम्नाशीर्षक (Medulla Oblongata)—

सुषुम्ना सेतु के पीछे तथा वृ० मस्तिष्क के निचले भाग में स्थित भाग को सुषुम्ना शीर्षक कहते हैं। यह मज्जतन्तुओं द्वारा निर्मित बेलन के समान एक पिण्ड है जो ऊपर की ओर वृ० मस्तिष्क से तथा पीछे की ओर से लघु मस्तिष्क से सम्बन्धित है। इसके निचले भाग से सुषुम्ना आरम्भ होती है। मस्तिष्क के अन्य भागों के विपरीत इसके भीतर धूसर तन्तु तथा बाहर श्वेत तन्तु होते हैं।

सुषुम्ना शीर्षक मज्जा सेतु के निकट अति मोटा और चौड़ा होता है तथा महाछिद्र के पास पतला होता है। यह लगभग ३/४ इंच लम्बा होता है। सुषुम्ना से मस्तिष्क में जाने वाले सभी तन्तु इसी में से होकर निकलते हैं। इसी के मध्य में रक्त परिभ्रमण, श्वसन् एवम् निगलने आदि क्रियाओं के केन्द्र भी होते हैं।

इस प्रकार सुषुम्नाशीर्षक मस्तिष्क का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसी पर जीवन निर्भर है। इस पर किसी प्रकार का आघात लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्क की १२ जोड़ी नाड़ियों में से ६ जोड़ी तो सुषुम्नाशीर्षक के सामने मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों से तथा ६ जोड़ी सुषुम्नाशीर्षक के ही निकट से निकलती हैं।

४—मज्जा सेतु (Pons Verollis)—

मज्जा द्रव्य द्वारा निर्मित पुल के समान यह एक बन्द सा है जो सुषुम्ना शीर्षक के ऊपर निकलता है और लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को जोड़ता है। यह सुषुम्ना शीर्षक को वृहत् मस्तिष्क से भी मिलाता है। वृहत् मस्तिष्क से निकलने वाले सभी स्नायु सूत्र इसी में से होकर निकलते हैं। निकलते समय वे एक दूसरे को इस प्रकार काटते हैं कि वृ० मस्तिष्क के दांये गोलार्द्ध से निकलने वाले सूत्र सेतु के बाँयी ओर मे होकर शरीर के वाँये भाग की पेशियों में पहुँचते हैं। इसी प्रकार वाये गोलार्द्ध से निकले सूत्र दाँयी ओर जाते हैं और शरीर की दाँयी ओर की पेशियों में चले जाते हैं। यही कारण है कि वृ० मस्तिष्क के दाँये गोलार्द्ध में क्षति पहुँचने पर शरीर के बाँये भाग की चेष्टाएँ व संवेदनाएं बन्द हो जाती हैं। इसी प्रकार इसके वाँये गोलार्द्ध में आघात पहुँचने पर शरीर के दांये भाग की गतिविधियाँ बन्द हो जाती हैं। सेतु के सामने एक छोटा सा गोल पिण्ड सा होता है जिसे पीयूष ग्रन्थि या पीयूष पिण्ड कहते हैं, जिसका शरीर तथा बुद्धि के विकास में विशेष महत्त्व होता है।

५ सुषुम्ना—

सुषुम्ना स्नायविक पदार्थों से निर्मित एक मोटी रस्सी के समान है। इसी पर सम्पूर्ण शरीर की गतिविधियाँ आश्रित हैं, इसलिये सक्षेप में इसके विषय में जानना आवश्यक है।

यह रीढ स्तम्भ की कशेरुका नली में स्थित है। यह कपाल के पीछे की ओर महाछिद्र से आरम्भ होती है। पुरुषों में सुषुम्ना की लम्बाई १८ इंच के लगभग और स्त्रियों में १७॥ इंच के लगभग। ठीक मस्तिष्क की ही भान्ति यह भी ३ आवरणों से आच्छादित है। इसके आगे और पीछे एक दरार सी होती है। आगे की दरार की गहराई १/६ इंच होती है। ये दोनों दरारें इतनी गहरी होती हैं कि वे परस्पर मिल जाती हैं। इनके मध्य में अत्यन्त तंग स्थान रह जाता है जिसमें होकर केन्द्रीय नहर निकलती है।

मस्तिष्क के समान ही सुषुम्ना घूसर एवं श्वेत तन्तुओं से निर्मित है परन्तु उसके विपरीत इसके भीतर घूसर तन्तु तथा बाहर श्वेत होते हैं। श्वेत पदार्थ द्वारा घूसर पदार्थ अच्छी तरह आच्छादित रहता है। घूसर भाग में कोष और श्वेत में सूत्र होते हैं। सुषुम्ना का श्वेत पदार्थ ऐसे स्नायुसूत्रों से बना हुआ है जो मेदसपिधान से आवृत हैं। ये सूत्र मस्तिष्क के विभिन्न भागों से निकल कर भिन्न-भिन्न भागों को जाते हैं।

शरीर के दाँये भाग के सूत्र मस्तिष्क के बाँये भाग में तथा बाँये भाग के सूत्र उसके दांये भाग में जाते हैं। ये माँस पेशियों के संचालक होते हैं। यदि किसी सौषुम्न तार (सूत्र) की जड़ कट जाय या किसी कारण से नष्ट हो जाय तो उससे सम्बन्धित माँस पेशी की गति रुक जाती है। सुषुम्ना की प्रत्येक नाड़ी संवेदना एवम् गति से सम्बन्ध रखती है।

सुषुम्ना की इन नाड़ियों के द्वारा ही शरीर चेष्टा व संवेदनाशील है।

सुषुम्ना का कार्य

सुषुम्ना के श्वेत वस्तु को बनाने वाले स्नायु सूत्र तथा घूसर वस्तु में स्थित स्नायु केन्द्र बड़े काम के हैं। श्वेत पदार्थ में ही वह शक्ति है जिसके द्वारा मस्तिष्क से शरीर को तथा शरीर से मस्तिष्क को सूचनाऐं मिलती रहती हैं। शरीर के दांये भाग के समाचार मस्तिष्क के बाँये भाग में तथा शरीर के बाँये भाग के मस्तिष्क के बाँये भाग में पहुँचते रहते हैं।

सुषुम्ना के रोग ग्रस्त हो जाने या उस पर किसी प्रकार का आघात लग जाने पर प्रेरणाओं का आना जाना बन्द हो जाता है। इसमें दोष आने पर उससे नीचे के अंगों में न तो कोई गति ही हो सकेगी और न उनमें किसी प्रकार के सुख दुःख का अनुभव ही हो सकेगा।

ग्रीवा के निचले भाग में सुषुम्ना के रोगी हो जाने पर लकवा (Paralysis) तो मार जायगा परन्तु मृत्यु न होगी। ग्रीवा के भीतरी सौषुम्निक भाग में खराबी आने पर तत्काल मृत्यु हो जायगी। क्योंकि इस भाग से स्नायु तार निकल कर महाप्राचीरा पेशी में जाते हैं। वे इनका संचालन

एवं नियंत्रण करते हैं। महा प्राचीरापेशी का सम्बन्ध श्वास प्रश्वास (सांस लेना व छोड़ना) से है। अतः इस भाग में दोष आजाने पर साँस का लेना असम्भव होकर मृत्यु हो जाती है।

६ नाड़ी वातसंस्थान—

न्यूरोन से निकले हुये बहुत से पतले पतले स्नायु सूत्रों से एक नाड़ी बनती है। स्नायु सूत्र बन्धक तन्तुओं द्वारा एक दूसरे से भली भाँति मिले और बंधे होते हैं। कार्य की दृष्टि से स्नायु सूत्र २ दो प्रकार के होते हैं :—
(१) केन्द्रगामी (Afferent) और (२) केन्द्रत्यागी (Efferent)

केन्द्रगामी स्नायु सूत्र मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना को संदेश ले जाते हैं। केन्द्र त्यागी स्नायु सूत्र केन्द्रों से निकल कर किसी पेशी, ग्रंथि अथवा रक्त की नली तक जाते हैं और उसे मस्तिष्क का आदेश देते हैं। केन्द्रगामी स्नायु सूत्रों से स्पर्श तथा घ्राण आदि संवेदनाओं का बोध होता है। इसी से इन्हें सांवेदनिक स्नायु (Sensory nerve) कहते हैं। केन्द्रत्यागी स्नायु सूत्रों की प्रेरणा से माँस पेशियों में किसी न किसी प्रकार की गति उत्पन्न होती है। इसीलिये इन्हें चालक स्नायु (Motor nerve) कहते हैं। किसी केन्द्रत्यागी स्नायु की प्रेरणा से यदि किसी गिल्टी (ग्रथि) में रस पैदा होता है तो उसे रसोत्पादनी स्नायु (Secretory nerve) कहते हैं। रक्त की नलिकाओं को चौड़ा या संकरी करने वाले स्नायु को रक्त नलिका नियत्रक स्नायु (Vasomotor nerve) कहते हैं।

सम्पूर्ण शरीर की गतिविधियों, चेष्टाएँ व शक्ति स्नायु संस्थान पर ही एक मात्र आधारित हैं, इसलिये गुणग्राही पाठकों की जानकारी के लिये उनका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

स्नायु संस्थान के विषय में दो शब्द—

मनुष्य के सभी व्यवहार व उसकी समस्त मानसिक प्रतिक्रियाएँ एक मात्र स्नायु संस्थान (Nervous System) पर ही आधारित हैं।

इस स्नायु संस्थान को मज्जा सूत्र संस्थान भी कहते हैं । इसी के द्वारा शरीर में अन्य संस्थानों का भी संचालन होता है । इस संस्थान का प्रधान अंग मस्तिष्क है (जिसका पीछे वर्णन किया गया है) जो शरीर का राजा कहलाता है । यह राजा कपाल की आठ अस्थियों के सुदृढ़ गढ़ में अधिष्ठित होकर सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है, बिना इसके शरीर निष्क्रिय हो जाता है । किसी कारण वश कोई दोष व खराबी आ जाने पर कई प्रकार के स्नायविक रोग हो जाते हैं ।

यह संस्थान अत्यन्त ही विशिष्ट प्रकार के कोषों का बना हुआ है । शरीर में रहने वाले अन्य कोषों से यह भिन्न प्रकार का होता है । इसमें एक स्नायु सूत्र भी होता है जिसे अक्ष तन्तु (Axon) कहते हैं । यह अत्यन्त छोटा भी और बहुत लम्बा भी होता है । स्नायु कोषों का रंग हल्का मटमैला होता है, इसी से इसे भूरा तत्त्व (Grey matter) कहते हैं । इनकी नसों के श्वेत होने के कारण इन्हें श्वेत तत्त्व (White matter) कहते हैं ।

अक्षतन्तु (Axon) मेदसावरण (Medullary Sheath) से आवृत रहते हैं । ग्राही तन्तु जो अक्षतन्तु की ही शाखा होते हैं जिन्हें dendrites कहते हैं, अपने निकटस्थ स्नायु कोषों की शाखा प्रशाखाओं से सम्बन्धित रहते हैं । ये परस्पर मिले हुए नहीं होते । इस स्थान को साइनेप्टिक जंक्शन कहते हैं । शरीर की प्रत्येक क्रिया का अनुभव इसी संस्थान की क्रिया द्वारा होता है ।

स्नायविक संवेदना ग्राही तन्तुओं द्वारा विद्युत धारा की भाँति एक स्नायु कोष से दूसरे स्नायु कोष में प्रवाहित होती रहती है ऐसे अक्षतन्तुओं व ग्राही तन्तुओं का जाल हमारे सम्पूर्ण शरीर में बिछा हुआ है जिनके द्वारा अनुभव का वेग मेरुदण्ड तक पहुँचता रहता है ।

वात संस्थान के मुख्य भाग

(क) मध्यस्थ भाग अथवा मस्तिष्क—

मेरुदण्डात्मक वात संस्थान

(Central or Cerebrospinal system)

(ख) नाड़ी वात संस्थान—
(Peripheral Nervous System)

मध्यस्थ भाग या मेरुदण्डात्मक संस्थान २ भागों में विभक्त हैं:—
१—कपाल में सुरक्षित भाग (मस्तिष्क Brain). २—कशेरुका स्तम्भ में सुरक्षित चिकना लम्बा गोलाकार भाग (सुषुम्ना Vertebral Column).

मस्तिष्क, नाड़ी सुषुम्ना आदि का पीछे संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है।

शिशु जीवन सुधार हेतु

उसके अचेतन मन का अध्ययन करना आवश्यक है।

शिक्षक व अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि शिशु जीवन में उचित सुधार लाने के लिये, उसके अचेतन मन के स्वरूप का भली प्रकार अध्ययन करें।

प्रायः यह देखा जाता है कि बालक की उद्दण्डता और अवज्ञा का कारण उसकी एक आन्तरिक बीमारी होती है जिसका इलाज डाट फटकार हानिप्रद सिद्ध होती है। वास्तव में बालक में यह आन्तरिक रोग ही, बालक के मन का अन्तर्द्वंद्व है जो कि उसमें उसके अभिभावकों व शिक्षकों के अनुचित दमन से पैदा हुआ है।

बालकों की भावनाएँ अपुष्पित कोमल कलियाँ हैं जिन्होंने मृदु प्रेम आदि व्यवहार से आगे विकसित होना हैं, फूलना व फलना है। यदि बालकों की इन कोमल कलियों को अनुचित दमन आदि व्यवहार से कुचला गया तो भावी जीवन के सुन्दर पुष्प खिलने की आशा दुराशा में बदल जायगी। इस प्रकार के अव दमन से उनके भावी व्यक्तित्व का ह्रास होता है और मानसिक शक्ति कुंठित होकर भावी विकास की राह बंद हो जाती हैं। प्रत्युत यदि उनके साथ युक्ति से प्रेम का व्यवहार किया जाय तो मन का विकास ठीक ढंग से होकर विकसित जीवन के द्वार खुल जाते हैं।

बालकों की चेष्टाओं और इच्छाओं के अवदमन का तात्पर्य उनके भावी व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करना ही है। बालकों के दमन से उन्हें बुरी आततें पड़ जाती हैं, जिससे उनका भावी जीवन अंधकार पूर्ण बन जाता है। मनोविश्लेषण द्वारा यदि उनकी दबी हुई भावनाओं को मुक्त कर दिया जाय तो उनकी वे बुरी आदतें अपने आप छूट जाती हैं।

व्यक्तित्व के विकास के लिये चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक है। असामञ्जस्य से दबी हुई बासनायें (भावनायें) अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देती हैं।

मनोविश्लेषकों की राय हैं कि लोगों में शूलपीड़ा, लकवा, मधुमेह, हिस्टीरिया, हकलाना, चर्मरोग, मृगी, उन्माद आदि रोग अचेतन मन द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और वे एक मात्र व्यक्ति की वासनाओं के अबदमन से। अतः आदर्श माता-पिता, अभिभावक व शिक्षक वे हैं, जिनका बालक हृदय से स्वागत करते हैं।

यह बात सच है कि बालक अपने अभिभावकों से मूर्ख' या 'शैतान का विशेषण सुनते सुनते इतनी दैन्यता का अनुभव करता है कि वह सारा धैर्य व साहस खो बैठता है। परन्तु अपनी प्रशंसा सुनने के लिये वह उतना ही लालायित रहता है जितना कि सैकड़ों वर्ष का परतंत्र राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के लिए।

कितना अच्छा होता यदि बालक के अभिभावक अपने कर्त्तव्य और दायित्व का अनुभव करते तो निर्धन व दीन दुःखी बालक भी अपनी दयनीय दशा में क्या एक प्रकार से स्वर्ग का अनुभव न करते? और सच पूछो तो बालक किसी खास प्रिय वस्तु का भूखा नहीं होता, वह तो एक मात्र प्रेम का भूखा होता है, जिसके लिये वह अपने अभिभावक व शिक्षक से पाने के लिये हर समय आतुर रहता है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह भावार्थ न निकालें कि बालक को अधिक लाड़ प्यार से बिगाड़ दिया जाय। नियंत्रण तो बालक पर हर प्रकार होना ही चाहिये।

मानव चाहे कितना ही सभ्य क्यों न हो उसके साथ कुछ पाशविक वृत्तियाँ तो जन्म जात होती ही हैं और उनका स्वभाव में समावेश रहता है बालक में भी वे सुप्तावस्था में होती हैं। शिक्षा का प्रयोजन ही यह है कि बालक में उन पाशविक प्रवृत्तियों के स्थान पर सुन्दर सद्वृत्तियों के पुष्प खिलाये जाँय और वे पुष्प एक युक्ति पूर्वक सुन्दर वातावरण में सद् शिक्षा से ही खिलाये जा सकते हैं और यह सब कुछ बालक के अभिभावकों व शिक्षकों पर ही आश्रित है। तभी बालक का भावी जीवन सुखमय और गौरवान्वित बन सकता है।

यह याद रक्खें कि अधिक लाड़ प्यार से हम बालक के भावी जीवन पर कुठाराघात करते हैं। ऐसा करने से बालक घमण्डी हो जाता है और फिर वह मन मानी करने लगता है और किसी की हितकर बात भी नहीं सुनता, बस इसी में वह अपना गौरव (शान) समझने लगता है और इस प्रकार यह दुष्ट वृत्ति उसमें आदत बन जाती है। फिर आगे जीवन में जब उसके सामने विकट परिस्थितियाँ आती हैं तो उनका सामना करने के लिये उसमें कुछ भी हिम्मत व साहस नहीं होता. वह घबड़ाने लगता है और जरासी विकट परिस्थिति आने पर किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो असफल होता चलता है।

इस प्रकार अमनो-वैज्ञानिक लाड़प्यार में पला हुआ बालक अपने व्यक्तित्व के विकास में पूर्णतः असफल होकर जीवन को भार रूप समझने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षक व अभिभावकों का कर्त्तव्य उतना सरल नहीं जितना वे इस विषय को समझ बैठे हैं। उन्हें तो भयंकर जंगलों व झाड़ियों में से होकर बालकों के साथ-साथ कठिन पर्वत (विकट उन्नति व विकास पथ) पर चढ़ना है, यदि एक बार पैर फिसला तो सब काम चौपट।

इस प्रकार जीवन में चेतन व अचेतन मन के महत्त्व को समझ कर शिशु काल से ही जीवन का विकास क्रम यत्न पूर्वक अपनाना आवश्यक है।

ॐ तत्सत

घूंट–४

द्वन्द्व ही जीवन का धर्म है

यह मानव देह तो विरोधी तत्वों से बना है। इन द्वन्द्व विरोधी तत्वों के सम्यक् समन्वय से ही यह सारा जीवन का रथ चला करता है। जीवन में सफल वही होता है जो इन दोनों का उचित समन्वय कर सके। ये द्वन्द जीवन के सभी क्षेत्रों में रहते हैं। मनुष्य अन्तरमुखी भी है और बहिर्मुखी भी। वह अन्तर्मुखी होकर अपनी अन्तर्शक्तियों का संवर्धन करे और बहिर्मुख होकर उनका सद्व्यय करे।

पहलवान् पहिले निरन्तर अभ्यास से मल्लयुद्ध की तैयारी में अपनी शक्ति बढ़ाता है, नानाविध युक्तियाँ सीखता है, जब काफी संचय कर लेता है, तभी वह अखाड़े में मल्लयुद्ध में विजयी होता है। इसी प्रकार एक साधारण मानव जब निरन्तर साधना अभ्यास से अपना अध्यात्मिक शक्ति को पर्याप्त बढ़ा लेता है, तब वह लोक में जाकर अपने उस संचित अतुल प्रभाव से लोगों को अपने मार्ग पर चलाने में समर्थ होता है। उसकी उस अतुल शक्ति के कारण ही लोगों पर प्रभाव होकर उसका अनुकरण करते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुखी होकर शक्ति संचय और बहिर्मुखी होकर उसका सदुपयोग किया जाता है।

मनुष्य को सदैव शुभकर्मों में लीन रहकर सन्तुलन से जीवन में आगे आगे बढ़ना है। साथ ही सुख व दुःख जीवन के साथ साथ चलते हैं। एक के बाद दूसरा बारी-बारी से पानी के रहट की तरह आते जाते रहते हैं, बिना कष्ट के तो कोई भी कार्य सम्पादन नहीं होता। कष्ट झेल कर ही जीवन चमकता है। कई परीक्षाओं के बाद ही अन्तिम सफलता की डिग्री मिलती है। स्वर्ण बार बार तपाये जाते प्रहार खाते खाते ही अपने असली रूप में चमकता है। और तभी उसके सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनते हैं।

अतः वास्तविक चमकीले जीवन के लिये कष्ट व दुःख परमावश्यक है। जिस जीवन में जरा भी कभी पहिले दुःख न हुआ वह उसके आते ही छटपटाने लगता है, परन्तु जो अनेक दुःखों को झेल चुका होता है वह बड़े बड़े कष्ट झेलने के लिये शक्तिशाली बन जाता है और उनके आने पर दृढ़ता से उनका मुकाबला कर विजयी होता है। कई युद्ध लड़ने के बाद ही वीर योद्धा बनता है।

कष्टों को हँसते हँसते झेलोगे तो पता भी न लगेगा कि वे कब आये और कब गये। यही हाल सुखों का भी है, वे बिना सूचना के ही आजाते हैं। इसीलिये बुद्धिमान् जीवन में समत्वभाव को अपनाते हैं—

"समत्वं योग उच्यने"—यह सम भाव ही योग कहलाता है। समान वयस्क युवक व युवती का ही उचित योग होकर विवाह होता है। जीवन के दोनों पहियों में समानता होनी जरूरी है तभी वे गाड़ी को ठीक ठीक खींच सकते हैं। यद्यपि जीवन अनेक विरोधी तत्वों से बना है, परन्तु वे जीवन के लिये अनिवार्य हैं। बुद्धिमान उसी का नाम है जो परस्पर विरोधी तत्वों के होते हुए भी उनमें समन्वय कायम कर अपने जीवन को विकास और उत्कर्ष की ओर निरन्तर ले जाता है। बुद्धिमान अध्यापक अपने परस्पर विरोधी बुद्धि आदतों वाले छात्रों को एकता व अनुशासन के सूत्र में बाँधकर उन्हें योग्य बनाने में सफल होता है। इस प्रकार इस प्रयत्न की सफलता में ही जीवन की सफलता निर्भर करती है।

सुख और दुःख दोनों जीवन के साथी हैं, जीवन के अंग हैं, जीवन के साथ साथ उनकी भी सार्थकता है। इनमें कोई बड़ा छोटा नहीं है, दोनों समान हैं। दोनों एक प्रकार से मन की भिन्न २ तरंगें हैं। यदि सब ऐश्वर्य होते हुए भी मन असन्तुष्ट है, तो वही दुःख का कारण बन जाता है। प्रायः अधिकतर मानव अपने में अधिक तृष्णा अपना कर असन्तुष्ट देखे जाते हैं और उनका यह असन्तोष ही उनके अधिक दुःखों का कारण बनता है।

दुःख का दूसरा नाम अज्ञान है। जब मनुष्य सांसारिक योग्य पदार्थों की विनश्वरता जान जाता है तो उनके प्रति वह अधिक आकर्षक नहीं होता

उसकी तृष्णा भी घटने लगती है। और अल्प तृष्णा ही संतोष व सुख के पुष्प खिला सकती है। मन में सन्तोष है तो झौंपड़ी में रहते हुए भी महलों का आनन्द व सुख भोगा जा सकता है, और सन्तोष नहीं तो सब प्रकार का सजा सजाया महल भी नरक के दिन दिखाता है। इसलिये ज्ञान होना आवश्यक है। महाराज जनक को ज्ञान होने पर ही विदेह कहा गया है। सब राजकाज चलाते हुए भी वे निर्लिप्त थे, क्योंकि सभी कामों से वे निष्काम हो गये थे, जैसे जल में रहता हुआ कमल। सुख और दुःख के परिवर्तन में ऋतुओं जैसा परिवर्तन होता है। शिशिर व हेमन्त के बाद ही सुहावना वसन्त का आगमन होता है। यदि सुख ही सदा बना रहे तो आनन्द का कोई महत्व नहीं रह जाता।

बिछोह के बाद ही पुनर्मिलन का विशेष आनन्द का अनुभव होता है। अतः विशेष आनन्द का अनुभव कष्ट व दुःख सहने के बाद ही होता है विशेष नव जीवन का आनन्द यदि जानना हो तो उससे पूछिये जो लम्बी बीमारी के बाद स्वस्थ हुआ है। वैसे ही उस वैज्ञानिक से पूछिये जो अनेक कठिन अनुसंधानों में गुजर कर अभी अभी सफल हुआ है।

सृष्टि जगत में बिना कारण कुछ भी नहीं होता। कुछ होने के लिये कारण आवश्यक है। इस शरीर में जब दोष अधिक बढ़ जाते हैं या उनमें दोषों का सन्तुलन बिगड़ जाता है तभी रोग बाहर प्रगट होता है। क्योंकि प्रकृति का नियम है कि विकृत पदार्थ को वह बाहर निकाल निकालती है। चिकित्सक यहां उस रोग को बाहर निकालने में प्रकृति का सहायक होता है।

अतः सुख व दुःख जीवन के अभिन्न अंग हैं। बिना इनके जीवन आगे प्रगति नहीं कर सकता और न चमक ही सकता है। इसलिये दुख व रोग के आने पर धैर्य व साहस से उसका स्वागत करो, क्योंकि इस महिमान के बाद ही तुम्हारा विशेष अतिथि सुख पधारेगा। चहल पहल व आनन्दोत्सव उसी घर में होता है जहाँ अतिथियों का आवागमन निरन्तर लगा हुआ है, जिसदिन वह रुका कि शून्यता आ छायगी और जीवन नीरस हो जायगा। अतः दोनों में समान चित्र होना ही बुद्धिमत्ता है। पक्षपात करोगे तो हानि

उठाओगे, इसलिये दुःख व संकट आने पर न विशेष दुःखी हो और न सुख आने पर विशेष हर्षित हो। यही समन्वय अपनाओगे जो अपनी जीवन नौका को हंसते गाते पार कर सकोगे।

कर्म भोग में सुख के साथ दुःख भी अपने क्रम से आयेगा ही। खेती में अच्छे या बुरे फल जो भी बोये जाते हैं, दोनों के फल बोने वाले को अवश्य ही प्राप्त होते हैं। दुःख आने पर जो उसे धैर्य और शान्तिपूर्वक झेल लेता है उसी को सुख भी मिलता है। अधैर्यशील और भीरू के जीवन प्रवाह को दुःख रुकावट डाल देगा या समाप्त ही करदेगा। अतः सच्चा कर्मयोगी ही सुख व दुःख में समान रहकर सुख का अनुभव करता है।

बहुत से लोगों की आदत सी होती है कि वे दुःखों को अतिरंजन करते हैं। दुःख व कष्टों के अतिरंजित चित्रण से किसी की सहानुभूति नहीं मिलती प्रत्युत यदि कहीं से मिलती भी हो तो वह भी बन्द हो जाती है। इसलिये लाभ पाने की आशा में हानि ही मिलती है। यहाँ तक कि हमारे प्रति सहानुभूति दिखाने वाले हमारे बन्धुबान्धव और निकट के सम्बन्धी भी हमें कष्ट व दुःख का अतिरंजन करते देख हमारे निकट आना भी छोड़ देते हैं।

यह याद रखने की बात है कि कल्पित चित्र सदा वास्तविक चित्र से अधिक भयानक हुआ करता है। इसी प्रकार कल्पना का दुःख भी वास्तविक दुःख से कई गुना अधिक भयंकर रूप धारण कर सम्मुख आता है।

कई लोगों की यह आदत सी हो जाती है कि वे अपने छोटे-छोटे दुःखों को खूब बढ़ा चढ़ा कर मानने लगते हैं और उनकी ही चर्चा सबसे करते फिरते हैं। इस चर्चा का प्रभाव यह होता है कि उसके सहयोगी अन्य लोग उससे तंग आकर उसका साथ ही छोड़ देते हैं तब वह अकेला ही अपने दुःख का रोना रोता रहता है।

दुःख संकट बाधा ही जीवन को शक्तिशाली बनाते हैं। इस संसार में सामर्थ्यवान् व शक्तिशाली कर्मक्षेत्र में टिक कर कठोर परिश्रम से अपने

जीवन कर्मों की खेती कर सकता है। बच्चा जब बार २ गिरता है, उठता है तभी चलने के योग्य बनता है। बिना गिरे व उठे वह चल नहीं सकता।

जीवन में संकट, बाधा व दुःख झेलने के लिये शरीर पर कठोर नियंत्रण होना भी आवश्यक है और यह एक मात्र संयम-नियम के पालन से ही सम्भव है। जीवन में अनुशासन की तो प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यकता है। जीवन में सुन्दर व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिये अनुशासन की अग्नि से ही शरीर को पवित्र रखना आवश्यक है। मौटने पर ही मक्खियों बैठती हैं। जहां शुद्धता व पवित्रता है वहाँ मक्खियों के लिये चारा ही कहाँ है आनुशासन हीन जो शरीर है वही मलिन व कमजोर होता है और जब स्वाभाविक ही भय, बाधा, संकट, दुःख आदि मक्खी उसे हर समय घेरे रहती हैं और इस प्रकार उसका जीवन ही दुःखमय व निकम्मा बन जाता है।

सच्चा शक्तिशाली बनने के लिये हमें सबसे पहिले अपनी नैसर्गिक वृत्तियों का ही समन्वय करना होगा। उनमें भय, संकट, दुःख, अहंकार, परिग्रह, सुरक्षा, सैक्स आदि वृत्तियां मुख्य हैं। जिस प्रकार अन्य इन्द्रियों के संयम से शक्ति का संरक्षण और संचय होता है उसी प्रकार वाणी के संयम से आत्मशक्ति का संचय और संरक्षण होता है। वाणी का सदुपयोग बहुत कम लोग जानते हैं। व्यर्थ के वार्तालाप में आत्मिक शक्ति का ह्रास होता है जैसे अन्य तपों से शारीरिक और मानसिक शक्ति का विकास व संचय होता है उसी प्रकार वाणी के तप से भी होता है।

वाङ्मय तप के अभ्यास को ही मौन कहते हैं। जितना अधिक कोई मौन रहेगा उतना ही अधिक मानसिक विश्राम उसे प्राप्त होगा। वास्तव में शक्ति और आनन्द का अक्षयकोष मौन में ही है। अधिक मौन व्रत अपनाने से अधिक मानसिक शक्ति और आनन्द व सुख का अनुभव होता है और विषम परिस्थितियों को झेलने के लिये मनुष्य समर्थ होता है। इसमें नई स्फूर्ति व धैर्य की जागृति होती है और व्यक्ति एक प्रकार से नवजीवन की अनुभूति अनुभव करता है। मौन का स्वस्थता और दीर्घायु पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। मौन से सत्कर्मों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है और अनावश्यक चेष्टाओं पर नियंत्रण पाया जाता है।

मौन के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुये महान् दार्शनिक आइन्सटीन ने कहा था—

"दिन में एक घण्टा मौन रहकर, मैं चौबीस घंटे काम कर सकता हूँ। कई दिन तक काम की अधिकता के कारण, मैंने यह प्रयोग किया है। गणित के हिसाब से कहा जाय तो एक घण्टे का मौन ७ सात घण्टे की गाढ़ी निद्रा के समान है।"

मौन में शक्तिऔर आनन्द पाने का रहस्य-मौन की अवस्था में हमारी सब वृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं, वे प्राण के स्रोत में जाकर नवजीवन के घूंट पीने लगती हैं। जब वे वहिर्मुखी होती हैं तो उनकी शक्ति क्षीण होती है। अन्तर्मुखी होकर वे नवीन पोषण पाकर शक्तिशाली बनती हैं। अतः "शक्ति और आनन्द को पाने का यही एक रहस्य है।"

एक समय की बात है, कोई व्यक्ति आनन्द की ढूँढ में जब भटकता भटकता परेशान हो गया तो उसे एक स्थान पर एक महात्मा मिला। उस व्यक्ति ने अपनी दुःख भरी कथा महात्मा को सुनाई।

महात्मा स्वाभाविक ही परोपकारी और दीन दुःख हर तो होते ही हैं। महात्मा तुरन्त व्यक्ति के अभिप्राय को समझ कर बोला—"अभी तो तुम जाओ मैं कुछ जरूरी काम में जुटा हुआ हूँ। मेरे पास तुम ठीक आज से ११ वें दिन आना। मैं तुम्हें आनन्द के किनारे ले जाकर खड़ा कर दूँगा। पर हाँ। देखो! दश दिन तक तुम दूर जाकर मौनव्रत से एकान्त वास में बिताना।"

आनन्द के लिये वह व्यक्ति आतुर तो था ही। उसने महात्मा के आदेश का अक्षरशः पालन किया। ११ वें दिन वह व्यक्ति जब महात्मा के पास पहुंचा तो प्रश्न पूछने के बजाय स्वयं ही बोल उठा—"प्रभो! आपकी शर्त ने ही मुझे आनन्द के सागर तट पर पहुँचा दिया है। जीवन भर जिसके लिये मैं मारा-मारा भटका फिरा वह केवल १० दिन के मौन व्रत धारण से मुझे प्राप्त हो गया है। धन्यवाद प्रभो!"

मौन साधन से विषय वासनाओं पर भी नियंत्रण पाने में सहायता मिलती है और व्यक्ति को अपने को परखने व सुधार का भी सुअवसर मिलता है। जीवन में विषय भोग और त्याग परस्पर विरोधी तत्त्व हैं परन्तु जीवन के लिये दोनों आवश्यक हैं। कुछ लोग भोगों के त्याग पर बड़ा जोर देते हैं। परन्तु इस जीवन में विषयों का त्याग तो असम्भव सा ही है। वैसे जीवन है ही भोगमय, परन्तु भोगमय होने से ही दुःख मय नहीं हो जाता भोग, दुःख और सुख तीनों जीवन के साथी हैं। भोग यदि त्याग मय हो तो भोग और त्याग दोनों साथ-साथ निभ सकते हैं। इस प्रकार दोनों का समन्वय करने से ही जीवन रथ ठीक तरह चल सकता है।

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।" उपनिषद कार की आज्ञा है कि भोगों को त्यक्तवत् भोग करो। यों जानो कि सब कुछ परित्यक्त सा है। अर्थात् आसक्ति या ममता का त्याग कर विषय का भोग करना। इस भाव से जब हम सांसारिक भोग्य पदार्थों का भोग करते हैं, जो उनमें आसक्त नहीं होंगे और न ममता ही होगी।

त्याग और भोग दोनों विरोधी भावनाएं हैं किन्तु जीवन की पूर्णता के लिये दोनों ही उपयोगी हैं। इस संसार में विचरते हुये भोग भी त्यागमय हो सकता है और त्याग भी भोगमय हो सकता है। मन में आत्मरति रहने से त्याग भी भोगमय हो जाता है और सांसारिक धर्म निभाते हुये सर्वजन हिताय की भावना से किया हुआ भोग भी त्यागमय हो जाता है।

"वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्–
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणियः प्रवर्तते,
निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम्॥"

घर वार छोड़ गुफा के अन्दर रह तपस्या का ढोंग रचने से क्या लाभ यदि विषय वासनाओं से प्रेम बना हुआ है या विषय भोग की इच्छा निरन्तर मन में बनी हुई है। प्रत्युत घर में भी यदि मन पर नियंत्रण है, विषय भोग के प्रति आसक्ति मिट गई है, संयय नियम पूर्वक जीवन वीत रहा है जो ऐसे निवृत्त राग व्यक्ति के लिये घर भी तपोवन ही है।

वास्तविक भोग आसक्ति त्याग से ही भोगा जाता है। भोग में आसक्ति की इच्छा छोड़ते ही सृष्टि की समस्त सौन्दर्य माधुरी सम्मुख आ खड़ी होती है। आकाँक्षा से रहित होकर ही हम वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं।

बालक शुकदेव के सामने जलाशय में स्नान करती हुई नग्न ऋषि कन्याओं ने कोई संकोच अनुभव नहीं किया था, क्योंकि शुकदेव की दृष्टि में भोग नहीं था या उसके मन से भोग भोगने की इच्छा ही शान्त हो चुकी थी, वह वीतराग हो चुका था। जो तपस्वी नग्न बालक के सौन्दर्य की तरह ही नग्न युवती के सौन्दर्य को देख सके, भोग की इच्छा न करे उसके सम्मुख ही वह सौन्दर्य अपने को निःसंकोच हो खोलता है। इसीलिये कहा है— "Beauty is to admire, not to touch" सुदरता केवल प्रशंसा के लिये होती है, छूने के लिये नहीं।" छूने से तो वह बरबाद हो जाती है।

सुन्दर आत्मा ही सुन्दरता को देख सकती है। स्वर्ण का सुन्दर हिरन तब तक ही श्रीराम को दिखाई देता रहा जब तक कि वह उनसे प्रशंसित होता रहा। उसकी हिंसा करने की भावना ज्यों ही राम के हृदय में उठी, वह हिरन चम्पत हो गया।

लोग सौन्दर्य को विविध दृष्टियों से देखते हैं और भिन्न २ तरीकों से उसे अपनाने का यत्न करते हैं। आज का वातावरण इतना दूषित हो गया हैं कि कोई भी तरुण इस दोष से मुक्त रह सके, यह कठिनता से कहा जा सकता है। हाँ मुक्त वे ही नवयुवक व युवती रह सकते हैं, जिनको उपयुक्त अनुशासन की शिक्षा मिली हो, जो अपने को संयम नियम में बाँधे हुये हों।

जीवन को सुन्दर एवं सुखी बनाने के लिये दोष दृष्टि त्याग कर निर्दोष दृष्टि अपनानी होगी। दूसरों की अच्छाई को देखकर अपनाना होगा। उनके बुरे गुण ढूँढना हमारा काम नहीं। हमें तो गुलाब के सुन्दर पुष्प से मतलब है, उसके काँटों से हमारा मतलब नहीं होना चाहिये। भोग भोगना ही है तो आसक्ति भावना को त्याग कर ही। बिना भोग व त्याग के तो जीवन में पूर्णता आनी भी कठिन है। अतः निरासक्त हो भोग व त्याग को अपना कर ही जीवन में अन्तर्द्वंद्वों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। और तभी वास्तविक आनन्द व सुख का रसास्वादन किया जा सकता है।

ओ३म् तत् सत

घूंट ५

जीवन का सच्चा अर्थ।

गौ की ओर देखिये, वह चारा व घास खा कर उसे अमृत रूप दूध में बदल कर मानव उपकार में लीन है। इसी प्रकार मनुष्य में भी यह शक्ति भगवान ने दी है, कि उस शक्ति से वह हजार गुणा कमाकर दूसरों के उपकार में खर्च कर दे। यही जीवन का सच्चा अर्थ है। मनुष्य जीवन की यही दिव्यता है कि वह जितना प्राप्त करे उसको मुक्त हस्त हो दूसरों के कल्याण में लगा दे। बस सच्चे अर्थ में यही मानव जीवन का महत्त्व है।

"तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिः।" आदि वैदिकमंत्रों से प्रजा एवं पशु सम्पत्ति के संवर्धन की प्रार्थनाएँ किया करते थे किन्तु इन लोक की समस्त चेष्टाओं का एक मात्र उद्देश्य परमार्थ का आनन्द प्राप्त करना ही होता था।

बहुत से ज्ञानी लोग जब ज्ञान संचय करते हैं, तो केवल अपनी ज्ञान वृद्धि में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। उनका वह बुद्धि या ज्ञान बल का संचय यदि लोक व समाज कल्याण के निमित्त नहीं हुआ तो यह ठीक उस पहलवान् की शारीरिक शक्ति के समान ही है जो अखाड़े में कुश्ती का प्रदर्शन कर उस शक्ति का अन्य उपयोग नहीं करता, तब यह शक्ति केवल लोक रजन के सिवाय और कुछ नहीं रह जाती।

ससार में सामर्थ्यवान् वह है जिसके सामर्थ्य से समाज व राष्ट्र का हित होता हो। कवि व लेखक या कलाकार वह है जिसकी रचनाओं से समाज व राष्ट्र कल्याण में कुछ सहायता मिलती हो, कुछ लाभ होता हो। विश्व को महती शक्ति पर आस्था रखने से हृदय में जो अपार आध्यात्मिक शक्ति का संग्रह किया जाता है, उसका सदुपयोग यदि 'बहुजनहिताय' न हो तो वह केवल आत्म सतुष्टि के सिवाय और कुछ नहीं है।

मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति संग्रहार्थ अनेक साधन अपनाता है। मौन व्रत धारण करना, एकान्त में प्रभु स्मरण, आत्मचिन्तन, योगाभ्यास आदि, इन सबसे आत्मशक्ति का विकास एवं संवर्धन होता है। इनसे मनुष्य में नये उत्साह व शक्ति स्रोत प्रस्फुटित होते हैं, और अपने आत्मिक स्वरूप से साक्षात् करके अपनी ही अपरिचित शक्तियों से परिचय प्राप्त करता है।

इस प्रकार अपार आत्मिक शक्ति प्राप्त कर यदि मनुष्य उसका उपयोग केवल आत्मरति व आत्म संतुष्टि के लिये करता है, तो वह सब व्यर्थ है, क्योंकि उससे लोक का कोई भला नहीं होता। स्वार्थ वृत्ति ही जीवन की सार्थकता को निष्फल कर देती है। इसीलिये आध्यात्मिक क्षेत्र में परम सिद्धि प्राप्त कर वास्तविक योगी को भी जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिये लोक में 'बहुजन हिताय' विचरना पड़ता है और तभी वे अमर होते हैं।

आज तक जितने भी महापुरुष होगये हैं, वे सभी अपनी दृढ़ साधना से आध्यात्मिक शक्ति का संग्रह कर लोक कल्याण के लिये, अपनी अमूल्य निधि को जनता जनार्दन की सेवा में लगाकर अमर होगये हैं।

इतिहास के अन्दर एक भी उदाहरण ऐसा नहीं जो बिना जनहित के महापुरुष कहलाया हो। वैसे तो आज भी कैलाश की गुफाओं में बड़े बड़े सिद्ध मौजूद हैं, जिनको कहा जाता है कि वे त्रिकालदर्शी हैं, परन्तु जब तक वे लोक कल्याण के लिये उन गुफाओं से बाहर संसार में नहीं आते तब तक उनका सिद्ध होने का कुछ भी महत्त्व नहीं है। स्वर्ण व हीरे का तब तक कोई महत्त्व नहीं जब तक वे मुकुट व आभूषणों में ढले नहीं जाते। धनिक का वह अपार धन तब तक किसी काम का नहीं जब तक कि वह दीन दुःखियों के उपकार में नहीं लगा। इसी प्रकार विद्वान् की विद्वत्ता का तब तक कुछ मूल्य नहीं जब तक उसका उपयोग दूसरों के ज्ञान संवर्धन के लिये नहीं हुआ। अपार धन सम्पत्ति, ज्ञान व शक्ति संचय का अधिकार उसी को है, जो उसे आगे बांटे। जीवन का व्यापार या यों कहिये सारी सृष्टि का व्यापार ही, इस बटोरने व बांटने में निर्भर है। एवं जीवन की सार्थकता व

आयु भी इसी पर आधारित है। आम के वृक्ष को देखिये जब तक वह फूलता है, तभी तक उसके जीवन की चहल-पहल व रौनक प्राणियों को लुभाती है और ज्यों ही उसका फूलना फलना व्यापार बन्द हुआ कि शीघ्र नष्ट हो जाता है।

संसार में प्रायः देखा जाता है कि पुरुषों के बजाय स्त्रियाँ अधिक आयु की होती हैं। मेरे विचार में इसका कारण यही है कि वे संतानों के द्वारा अपनी अधिक शक्ति का दान करती हैं, या बांटती हैं। यदि आदान प्रदान का यह क्रम सृष्टि में न हो तो यह चहल पहल व रौनक न होकर शून्यता छा जाय। बीज को बोकर यदि वह उगे नहीं तो उसका तो वंश ही समाप्त हो जाय। अतः सृष्टि के अन्दर जीवन देने में ही जीवन की सार्थकता है।

सृष्टि क्रम को सिखाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति ने स्वभाव से ही जीव मात्र को दानी बनाया है। आप देखते हैं कि कोई भी जीव ऐसा नहीं जो माता पिता बनकर अपने तन मन धन का दान न करता हो। माता अपने को मिटा कर मां बनती है, पिता अपने को भूल कर पिता कहलाता है।

यह बात ऐसी नहीं जो केवल मानव मात्र में ही सीमित हो, पशु संसार और बनस्पति जगत् में भी आत्मज के लिये जनक-जननी जीवन त्याग करते हैं। बीज आगे पैदा होने के लिए अपने को भूमि में, पहिले पूर्णतः विलीन कर देता है। यह सब कुछ प्रेम पर निर्भर करता है। अपने प्रिय के लिये प्राण परित्याग करने में जीव मात्र को आनन्द मिलता है। यही प्रकृति का धर्म है और इसी पर सृष्टि कायम है।

सच्चा प्रेमी प्रभु की सृष्टि में पैदा हुई प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम की भावना अपनाता है। वह हर घड़ी प्रेम विभोर रहता है, क्योंकि उसे अपने चारों ओर प्राण की नई २ कलिकाऐं फूटती नजर आती हैं—

"जब उमड़ा दरिया उलफत का—
हर चार तरफ आबादी है।

हर रात नई इक शादी है—
हर रोज मुबारक बादी है ॥
× × × ×
नित राहत है, नित फरहत है—
नित रंग नये आजादी है ॥ जब०

इस प्रकार का रोमाँच, शान्ति व अतुल आनन्द केवल उसके हृदय में फूट पड़ता है जो प्राणी मात्र से प्रेम करता है। इसी से जीव मात्र उससे बैर त्याग मित्र से बन जाते हैं। एक बार दिल से हिंसा भाव त्याग दो तो हिंसक जीव भी तुम्हारे मित्र बन जायँगे। यदि इस प्रकार का प्रेम पूर्ण व्यवहार आज मानव मात्र अपना ले, सबको अपनी आत्मा के समान ही समझ सद्व्यवहार अपना ले, तो सब प्रकार के विवाद, कलह, अशान्ति व रोग-शोक भय आशंका मिट जायँ और यह धरा सचमुच स्वर्ग बन जाय।

महापुरुषों का जीवन उत्कृष्ट इसीलिये माना जाता है कि वे अपनी सम्पूर्ण आत्मिक शक्ति संचय का उपयोग, निष्काम भाव से लोकल्याण में ही लगा देते हैं। इस पृथ्वी पर उनका जन्म ही दीन दुःखी जीवों को तारने के लिये ही हुआ करता है। जो जितना समर्थशाली होगा, वह उतना ही अधिक निष्काम भाव से जनता जनार्दन की सेवा कर सकता है, तभी वह जीवन अमूल्य होता है। मनुष्य को परोपकार के लिये ही संचय करना आवश्यक हैं। दान की भावना से जो संचय किया जाता है, उसी से जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है। इसलिये वास्तविक आनन्द संचय के बाद दान करने में होता है। और यही जीवन का सच्चा अर्थ है।

इस जगत् रूपी उपवन में अपने को सुन्दर पुष्प सिद्ध कर जीवन को सार्थक बनाओ। क्योंकि यह मानव देह अनमोल है—

मुसाफिर जीवन है, अनमोल !
सुन्दर फूल सजा जग-उपवन –
जीवन पंखड़ी खोल।
जीव मधुप मधु पान करें —
जानें जीवन का मोल ॥ मुसा०

ॐ तत् सत

घूँट—६

मानव जीवन, आयु, उपवास और जीवन रक्षक शक्तियाँ।

मानव जीवन समझना ही बड़े महत्त्व का है। जब तक हम उसको ठीक प्रकार नहीं समझते तब तक उसका उपयोग भी ठीक तरह नहीं कर सकते। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है:—

"The value of life lies, not in the length of days but in the use we make of them, a man may live long, yet lives very little. Satisfaction in life depends not on the number of your years, but on your will,"

(Michel De Montaigne)

यह कि जीवन का महत्व दिनों की अधिकता में नहीं है, वल्कि उनके उपयोग में जो हम करते हैं, एक मनुष्य लम्बी आयु तक जी सकता है और अत्यल्पायु भी। आपके अधिक वर्षों की संख्या पर जीवन में संन्तोष निर्भर नहीं करता, वल्कि इच्छा पर।"

आज के युग में जीवन के महत्त्व को बहुत कम लोग जानते हैं। अपने बुरी २ आदतें अपना कर मनुष्य ने अपने जीवन को बेचैन व रुग्ण बना दिया है। कई लोगों की यह आदत सी हो गई है कि जब तक वे भोजन से उदर को ठूँस २ कर न भर दें तब तक उनकी तृप्ति ही नहीं होगी। इसलिये अधिक भोजन करने से अनेक रोग हो जाते हैं लोग अकाल में ही काल के ग्रास बन जाते हैं। भोजन से शारीरिक आवश्यकता पूर्ति का जहाँ तक प्रश्न है वह उतनी नहीं होती जितना आज मनुष्य समझ बैठा है।

अधिक भोजन के परिणाम स्वरूप ही आज लोगों में अग्निमाद्य, उदर में भिन्न २ वायु विकार, विबन्ध, अपच, अतीसार, संग्रहणी, शुक्रमेह, रुद्धाँत्रगद, उपांत्रशोथ, जिगर के कई विकार आदि अधिक देखे जाते हैं।

अब पाश्चात्य लोग यह समझने लगे हैं कि उपर्युक्त भोजन सम्बन्धी विकारों को दूर करने के लिये उपवास आवश्यक है और इसके लिये वे सप्ताह में एक दिन उपवास करने पर जोर देते हैं।

भारत में बहुत प्राचीन काल से आयुर्वेदज्ञों व धर्मवेत्ताओं की जो विधि यौवन, 'सौन्दर्य स्वस्थता और आयुवृद्धि के लिये भिन्न २ पर्वों व तिथियों में धर्मानुसार उपवास धारण करने की प्रचलित है, उसके मर्म को अब पाश्चात्य लोग समझ कर अपनाने लगे हैं।

वास्तविक सत्य—

भारतीय संस्कृति का तो सिद्धान्त ही है कि बीज अमर है, उसका नाश नहीं होता। जो वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राचीन काल में लोगों को मालूम थे वे मध्ययुग में लुप्त प्राय हो गये थे, वे ही सिद्धान्त थोड़े हेर फेर के साथ आज के युग में शंका की दृष्टि से देखे जाते हैं, जब तक वे भली भाँति समझे नहीं जाते, फिर उन्हें भली भाँति समझ लेने पर संशोधित रूप में प्रस्तुत किया जाता है और तब गौरवपूर्वक कहा जाता है कि बड़ी खोज के साथ इन्हें हमने निकाला है। ठीक पुरानी शराब नई बोतलों में नये लेविल के साथ। (The old Wine in new bottle with new labels)

आजकल आयुर्वेद की जड़ी बूटियों जिनके गुण व प्रभाव के विषय में सदियों पूर्व सत्य तथ्य शास्त्रों में दर्शाये गये हैं, आज उन्हीं का सत्त्व तैयार कर भिन्न २ ऐलोपैथिक दवाइयों का रूप दिया जा रहा है। परन्तु आयुर्वेद तो सत्य व अटल सिद्धान्तों पर आधारित है, वह तो पूर्णतः निःस्वार्थ जग कल्याणकारी ऋषि महर्षियों के मस्तिष्क की देन है, जिसको समझने के लिपे आज के वैज्ञानिकों को अभी कई सौ वर्ष लगेंगे। इनमें आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धान्त, पंचमहाभूत विज्ञान, नाड़ी ज्ञान, मंत्र तंत्र विज्ञान उल्लेखनीय हैं।

हिन्दू धर्म में मानसिक और शारीरिक विकारों से रक्षा पाने के लिये विविध उपवास, व्रत, एकादशी व्रत आदि की व्यवस्था की गई है, जिनके

साथ जप, होम की प्रधानता है। इनसे शारीरिक एवं मानसिक दोष जो असंयमित आहार विहार से गड़बड़ा जाते हैं, स्वतः ही ठीक हो जाते हैं और स्वस्थता कायम रखने में बड़ी मदद मिलती है। बरेली का एक प्रसिद्ध एलोपैथिक डाक्टर केवल होम द्वारा राजयक्ष्मा रोग की सफल चिकित्सा करता है। इन विविध व्रत, उपवास, जप होम आदि दैवी विधियों को अपनाने से मनुष्य मानसिक व शारीरिक विकारों से मुक्त होकर सत्कर्मों के प्रति उत्साहित होता है और विविध आधि-व्याधि से बचा रहता है।

दिन में कई बार भोजन करने या अधिक भोजन करने से, इन्द्रियों में ऊष्मा का वेग अधिक बढ़ जाता हैं, मन व शरीर में वासना व दूषित विकार जन्म लेने लगते हैं। इन्हीं विषय वासना और ऊष्मा के बढ़े हुए वेग को समाप्त करने के लिये और मन्द पड़ी हुई जठराग्नि को पुनः जाग्रत करने के लिये ही व्रत धारण या उपवास की व्यवस्था की गई है। चारों पदार्थ साधनार्थ स्वस्थ मानव होना आवश्यक है। इसी लक्ष्य साधनार्थ हिन्दू रीति रिवाजों में समय समय पर विविध वृत, उपवास, जप, होम आदि का प्रयोग धर्म में रक्खा गया है। आज ही हिन्दुओं के यहाँ कई रोगों की चिकित्सा उक्त उपायों से सफलता पूर्वक की जाती है।

आयुर्वेद में बल पूर्वक कहा गया है कि उपवास के उचित प्रयोग से अग्निमाँद्य, ज्वर, सन्निपात, आँत्रिक ज्वर, अंत्रशोथ, प्रतिश्याय, विविध उदर विकार, चर्मरोग, स्वप्नदोष, विशूचिका, श्वास-कास, शोथ आदि रोग दूर हो जाते हैं और अनुभव से भी यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

उपवास धारण करने से मन के दोष दूर होकर विषय वासना से विरक्ति होती है। शरीर में हल्कापन और स्फूर्ति अनुभव होती है। मन की चंचलता क्षीण होती है और चित्त सद्विचार में लगता है। प्रभु स्मरण व मनन एवं योग में चित्त की प्रवृति बढ़ती है इस प्रकार योगाग्निमय जब शरीर और मन की स्थिति हो जाती है तो विविध विकार स्वयं ही शान्त हो जाते हैं और मानव एक प्रकार से नवयौवन, सुख व शान्ति का अनुभव करता है।

यह बात याद रखने की है कि मानव जीवन में शीघ्र वृद्धावस्था, अनियमितता, कुरूपता, दुर्बलता और अल्पायुपन तब आते हैं जब शरीर व मन में अन्दर ही अन्दर अधिकाधिक मल (दोष) जमा होने लगते हैं और यह सब तब होता है जब दैनिक जीवन के आहार विहार में अनियमिता बरतता है। वे संचित दोष पसीना, मल, मूत्र आदि मार्गों से पूरी तरह बाहर न निकल कर विविध रोग व विकार पैदा करने लगते हैं। इन्हीं को समूल नष्ट करने के लिये ही आयुर्वेद में पंचकर्म चिकित्सा की व्यवस्था की गई है। परन्तु आजकल के हलके दिमाग वालों के लिये यह दीर्घ स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था अरुचिकर लगती है, उन्हें तो तत्काल आराम चाहिये, इसी लिये आज कल के चिकित्सक तुरन्त आराम पहुँचाने के लिये भिन्न २ विषैली औषधियों व इन्जेक्शनों का अधिकाधिक प्रयोग करते हैं फल स्वरूप रोगों की संख्या घटने के बजाय दिन व दिन बढ़ती जा रही है। यह सब कुछ रोगों को दबाने से हो रहा है।

मैं स्वयं पहले प्रायः समय समय पर बीमार हो जाया करता था परन्तु प्रभु की प्रेरणा से जब से मैंने वृहस्पतिवार को उपवास रखना आरम्भ किया, प्रातः सायं दूर शौचार्थ व भ्रमणार्थ अपना दैनिक का क्रम बनाया तब से अब सदा स्वस्थ्य रहता हूँ और औषिघ सेवन की कभी नौबत ही नहीं आती। इसलिये मैं सबको यही परामर्श दूँगा कि दैनिक सादा रहन-सहन के साथ साथ मेरे उक्त कार्यक्रम को अपनायें।

जब भी आप किसी रोग से ग्रसित हों तुरन्त उपवास धारण करें। दोनों समय शौच जाने में कभी आलस्य न करें। दिनभर में केवल दो बार ही सादा भोजन करें। भूख लगने पर ही भोजन करें।

उपवास के दिन केवल उबाला हुआ जल ही पीवें। उपवास करने से मनुष्य की नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसमें दैवी गुण व सात्त्विकता का नया स्रोत उमड़ पड़ता है और निरन्तर अपनी जीवन यात्रा में आगे २ बढ़ता जाता है।

आज के युग में चिकित्सा क्षेत्र में भी बड़े २ अन्वेषण किये जा रहे हैं। आज शल्यवेत्ता चिकित्सक एक व्यक्ति के दूषित व विकारी हृदय को निकाल कर उसके स्थान पर दूसरे स्वस्थ हृदय को संयुक्त करने में सफल हो गया है।

मनुष्य की जीवनी शक्ति, यौवन और आयु की अभिवृद्धि के लिये पाश्चात्य वैज्ञानिक नयी-नयी खोजों में सतत प्रयत्नशील हैं। सोवियत संघ के जीव विज्ञान वेत्ता ब्लडादिमीर-निकितिन के नवीनतम प्रयोगों का सारांश यह है कि 'उपवास द्वारा फिर से जवान होना और अपने यौवन को चिर-काल तक बनाये रखना सम्भव हैं।" अनेक व्यक्तियों की अल्पआयु में मरने का कारण आवश्यकता से अधिक आहार सेवन करना और इस प्रकार सौ वर्ष पूर्व ही पाचन शक्ति को बिगाड़ लेना है। पहले अधिक भोजन किया और फिर उसे पचाने के लिये अनेक प्रकार की दवाइयाँ खाई जाँय, यह एक महान मूर्खता है जो वर्तमान सभ्यता की देन है। उक्त महोदय ने अपने भिन्न २ प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि उदर और अधिवृक्क ग्रंथियां वृद्ध होने की प्रक्रिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

उन्हीं महोदय ने आगे कहा है कि शारीरिक संतुलन (दोष साम्यता) को ठीक रखने में उपवास अति सहायक सिद्ध देखा गया है। उपवास के दिनों में जठराग्नि (जब बाहर से आहार उपवास द्वारा बन्द हो जाता है) बड़े हुए दोषों को पचाने लगती है। इस समय अधिवृक्क ग्रंथियों द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले हार्मोन की अधिकता शरीर में भोजन न होने के कारण खपने लगती है। उपवास के दिन पर्याप्त उबला हुआ जल पीना चाहिये और ग्रीष्मकाल हो तो माल्टा, सन्तरा, मौसमी आदि फलों का रस भी पी सकते हैं अथवा दूध सोडा लेमन मिलाकर पीवें, यह बढ़े हुए दोषों (मलों) को बाहर निकालने में बड़ी सहायता करता है। जब कभी शरीर में सुस्ती व भारीपन मालूम हो तुरन्त उपवास व्रत प्रयोग करें।

रूस में उपवास के प्रयोग से चूहों की आयु दुगनी कर दी गई है और आजकल वहाँ उपवास के द्वारा कई रोगों को दूर करने के लिये विविध

अनुसंधान किये जा रहे हैं। इसमें वहाँ के वैज्ञानिक अनेक मानव रोगों को दूर करने में सफल हुये हैं।

उपवास से मनुष्य अपनी अनेक कुप्रवृत्तियों पर नियंत्रण पा सकता है और सात्विक जीवन का मार्ग खुलता है। शुभकर्म, पवित्र आचरण तथा दिव्य जीवन आयु वृद्धि कारक के साथ ही अति स्वास्थ्य कर भी हैं। इसमें उपवास से पर्याप्त सहायता मिलती है।

"नगविरतो दुश्चरितान्ना शान्तोना समाहित:।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैन माप्नुयात् ।।"

(कठोपनिषद्)

अर्थात जो दुराचार नहीं हटा, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुईं, जो सावधान नहीं और इसलिये उसका मन अशान्त है, वह कितना ही पण्डित क्यों न हो, इस आत्मत्तत्व (आत्म ज्ञान) को नहीं पा सकता। इसको तो वही पा सकता है जो हृदय में—

"जीवेम शरद: शतम्।" प्रभु भावना को अपनाये हुए निरन्तर सत्कर्मों में दत्तचित्त हो आगे २ बढ़ रहा है। उपर्युक्त मन्त्र में आयु की अवधि एक सौ वर्ष निर्धारित की गई हैं। इससे कम अवधि वाला जीवन अपने पापों व दुष्कर्मों के कारण की अल्पायु होता है।

सौ वर्ष की आयु को, पवित्र आचार विचार अपनाने से, ब्रह्मचर्य पालन, संयम, सादा आहार विहार एवं समय-समय पर उपवास व्रत धारण करने से आगे भी बढ़ाया जा सकता है। जैसे रूसी वैज्ञानिकों ने चूहों की औसत आयु को दुगुना सिद्ध कर दिखा दिया है।

"भूयश्च शरद: शतम्" यह मन्त्र यही प्रदर्शित करता है।

वेदों में सौ वर्ष या इससे अधिक जीने का अधिकार एक मात्र उसी व्यक्ति को दिया गया है जो जीवन में सत्कर्म में निरन्तर जुटा हुआ है। अकर्मण्य व दुर्बल को यह अधिकार नहीं है। वेद में आगे कहा गया है कि ज ो सौ वर्ष जीने की अभिलाषा है तो—

"जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ्।" अर्थात सामने होकर जीवितो के प्रकाश को प्राप्त कर। जो मर गये हैं उनका क्या स्मरण और क्या चिंतन? उनसे हमें कुछ लेना देना नहीं है। लेना देना तो केवल जीवितों से ही है। अतः सामने आ। कर्मक्षेत्र में उतर, उद्योग कर और जीते जागतों से प्रकाश अर्थात् "महाजनोयेन गताः सः पन्थः" जिस मार्ग से महापुरुष गये हैं, उसी को अपना?

देख जीवतों ने कैसे प्रकाश प्राप्त किया है। तू भी अपनी ज्योति से उसे पहचान वैसा ही कर? यहाँ जीवित का तात्पर्य उस व्यक्ति से नहीं, जो कौवे की तरह केवल खाने के लिये जीवित है। ऐसा जीवन जो प्रकाश रहित है, जो स्वच्छता से हीन है, जिसमें दूसरे को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं रही, जिसमें दूसरों के लिये अपने को मिटा देने की सामर्थ्य नहीं, वह तो नाम मात्र के लिये ही जीवित है, मृतक सा ही है।

इसलिये जीवन की सार्थकता व्यक्त करते हुए मैंने एक जगह लिखा है:—

"मत बन सरिता जल गंगा तू—
मानव स्नान करें दिल खोल।
तन मन के संताप मिटें—
समझें जीवन का मोल॥
मुसाफिर जीवन है अनमोल॥"

कुछ पुण्यात्मायें शरीर त्याग के बाद भी अमर हैं। सुकरात, महात्मा बुद्ध, महर्षि दयानन्द, स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द इत्यादि।

"अव मुञ्चन मृत्यु पाशा न शस्तिम्।" (वेद)

गन्दगी रूपी मृत्यु के फन्दों को छोड़!" तुच्छ गन्दा जीवन वहन से तो मृत्यु ही श्रेष्ठ है। जहाँ अपवित्र आचरण वाला व्यक्ति मानसिक और शारीरिक मलिनता में फँस कर आयु को नष्ट करता है। वहाँ चरित्रवान् नियमित आहार विहार, ब्रह्मचर्य, संयमनियम में रहकर उचित

व्यायाम आदि साधनों से शरीर को शक्तिशाली व स्वस्थ बनाये रखता है। क्योंकि जीवन में कठोर कर्मों के लिये शक्तिशाली कठोर देह चाहिये। इसीलिये वेद ने कहा है:—

"अश्मा भवतु ते तनुः।" तेरा शरीर पत्थर के समान कठोर हो !" स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा ठीक प्रकार कार्य करने में समर्थ होती है।

अपना उद्धार व पतन मनुष्य के अपने ही हाथ में होता है। जहां श्रेष्ठ पुरुष अपने उद्धार में सतत सावधान व प्रयत्नशील रहता है, वहाँ नीच असावधान व अकर्मण्य होता है।

आत्मोद्धार के लिये काम क्रोधादि विकारों को सर्वथा त्यागना होगा पवित्र जीवन के लिये प्रभु का दर्शन, श्रवण, स्मरण और प्रवचन आवश्यक है। यदि जीवन के प्रत्येक लक्ष्य में, अणु अणु में व्याप्त रहे प्रभु को हम देखते रहें, संघर्ष और संगाम के कोलाहल से आकुलित संसार में रहते हुए भी यदि हमें क्षण क्षण में स्मरण हो कि विश्व को दर्शन शक्ति दे रहे प्रभु की दिव्य आंखें हमें देख रही हैं तो निश्चित ही हमारे कर्म शुभ होंगे रही सही अशुभ प्रवृत्ति भी दूर हो जायगी और हममें एक नये दिव्य जीवन की अनुभूति होने लगेगी।

"मनुष्य की आयु बहुत कुछ उसके कर्मों से नापी जाती है। उसका भाग्य भी कर्मों से ही बनता है।" भाग्य और आयु दोनों मनुष्य के कर्मों पर निर्भर हैं। शुभ व पुण्य कर्म करने से भाग्य व आयु दोनों बढ़ते हैं।

शुभ कर्म और सद्विचार अपनाने से मानव देह जीवन रस बढ़ने से सुन्दर पुष्प की तरह खिल उठती है, सुख शान्ति बढ़ती है, सन्तुलन स्थिर होता है ओज की वृद्धि होती है और यही सब कुछ उज्जवल भाग्य और दीर्घायु के लिये परमावश्यक है। प्रत्युत कुत्सित कर्म व विचार अपनाने से मानव देह जीवन रस घटने से मुर्झाये फूल की तरह हो जाता है, व अशान्ति चैन नहीं लेने देती, सन्तुलन बिगड़ जाता है, चेहरे पर उदासी छाई रहती है और यही सब कुछ उसके दुर्भाग्य एवं अल्पआयु का कारण बनता है।

यह बात याद रखने की है कि जो सदैव सद्विचार, सद्भाव और सत्कर्म में संलग्न है, वही पूर्ण जीवित है और निरोग रहकर अपनी जीवन यात्रा दीर्घकाल तक तै कर सकता है। कोई भी चीज देखिये मलिनता से शीघ्र नष्ट हो जाती है।

एक छोटा सा उदाहरण—

आपने अपना कोट सिलवाया। वह निरन्तर उपयोग में लाया जाता रहा परन्तु कभी उसकी धुलाई नहीं की। धूल आदि मैले की तह उसपर बन गई। धीरे धीरे उसके रेशे सख्त होकर टूटने लगे। कोट फटना आरम्भ हो गया। इस प्रकार बिना धुलाई व सफाई के वह केवल छै मास में ही फट गया, समाप्त होगया। अब आपने दूसरा नया कोट सिलवाया। उसकी आप खूब देख रेख कर रहे हैं। जरा सी धुल पड़ने पर उसे झाड़ पौछ साफ कर देते हैं। जरा सा मैला होने पर उसकी धुलाई कर देते हैं। अपने कोट की मलिनता के विषय में अब आप सचेत हैं। सदैव ही वह अब साफ सुथरा दिखाई देता है. और इससे आपके शरीर में भी रौनक दिखाई देती ह। इस प्रकार यह नया कोट कम से कम एक वर्ष तो सही हालत में आपकी रौनक बढ़ाता रहा, जहाँ कि पहिले वाला कोट गंदगी के कारण केवल छै मास में ही फटकर जवाब दे गया। इस प्रकार "शुद्ध जीवन से सुख शान्ति रौनक और दीर्घायु सिद्ध की गई।"

वेद में भी बल पूर्वक कहा गया है—अपने उपरोक्त सत्य सिद्धान्त के लिये मैं यहाँ वेद का प्रमाण देता हूँ—

"अत्राजहीमो आशिवाये ऽसन्।"

जो गंदा हो गया है, अपवित्र है, उसे यहीं और अभी छोड़ दें।"

शुद्ध व स्वस्थ रहकर सत्कर्मों के करते हुए ही मानव जीवन दीर्घायु हो सकता है। इसके लिये ब्रह्मचर्य और संयम आवश्यक है। एक बार बड़ौदा कालेज के छात्रों के विदाई भोज में भाषण करते हुये महर्षि अरविन्द घोष ने कहा था—

"सब सत्यों का निचोड़ तुम्हारे सम्मुख सिर्फ एक ही सत्य है कि निर्बलता से बढ़कर पाप जीवन में कुछ नहीं है । तुम्हारे सारे मुक्ति अभियान, इसी के लिये हों । यही मेरी कामना है ! यहाँ तुम इस कुम्भकर्ण से मुक्त हो गये, इसे तुमने जीत लिया, वहां तुम संसार के बड़े २ गौरव को अनायास जीत लोगे ।"

"संसार का साम्राज्य केवल वीर्यवानों के लिये ।
जीवन सफल हो, अन्त में है मोक्ष भी उसके लिये ।।"

श्रद्धेय स्वामी दयानन्द जी के तेजोमय बलिष्ठ शरीर को देखकर एक जर्मन दार्शनिक ने पूछा " स्वामी जी ! क्या प्रत्येक व्यक्ति आप जैसा सुन्दर शरीर और प्रतीप्त प्रतिभा प्राप्त कर सकता है । ?" स्वामी जी मुस्कराते हुए बोले—" जो जैसा २ चाहता है वैसा बन जाता है । दुःख यही है कि मनुष्य केन्द्रित भाव से कुछ चाहता नहीं । तुम दृढ़ संकल्प करो । संयम को अपनाओ ! एकाग्रचित्त से मन में सुस्वास्थ्य एवं सुबुद्धि की तेजोमयी मूर्ति प्रतिष्ठापित करो, तो उस मूर्ति के अनुरूप ही तुम्हारा सारा तन मन बन जायगा और यह सत्य है, अपनाकर परख लो ।"

ओ३म् तत्सत्

घूँट ७

प्रगति शील जगत में मानव यात्रा ।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥" (गीता)

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

"हे अर्जुन ? ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठ कर (सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा अन्यत्र) माया से प्राणी मात्र को ऐसा घुमा रहा है, मानो सभी किसी यन्त्र पर चढ़ाये हुये घुमाये जा रहे हों। इस प्रकार यह कर्मात्मक भवचक्र निरन्तर गतिशील है। 'जगत का अर्थ ही है प्रगतिशील।"

—निरन्तर आगे बढ़ने वाला। और सर्वव्यापी एक अनन्त चेतना शक्ति उसे निरन्तर गति शील किये हुए है।

जिस प्रकार विद्युत, पावर हौस (शक्ति स्रोत) से निकल कर भिन्न २ तारों में होती हुई अनेक माध्यमों द्वारा स्थान-स्थान को प्रकाशित करती है, ठीक इसी प्रकार सृष्टि के भिन्न-भिन्न अंगों (स्थानों) में एक ही आध्यात्मिक (विद्युत) प्राणशक्ति काम कर रही है। और उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण प्रकृति अन्नत लोक शक्तियों के साथ एक निश्चित योजनानुसार एक मर्यादा के अन्दर रह कर प्रत्येक क्षण नव जीवन का निर्माण करती हुई आगे बढ़ती दिखाई देती है। इस प्रकार प्रकृति में कहीं भी आलस्य व स्वच्छन्दता (जैसे आज मानव में देखी जा रही है) नहीं है। प्रकृति के इस विकास क्रम में कहीं क्षण भर के लिये भी रुकावट नहीं होती।

प्रभु की यह कार्य कारणी शक्ति न तो स्वयं बैठना जानती है और न अपने किसी अंग को भी बैठाये रखना चाहती है। यह ईश्वरीय विधान यथार्थ और अतर्क्य है। प्रकृति की इस चेष्टा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति भी स्वयं कर सकता है।

आपको विदित ही है कि किसी की प्रतीक्षा में थोड़ी भी देरी होने से आप ऊबने लगते है, आपको बेचैनी और भारीपन सताने लगता है। उस समय या तो आप इधर उधर टहलने लगेंगे या उदासी में जम्भाई या अंगड़ाई लेने लग जायेंगे। इससे आपकी कुछ बेचैनी दूर होकर सुख का अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि रुकने से जड़ता आ घेरती है। कार्य बन्द हो जाता है। अतः सक्रियता ही जीवन है और अक्रियता (अकर्मण्यता) ही मृत्यु है। इसीलिये कहा है—गति ही जीवन है, या जीवन का चिन्ह ही गति है—"Life is movement"।

मनुष्य की हृदय धड़कन (Heartbeat) अबाध रूप से चल रही है, जहाँ क्षण भर भी रुकी नहीं कि मृत्यु हो जाती हैं। इसीलिये निरन्तर चलते रहना ही जीवन का धर्म है। मनुष्य का भाग्य भी निरन्तर कर्म करते रहने में निर्भर हैं। इसमें भी कुछ रुकावट या ढील आने पर भाग्य मन्द पड़ जाता है, उसका मूल्य गिर जाता है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा है :—

Fortune is like the market, where many times, if you can stay a little, the Price will fall" कि भाग्य मार्केट या वस्तुओं की व्यापार मण्डी की तरह है, जब तक माल का आवागमन जोरों पर होता है खूब चहल-पहल देखने में आती है, इसमें जरा सी भी मन्दी नहीं कि मूल्य गिर जाता है।"

आप देखते हैं कि जिस मशीन से बहुत दिन तक काम नहीं लिया जाता उसके भिन्न २ पेच पुर्जे विकार ग्रस्त हो जाते हैं। जिस अंग का भी वहुत कम प्रयोग किया जायगा वही विकार ग्रस्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार हमारा जीवन यन्त्र भी है। जिस भाग या अंग का कम उपयोग किया जायगा वही विकार ग्रस्त हो जायगा। फिर आवश्यक उपचार से उसे ठीक करना पड़ता है। यहाँ तक कि हृदय भी वेकाम हो जाने से अब बदला जा सकता है, परन्तु यदि खराबी अधिक आ गई है तो प्रकृति सारे शरीर को ही बदलने के लिये वाध्य हो जाती है। सारी मशीन ही जब खराब हो जाती है, तो उसे दूसरी बदल कर ही ठीक किया जाता है। अतः चलते रहने में ही जीवन की सार्थकता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह जब किसी नये मार्ग के लिये तैयार होता है तो पहले कुछ भय व संकोच करता है, परन्तु जब उस पर चलना आरम्भ कर देता है तो प्रतिकूल परिस्थिति भी अनुकूल हो जाती है, और चलते २ सुख अनुभव करने लगता है, यहाँ तक की कठिनाईयाँ भी दूर होती जाती हैं। चलने वाले की गति में तेजी और उत्साह दीख पड़ता है। मशीन का हर एक पुर्जा काम कर रहा है, कोई भी अंग चुप नहीं है। चलते चलते नये शकुन व अनुभवों की अनुभूति होती है और उसे स्वयं अनुभव होता है कि कोई अदृश्य शक्ति उसे राह दिखाती जा रही है—God helps those who helf them selves, जो अपनी मदद आप करते हैं परमात्मा भी उन्हीं की मदद करता है।

इस प्रकार चलने वाले के जीवन प्रवाह में नित नई आशा व नई उमंगों की तरंगें उठती नजर आती हैं, जो उसे सफलता की अग्रिम मंजिल तक ले जाती हैं और यही है मनुष्य का सार्थक जीवन-पथ। इसके प्रत्युत गति हीन जीवन मतिहीन व भाग्यहीन होकर मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठा रहता है। वास्तव में यह जीवन नदी की धारा के समान ही है, प्रवाह रुकते ही मिठास की समाप्ति के साथ अस्तित्व ही मिटने को होता है।

पैर उठने के साथ ही मनुष्य का भाग्य जागता है और बैठने के साथ ही सोता है। यह बात नितान्त सत्य है। श्री स्टिरनर एक महान विचारक हो गये हैं। उन्होंने बड़े और छोटे व्यक्तियों में यही भेद माना है कि एक तो प्रगतिशील होता है; दूसरा घुटने टेके पड़ा रहता है। उन्होंने कहा है- जिन्हें हम अपने से बड़ा मानते हैं, वे इसलिये बड़े है कि हम अपने घुटने टेके पड़े हैं, हमें उन जैसा बड़ा बनने के लिये उठ जाना चाहिये।

"The great are great only, because weare on our knees है Let us rise."

मानव प्रकृति भी विश्व प्रकृति के समान है, जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है, जो गुण ब्रह्माण्ड के हैं वे ही पिण्ड के भी हैं। हमारे

ऋषि महर्षियों ने इसीलिये ब्रह्माण्ड जैसा ही इस शरीर को भी पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु) समुदाय माना है।

"ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति पिण्डमध्येचते स्थिताः।"

अतः यह मानव जीवन प्रकृति का एक अंग है। प्रकृति द्वारा उसका पोषण तभी तक ठीक-ठीक होता रहता है, जब तक वह अपने प्राकृतिक गुण धर्म को धारण किये हुये है। अप्राकृतिक होते ही अस्वस्थता और विविध विकार ग्रस्त हो जाता है अधिक होने पर फिर विनाश निश्चित।

"यही है जगत प्रगति और मानव जीवन के आपसी सम्बन्ध का रहस्य।"

प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने प्रकृति की इस मूल प्रवृत्ति को लक्ष्य करके कहा था कि प्रकृति अपनी प्रगति और विकास क्रम में रुकना नहीं जानती और प्रत्येक निष्क्रिय, निरर्थक वस्तु को हठपूर्वक नष्ट कर बाहर फेंक देती है— Nature Knows no pause in her progress & development & attaches her Curse on all inaction."

प्रकृति में उगे अन्य पेड़ पौदों की तरह मानव जीवन में जब तक आगे बढ़ने की क्षमता है, तब तक उसकी स्वाभाविक शक्तियों के साथ साथ प्रकृति की समस्त शक्तियां उसके विकास में पूर्ण सहयोग देती रहती हैं और ज्यों ही उसमें कुछ ढील आनी आरम्भ हुई कि प्रकृति उसका संसार से अस्तित्व ही मिटाने पर तुल जाती है (कैन्सर आदि कोई घातक रोग होकर मनुष्य चल बसता है)। प्रकृति में निश्चेष्ट व निर्जीव के लिये कहीं जगह नहीं है। अतः प्रकृति में सहयोग रखने के लिये उत्तरोत्तर विकासशील होना ही प्राकृतिक जीवन का आदर्श है।

मनुष्य को यदि प्रकृति से सहयोग रखते हुये सुखमय जीवन बिताना है तो उसे प्रत्येक क्षेत्र में आगे आगे बढ़ना आवश्यक है। सारे व्यावहारिक जगत् में, यह भावना आबाध रूप से कार्य कर रही है। विपरीत परिस्थि-तियों में संघर्षों के बीच से प्रतियोगिता करते हुये जो आगे बढ़ जाता है,

वही जीवन में स्वाधीन और विजयी होता है। प्रत्युत भय या आलस्य वश जो अपनी जान बचाने के लिये, जीवन संग्राम से दूर रहता है, वह अपने स्थान पर भी सुरक्षित नहीं रहता। वह या तो लड़-खड़ा कर गिर जायगा या पराधीन हो जायगा।

अत निरन्तर परिश्रम ही जीवन है रुकावट आने पर मृत्यु शीघ्र। "Your life is continuou work" सतत कर्म रत रहना ही जीवन है। जगद् गुरु शंकराचार्य ने कहा हैं:—

"जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यतो यः।"

जो निरुद्यमी है, वह जीते जी मृतक तुल्य है।'

अपने लक्ष्य को निर्धारित कर अपनी जीवन नौका को खेते-खेते आगे-आगे बढ़ते रहो, इस सफर में विश्राम का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

एक उर्दू शायर ने कहा है—

'समझे अगर इन्सान तो दिन रात सफर है।"

जब जीवन यात्रा में सफर करने का टिकट तुम्हारे पास है, जो गाड़ी में क्या रात व क्या दिन।

विश्व विख्यात महान् उद्योगपति स्वर्गीय हेनरी फोर्ड ने अपनी आत्म कथा नामक पुस्तक में लिखा है—

"Life as I See it, is not a location, but a journey. Even the man who most feels him self 'Settled' is not settled—he is probably sagging back-life flows.

(My life & work)

अर्थात् जहां तक मैं समझता हूँ, जीवन कोई पड़ाव नहीं, बल्कि एक यात्रा है, जो व्यक्ति इस प्रकार का विश्वास करके सन्तोष कर लेता है कि अब मैं ठीक ठिकाने से जम गया हूँ, उसे किसी अच्छी स्थिति में नहीं मानना चाहिये, ऐसा व्यक्ति सम्भवतः अवनति की ओर जा रहा है। गतिशील होना ही जीवन का लक्ष्य है।"

पूछा जाता है कि मनुष्य को कर्म करते हुये, आत्मोन्नति के लिए किस मार्ग की ओर बढ़ना चाहिये ?

मेरे विचार में इसका सही उत्तर यही है कि जिसमें जिसकी अधिक उन्नति होने की सम्भावना हो, अधिकरुचि आत्मोद्धार के लिये जिसमें हो, उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न शोभा देती है, न सुख व ऐश्वर्य देती है, न उसके हित के लिये ही है और आगे चलकर न शुभफल देने वाली होती है।

वास्तव में मनुष्य का शरीर तो एक ही दिशा में बढ़ सकता है; परन्तु उसका बहु मुखी जीवन अनेक दिशाओं में बढ़ता है। इस प्रकार जीवन का आकार शरीर से कहीं अधिक विस्तृत है और उसकी प्रगति का क्षेत्र भी विशाल है। मनुष्य को अपनीजीवन यात्रा में कई मार्गों से एक साथ बढ़ना पढ़ता है।

लोक व्यवहार में उन्नति शील प्राणी को ज्ञान पूर्वक सत्यमार्ग पर चलते रहना ही श्रेयष्कर है। क्योंकि असत्य, अज्ञान और अन्धकार में पग-पग पर उसके हृदय में दुर्भावनाऐं जाग्रत होती हैं जो सत्य मार्ग में आगे बढ़ने से रुकावट डाल उसे पतन गर्त्त में जा ढकेलती है।

अज्ञानान्धकार से निकल कर ज्ञान की ओर चलना ही प्रकाश की ओर बढ़ना है ज्ञान के प्रकाश से ही मनुष्य की भ्रांति, शंकाऐं, भय, जड़ता और अकर्मण्यता नष्ट होते है और सात्त्विक वृत्तियाँ जागती हैं।

"भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वपनम्।"

(यजुर्वेद)

अर्थात् जागना ऐश्वर्यप्रद और सोना ऐश्वर्यनाशक है। जागने का अर्थ ज्ञानयुक्त होना और सोने का अर्थ है ज्ञान हीनता। अतः ज्ञान का मार्ग वास्तव में जीवन के जागरण का मार्ग है, जिसमें मानव का सारा विकास निहित है।

प्रकृति मनुष्य को नीति पथ पर चलने की शिक्षा देती है, क्योंकि वह स्वयं भी इस क्रम में बन्धी हुई है। उसमें कहीं भी स्वच्छन्दता नहीं देखी जाती। इसी प्रकार मानव में भी स्वच्छन्दता प्रकृति के प्रतिकूल है। जिस प्रकार प्रकृति का सारा कारोबार संयमनियमपूर्वक सुन्दर ढंग से चलता है। उसी प्रकार मानव को भी होना जरूरी है।

यह सारी सृष्टि, सारी प्रकृति, सारा प्राणी जगत् एक के लिये नहीं सबके लिये बराबर है। मानव के लिये प्रकृति है और प्रकृति के लिये मानव है। प्रत्येक की सुदरता संयम नियम पालन क्रम में निर्भर है। स्वच्छन्दता तो विकार व विनाश की जड़ है, जो सर्वथा असहनीय है। इसलिये मनुष्य को नैतिक जीवन में सज्जनों का सनातन मार्ग अपनाना सब प्रकार हितकर और श्रेयष्कर है।

मानव जीवन में उन्नति करते हुये, हृदय से सबके साथ मिल एक होकर रहना ही कल्याणकारी है।

"सुख प्रेम से जीवन जगत मिलिएक, हो खिलातारहे।
'सियराम'–चरणारविन्द मधु, मानव-मधुप पीता रहे॥"

यही 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का भाव भी है। इस प्रकार एकता की भावना से चलने वाले को संसाररूपी विकट पथ में अनेक सहयात्री मिल जाते हैं। मनुष्य जीवन के विकास में वे उतने ही सहायक होते हैं, जितने कि जीवन निर्माण में पंचतत्त्व। हम जितनी अधिक एकता की भावना से जीवन में आगे बढ़ेंगे उतने ही प्रभावशाली और शक्तिशाली बनकर लोक कल्याण में सहायक सिद्ध होंगे।

एक अंग्रज कवि ने कहा है:—

"No man is useless, While he has a friend,"

(Stevenson)

कि किसी का जीवन संसार के लिए जब तक व्यर्थ नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसे चाहने वाला एक भी उसका मित्र मौजूद है।"

सांसारिक जीवन में मंगलमयी शान्ति की स्थापना शिक्षा, सुमति, प्रेम, सहानुभूति और सत्कर्म से ही सकती है। मानव जीवन के कुछ सिद्धान्त हैं, कुछ निश्चित मार्ग है। उनके अनुसार चलने से ही जीवन का स्वाभाविक विकास हो सकता है और मनुष्य को उन प्राकृतिक शक्तियों की सहायता मिलती है, जो स्वयं इसी दिशा में कार्यरत हैं। छोटे छोटे उद्देश्य हीन कार्यों में बुद्धिमान अपने अनमोल जीवन की घड़ियों को खर्च नहीं करते।

संसारपथ में विचरते हुये जीवन यात्री को विकट पथों में गुजरते हुये पथ प्रदर्शकों की आवश्यकता तो होती ही है। अपरिचत मार्ग के विषय में बिना पूछ ताछ किये बिना पथप्रदर्शक की सहायता लिये आगे नहीं बढ़ा जा सकता। सहायता लेने में ही बुद्धिमानी है। एक अंग्रेजी कहावत है—He goes a stray who never asks, जो कभी पूछता नहीं, इधर उधर भटक जाता है।"

सबसे बड़ा पथप्रदर्शक व रक्षक मानव का धर्म ही है।

"धर्मेमतिर्भवतु वः सततोत्थितानाँ।"

(वेदव्यास)

सर्वदा उन्नति चाहने वाले, तुम्हारी मति सदा धर्म में लगी रहे। क्योंकि मनुष्य के सभी कर्म मार्ग एक मात्र धर्म से ही निकलते हैं।

प्राणियों की अभिवृद्धि के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है; अत: जो प्राणियों की अभिवृद्धि का कारण है, वही धर्म है। लोक यात्रा में चलते हुये धर्म-नियम का पालन ही सब प्रकार श्रेयष्कर है। बिना नियम के तो कोई काम सुन्दरता से हो ही नहीं सकता। अतः धर्मानुकूल आचरण करना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है।

वेद के तत्वों को लेकर स्वामी दयानन्द जी ने आर्यसमाज की स्थापना की और इस प्रकार धर्मभ्रष्ट समाज को महान् विनाश से बचा दिया। धार्मिक सिद्धान्तों को ही व्यावहारिक रूप देकर गाँधी जी ने नव भारत की रूपरेखा तैयार की थी। जो अधार्मिक प्रवृत्ति के कारण विनाश की ओर आज बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है यह सब कुछ हमारे अधर्मरत होने से हो रहा है:—

समझ में नहीं आता गांधी का वह नव भारत आज किस विपरीत दिशा की ओर मुड़ चला कि—

"उपचार भी सूझत न कुछ, आचार ही जब भ्रष्ट है।
रक्षक रहा जो साथ था, वह धर्म ही जब नष्ट है।"

आज भारत में चारों ओर अव्यवस्था, अनाचार, असुरक्षा, स्वेच्छाचारिता और आशन्ति का बोल बाला है, जो एक मात्र किसी महान् संकट

का सूचक है। आज भारत राष्ट्र को एक मात्र सुव्यवस्था और शान्ति व्यवस्था की भारी भूख है, जिसको केवल स्वधर्म पालन से ही पूर्ण किया जा सकता है।

"The Country is hungry for order & a little peace"

धर्म कभी पुराना नहीं होता। समय २ पर परिस्थिति व युग के अनुसार सिर्फ उसमें नये विचारों की पुट दी जाती है, जिससे उसकी महत्ता और बढ़ जाती है। पुरानी आत्मा को नया शरीर चाहिये। धर्म व आत्मा सदा अमर हैं। विनाश केवल पुराने शरीर का होता है। वस्त्र पुराना होने से उसकी जगह नया वस्त्र पहिना जाता है। ठीक इसी प्रकार पुराने धर्म को नये विचारों से संयुक्त करना पड़ता है। तभी धर्म भी प्रगतिशील कहा जाता है।

"येनास्यपितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन या यात्सतां मार्गं तेस गच्छन्नरिष्यते ।।"

(मनु०

जिस मार्ग से बाप दादे चले हों, उस सत्पथ से आप भी चलें। उस मार्ग से चलने से दोष भागी नहीं होना पड़ता।

अपनी लोक यात्रा में चलते हुए मनुष्य को उत्तम साहित्य अध्ययन की भी नितान्त आवश्यकता है। इससे उसको पर्याप्त सहायता मिलती है और वह स्वावलम्बी बनकर निरन्तर उन्नति करता हुआ अपनी यात्रा में सुख व शान्ति पूर्वक आगे बढ़ा चला जाता है। उच्च विचारों को ग्रहण करने के लिये अपनी बुद्धि को उत्तेजित व विकसित करना पड़ता है, इसके लिये भी अध्ययन आवश्यक है।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

(कठोपनिषद्)

उठो! जागो! और सद्पुरुषों के पास जाकर उनसे जीवन के रहस्य को समझो! इस दिशा में सद् साहित्य भी वहुत कुछ सद्पुरुषों जैसा ही मार्ग दर्शक कराता है।

बुद्धिमान ही अपने से बड़ों के अनुभवों से लाभ उठाता है। उनके आदेशों और शिक्षा से बुद्धिमान अपने धुंधले भाग्य को चमकाने में समर्थ

होता है। श्रेष्ठपुरुषों के आदर्शों को ग्रहण करना सव प्रकार श्रेयष्कर है। उनके चरित्र से एक बड़ी शिक्षा तो मिलती है कि जिस कार्य को भी मनुष्य करना चाहे वह कर सकता है और जैसा बनना चाहे, बन सकता है।

"Where there is a Cart a head there is track" यह अंग्रेजी की कहावत है, जिसका अर्थ है कि जहाँ आगे गाड़ी दीखती है, वहाँ उसके पीछे रास्ता भी अवश्य होगा।" उस रास्ते से हमारा जीवन शंकट (गाड़ी) भी वहां तक अवश्य पहुँच जायगा। इसीलिये तो कहा भी है— 'महाजनो येन गत: सपन्थ:।" इसका आशय यही है कि महापुरुषों के बताये मार्ग पर चलना ही बुद्धिमत्ता हैं।

जीवन के मंगलमय मार्ग पर लगातार चलते रहना ही बुद्धिमानी है जिस कर्त्तव्य मार्ग पर चलने से जीवन विकसित और उन्नत होता है उसी में निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही सब प्रकार श्रेष्ठ है। उसमें पाप का भय नहीं होता, न विनाश की ही कोई शंका होती है। सन्मार्ग पर चलने से दुर्गति की आशंका भी नहीं रहती। यही पुण्यमार्ग है।

फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने कहा है:—

"If god had in tended man to go behind, He would have given him eyes in the back of his head." यदि परमात्मा ने मनुष्य को पीछे की ओर चलने के इरादे से बनाया होता तो वह उसकी आँखें आगे न बनाकर शिर के पीछे की ओर बनाता।"

निरन्तर प्रयत्नशील को सफलता अवश्य मिलती है। महर्षि वशिष्ठ का मत है कि जो जिस पदार्थ को पाने की इच्छा करता है, उसको पाने के लिये वह निरन्तर यत्न करता है और वह उसे अवश्य प्राप्त करता है, यदि बीच से प्रयत्न त्याग न दें।

जीवन यात्री को भय बाधाओं की पर्वाह न करते हुए निरन्तर आगे बढ़ने से ही सफलता मिलती है। गुलाब के सुन्दर पुष्प प्राप्त करने के लिये कांटों में हाथ डालना ही पड़ता है। सागर में से मोती निकालने के लिये बहुत गहरी डुबकी लगानी पड़ती है, तभी मोती हाथ में आते हैं। युद्ध में दुश्मनों से टक्कर लेने पर ही सैनिक वीरता को प्राप्त होता है।

जहां दुर्बलों व कायरों के लिये भवमार्ग भयंकर व बाधापूर्ण लगता है, वहाँ शक्तिशाली वीरों को वही गौरव का बायस बनता है, क्योंकि वीरता का ताज केवल वही उन पर सुशोभित किया जाता है। क्योंकि वीरों की परीक्षा संघर्ष, सङ्कट व बाधापूर्ण युद्ध क्षेत्र में ही हुआ करती है। वीर आगे बढ़कर वार करना जानता है, कायर की तरह पीठ दिखा भागना नहीं जानता।

"पथिक प्रेम की राह अनोखी—
सम्हल सम्हल कर चलना है।
घनी छाँह है, यदि ऊपर तो,
नीचे कांटे बिछे हुए ॥ (प्रेमपथिक)

इस भव पथ पर चलते हुये मनुष्य को कई चोरों से अपने को सुरक्षित रखने में निरन्तर सावधान रहना आवश्यक है। उनमें काम, क्रोध, मद, मोह, अहंकार, लोभ व व्यसन मुख्य हैं। ये चोर बड़े बड़े बुद्धिमानों के यहाँ भी चोरी करने में प्रसिद्ध हैं। इनसे वचने का सरल मार्ग यही है कि मन को सदा किसी सद्विचार व सत्कर्म में जुटाये रक्खो, क्षण भर में उसे खाली रहने का अवसर न मिले। क्योंकि मन का खाली रहना ही उक्त चोरों को अपने घर में बुलावा देना है।

नेपोलियन ने एक बार कहा था कि निरर्थक जीवन बड़ा बोझ है— An useless life is a heavy burden."

आलस्य ही निर्धन और मूर्खों का मित्र है यदि इस संसार से वह मित्र उठ जाय तो चारों ओर जगत् में विद्वान् व धनियों के होने से चहल पहल व सुख शान्ति का बोलवाला हो जाय। जीवन यात्री का आलस्य महान् बाधक है, इसमें विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है।

"अन्तःकरण बलवान् होने से ही जीवन पथ की समस्त संकट व बाधायें दूर होती हैं।" बलवान् अन्तःकरण ही मनुष्य का प्राण सखा है, जो हर समय उसकी सहायता के लिये तत्पर रहता है। शुक्राचार्य के मत से:—

"विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च—
बलं धैर्यं च पंचमम्।

मित्राणि सहजान्याहु—
र्वर्तयन्ति हितैर्बुधा: ॥''

अर्थात् विद्या, पराक्रम, दक्षता, बल और धैर्य—ये पाँच मनुष्य के सहजमित्र हैं, क्योंकि बुद्धिमान लोग, इन्हीं के सहयोग से काम चलाते हैं।

विद्या और कला जीविकोपार्जन के लिये ही नहीं होते, अपितु समस्त जीवन को उज्जव व सुखी बनाने के लिये भी आवश्यक है।

"सर्वं विद्या स्वनभ्यासो जराकारी कलासुच।"

(शुक्राचार्य)

समस्त विद्या और कलाओं का अभ्यास न करना, वृद्धावस्था का एक कारण है। क्योंकि इन्हीं से जीवन शक्ति बढ़ती है और श्रमित व थकित अंग प्रत्यंगों को विश्राम व स्फूर्ति प्राप्त होती है। यदि इनका अभ्यास छूट गया तो जीवन शक्ति का ह्रास आरम्भ हो जाता है।

पेड़ पौधों में नई जीवन शक्ति को प्रत्यक्ष देखिये, जब तक उनमें से नई २ कोपलें फूटती रहती हैं, तब तक वे तरुणाई में झूमते दिखाई देते हैं और ज्योंही वह क्रम बन्द हुआ कि वृद्धत्व घेरता है।

इसी प्रकार मनुष्य अपनी विद्या व कला में नया नया रूप रंग देता है, वह तब तक युवक बना रहता है। जब उसका यह अभ्यास टूट जाता है, वृद्धावस्था आ घेरती है। भावार्थ यह कि कर्म, कला व विद्या का अभ्यास ही मानव को युवक सा बना रखता है और जिस दिन उसका यह अभ्यास टूट जाता है, तभी वह वृद्ध न होने पर भी वृद्धत्व का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार उत्तम गुण मनुष्य को कहीं से कहीं पहुँचा देता है। जहाँ दुनियां का सबसे बड़ा धनी भी नहीं पहुँच सकता। कलाधर इसीलिये शिव के मस्तक पर विराजमान है। महान् राजनीतिज्ञ इंगलेंड निवासी श्री विण्टसन चर्चिल एक श्रेष्ठ चित्रकार भी थे, जिनको आज बड़े २ मूल्यों पर खरीदा जा रहा है। श्री चर्चिल दीर्घायु भोग संसार में अमर हो गये हैं।

अन्त में इस जीवन यात्री का सबसे बड़ा पथ प्रदर्शक उसके भीतर रहने वाली उसकी पवित्र अन्तरात्मा है। वही उसमें प्रत्येक कर्म की प्रेरक है।

जिसको करने की वह आज्ञा देवे वही कर्म है, आज्ञा न मिलने पर अकर्म समझो।

"केनापि देवेन हृदि स्थितेन—
यथा नियुक्तो ऽस्मि तथा करोमि।"

मेरे भीतर किसी अज्ञात देवता का वास है, वह मुझसे जैसा करवाता है वैसा करता है।" (ऋषिवाणी)

और यही आत्मज्ञान का रहस्य है।

अन्यथा पूर्व काल में जो सूर, तुलसी, सुकरात, ईसूमशीह आदि आत्मज्ञानी हुये हैं, वे कैसे हुए होते उनके पास कोई बी० ए०, एम० ए० की डिग्री तो थी नहीं, फिर भी डिग्रीधारियों को मात कर गये। वास्तव में उस आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये लौकिक डिग्री की जरूरत नहीं होती। सिर्फ उस अन्तरात्मा के श्रवण, मनन, चिन्तन में अटल श्रद्धा और निरन्तर।

"पल पल घड़ी नित मन भ्रमर—
प्रभुनाम मधु पीता रहे।
सत्कर्म में संलग्न हो—
जब तक कि जग जीता रहे॥
अरुण रबि के साथ दिन—
उत्साह ज्योति भरी रहे।
निज हृद् कमल में नित नई—
आभा तरंग खरी रहे॥
सुख प्रेम से जीवन जगत्—
मिलि एक हो खिलता रहे।
'सियराम' चरणारबिन्द मधु—
मानव-मधुप पीता रहे॥"

इस प्रकार की भक्ति-आस्था हो।

ओ३म् तत्सत

घूँट—८

जीवन में श्रद्धा का महत्व

मनुष्य जीवन में अटल विश्वास या श्रद्धा अपनाने से ही महानता को प्राप्त हो सकता है। इसी से असम्भव को सम्भव में परिवर्तित किया जा सकता है।

एक समय कुछ यात्री नौका में सवार कहीं जा रहे थे, अचानक समुद्र में भारी तूफान व आंधी के मारे नौका डगमगाने लगी। सभी यात्री भय के मारे रोने चिल्लाने लगे। केवल एक यात्री खूब जोर जोर से हंस रहा था। लोग उस पर बहुत नाराज हो रहे थे, यहाँ तक कि उस यात्री की स्त्री उससे नाराज होकर उसे खूब दुत्कारने लगी।

आँधी तूफान शान्त हुआ, नौका किनारे लगी। सब यात्री अपने २ घर गये। घर में जाकर वह हँसने वाला यात्री भीतर से तलवार निकाल कर अपनी स्त्री (जो नौका में अपने हंसते हुए पति पर बहुत क्रुद्धित हो दुत्कार रही थी) पर टूट पड़ा, वह स्त्री अपने पति की इस कार्यवाही पर जोर २ हँसने लगी। इसपर पति ने तलवार को एक तरफ रख स्त्री से पूछा—"मैं तलवार से तुम्हें समाप्त करना चाहता था, तो तुम हँसने लगी ? बताओ तुम क्यों हँसी ?"

स्त्री ने तुरन्त उत्तर दिया—"मैं हँस इसलिये रही थी कि मेरे हृदय में अटल श्रद्धा थी कि मेरे प्राणपति मुझे कभी नहीं मारेंगें।"

तब पति ने कहा—"मूर्खे ! उस घोर तूफान व आँधी के बीच जब हमारी नौका डगमगा रही थी उस समय तुम मुझे हँसते देख नाराज हो बुरा भला कह रही थी; जब कि मुझे अपने प्राण प्रिय प्रभु पर यह अटल विश्वास था कि वह अवश्य ऐसे संकट में हमारी रक्षा करेगा और नौका को डूबने नहीं देगा, इसीलिये मैं हँस रहा था।"

विश्वास अटल जिसका उस पर, उसको पर्वाह नहीं होती ।
दुःख संकट आगे कितने हैं, जीवन-पथ दुर्गम कितना है ?
तूफान व आंधी उठती हो, मझधार में नौका फंसती हो । वि०
दावाग्नि धधकती बढ़ती हो, प्राणों की बाजी लगती हो ।। वि०
(लेखक)

प्रभु हमारे शब्दों में उच्चारित प्रार्थना को नहीं सुनते, वे तो प्रार्थी के हृदय की श्रद्धा को देखते हैं—वह सच्ची है झूठी ।

हमारी आत्मा जैसी श्रद्धा अपनाती है, वैसी ही वह बन भी जाती है और जितनी प्रबल शक्ति की वह श्रद्धा होगी उतनी ही प्रबलता से कार्य सम्पादन होगा । जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, ठीक उसी के अनुसार कार्य होता है । शिल्पी ने जैसा सोचा था ठीक उसी प्रकार भवन तैयार हुआ । चित्रकार ने जैसा चित्र बनाना चाहा वैसा ही वह बन जाता है । कुम्हार जिस प्रकार के बर्तन, घड़े, सुराही इत्यादि बनाने की सोचता है ठीक उसी प्रकार के वे बनते हैं ।

एक छोटा सा हरे रंग के पंखों वाला जीव होता है । गढ़वाली भाषा में उसे कुमाली कहते हैं । उसकी यह आदत है कि वह दूसरे जीव के अण्डे को लाकर एक सुरक्षित स्थान पर रखकर उसके चारों ओर एक मिट्टी का खोल सा (जैसे दीमक अपने रहने के लिये मिट्टी की बांबी बनाती है) बना देता है, जिसके एक सिरे पर दर्वाजा सा खाली स्थान छोड़ देता है । अब रात दिन उस बांबी के मुख पर कुमाली गुनगुनाती रहती है । करीब ३ दिन में ठीक कुमाली जैसा बच्चा बाहर निकल कर, अपनी इस नई माँ कुमाली के साथ उड़ जाता है ।

मनुष्य सोचता है कि उसी के पास मन्त्र शक्ति है जिसके प्रभाव से वह कुछ का कुछ बना देता है या दिखा देता है । ऐसा नहीं है । प्रभु की सृष्टि में यह श्रद्धा का एक मात्र चमत्कार अन्य जीवों में भी देखा जाता है । कुमाली का चमत्कार आपने ऊपर देख ही लिया ।

जप, चिन्तन, मनन आदि चित्त को एकाग्र करने के साधनों में यदि श्रद्धा की पुट नहीं है, तो सब निष्फल हो जाता है, इसी प्रकार मन्त्र कर्त्ता की श्रद्धा यदि मन्त्र में न हो तो मन्त्र अपने प्रभाव में निष्फल हो जाता है।

मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुसार जैसा चाहता है, बन जाता है। जैसी उसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका व्यक्तित्व बनता है। उसका चिन्तन कार्य कलाप आदि उसके अन्तस् श्रद्धा के अनुरूप ही बनते चले जाते हैं। श्रद्धामय पुरुष समझता है कि मैं एक सर्व व्यापी अनन्त शक्ति का ही एक अंश हूँ, जिसमें वही शक्ति है जो उस अपार शक्ति में है; फिर जब मेरे में वह शक्ति है तो कौनसा काम है जो मैं न कर सकूं ? यह सब कुछ करना मनुष्य की दृढ़ श्रद्धा पर निर्भर करता है। जिसने इस श्रद्धा को जीवन का वृहत प्रकाश समझा वह जीवन के घोर से घोर अन्धकार व संकट को सफलता से पार कर सकता है, क्योंकि क्षुद्र प्रकाश तो जरा से हवा व बाधा के झोंके से तत्काल बुझ जाता है। भंयकर अन्धकार को तो वृहत् प्रकाश ही दूर कर सकता है।

मनुष्य जीवन स्रोत ही जब उस अनन्त स्रोत से निकलता है तो फिर उसमें कमी किस बात की है ? हाँ कमी है तो उसकी दृढ़ श्रद्धा की। क्योंकि दृढ़ श्रद्धा वाला ही अपने जीवन स्रोत से जो चाहे प्राप्त कर सकता है। अपनी अटल श्रद्धा से इच्छा शक्ति को प्रवल बनाकर जो जन्मदाता सबका पिता है, वह भी तुम्हारा सेवक बना २ तुम्हारे पीछे फिरता रहेगा।

कर खुदी को बुलन्द इतना कि, हर तकदीर के पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है ?

आभूषण बनाना चाहते हो तो स्वर्ण को पहिले उस काबिल बनाओ इमारत बनानी है तो पहले पत्थर को ठीक तरह काट छांट कर ठीक बनालो। ऐ मित्र ! उसके पाने की यदि तुम्हें इच्छा है तो पहिले उसके लिये अपने आपको योग्य तो बनालो ! "कर योग्यता अपने में पैदा—

प्रभु नियम (हृदय श्रद्धा) द्वारा अटल।
स्वयमेव इच्छित वस्तु तब—
खिंच आयगी तुम में सबल।।"

हमारा यह शरीर एक बहुमूल्य खेत के समान है, जिसमें हम कर्म के बीज बोते हैं। खेत ही बीज को उगाता है। उसे पोषित व विकसित करता है और अन्त में नष्ट भी वही करता है। यदि अपने अन्दर की इस अमूल्य निधि को नहीं पहिचानेंगे और अपने जीवन स्रोत को बाह्य शक्तियों में खोजने में खर्च करेंगे तो यह जीवन कस्तूरी मृग के समान कस्तूरी को बाहर ढूंढने में भटक भटक कर नष्ट हो जायगा। और यदि हमने जीवन में श्रद्धा के दीप को दृढ़ता से जलाया तो यह दीप ही एक दिन वृहत् सूर्य भी बन सकता हैं, जिसके सामने घोर अन्धकार और आंधियां सब निष्फल हो जाते हैं।

श्रद्धा की एक छोटी सी अनुभूति भी हमें तुरन्त संताप मुक्त कर देती है। जीवन की यह अमृतोपम संजीवनी हममें उत्पन्न होते ही सब आधि व्याधि कापूर हो जाती है और हम एक नये जीवन का अनुभव करने लगते हैं। यह श्रद्धा-संजीवनी बाहर से लाने की चीज नहीं है, यह हमारे अन्दर ही उगती व पनपती है। और जीवन को कल्पवृक्ष का रूप देती है।

ऐ मानव ! आशाभरी वह श्रद्धा रूपी बीन निरन्तर तेरे हृदय में वज रही है, उसको सुनने का अभ्यास कर। बाहर की बीन सुनने को क्यों भटक रहा। अपने अन्दर की वीन की धुन में रम जा। और अपने अंग प्रत्यंग (मानव मात्र) के लिये उसके दरवाजे खोल दे, कि वे भी सुनकर तृप्ति का अनुभव करें ! सुनने दे उनको भी उनसे द्वेष क्यों करता है ?

किसी वस्तु के प्रति श्रद्धा होते ही वह वस्तु जीवित व शक्तिमान ही नहीं लगती वरंच उसके साथ ही सारा जीवन एक नई शक्ति और उमंग से भर जाता है। और यह सब कुछ उस आधार भूत मूर्ति, जिस पर श्रद्धा को आधारित किया है, के गुणों के अनुसार ही होता है। केवल आवश्यकता अपने को उस वस्तु या मूर्ति पर पूर्णतः निछावर करने की, उसपर अटल श्रद्धा रखने की। ओझाओं के मंत्रों, योगी, महात्मा व सज्जनों के आशीर्वादों में एक मात्र यही शक्ति कार्य कर रही है।

श्रद्धा के आगे तर्कवितर्क सब निष्फल हो जाते हैं। तर्कवितर्क का मतलब ही शंका है जिसके लिये श्रद्धा में कोई स्थान नहीं है। याद रक्खो

जब तक तर्कवितर्क के तराजू से तुम श्रद्धा को परखने का प्रयत्न कर रहे हो तब तक तुम श्रद्धा से कोसों दूर हो।

श्रद्धा पूर्ण समर्पण के बाद हमें अपने अन्दर एक नई उमंग या तरंग का अनुभव होता है, जो हमें श्रद्धा की ओर तेजी से खींच ले जाती है और तब इच्छित वस्तु के प्रति दृढ़ विश्वास होने लगता हैं और फिर प्रयत्न में और तेजी आजाती है और ऐसा लगता है कि वह वस्तु मूर्ति रूप हो चक्षुओं में नाच रही हो।

दृढ़ श्रद्धा होने पर कल्पित वस्तु भी साक्षात् मूर्ति धारण कर व्यक्ति के सामने उपस्थित हो जाती है—

एक फ्रांसीसी महिला को दुर्गास्त्रोत्र वीणा बजाते दुर्गा के प्रत्यक्ष दर्शन—

"कुछ वर्ष पीछे की बात है। एक फ्रांसीसी महिला सायंकाल के समय अपनी वीणा लिये टहलते २ समुद्र के किनारे एक निर्जन स्थान में बालू पर बैठ जाती है। उस सुखद निर्जन स्थान में उसने अपनी बीणा का मधुर राग दुर्गास्त्रोत्र में आरम्भ कर दिया। वह जैसे २ दुर्गास्त्रोत्र अलापती है, वीणा हाथ में लिये हुये दुर्गा का पूर्ण चित्र रेत में बनता चला गया। बाद में राग के बन्द होते ही चित्र भी लुप्त हो जाता है।"

जब जीवन में संकट व तूफानों के भँवर में तुम्हारी नौका डग मगाने लगे, आगे, आगे बढ़ने से रुक जाय और प्राण संकट में पड़ जाँय, तुरन्त श्रद्धा भक्ति से इस प्रकार दुर्गा की स्तुति करोः—

"अपारे महादुस्त रत्यंत घोरे,
विपत्सागरे मज्जतां देह भाजां।
त्वमेकागति देवि! निस्तार नौका!
नमस्ते जगत्तारिणी त्राहि दुर्गे!!"

इस प्रकार करने से देखोगे कि तुम संकट से पार हो गये हो। जीवन के सभी उपकरण—जिनमें प्रगति, शुभ कर्म, सज्जनता व साधुता की गणना

है, एक मात्र श्रद्धा के अवलम्बन पर ही जीवित हैं। तर्क वितर्क से श्रद्धा का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव भले ही हो, परन्तु अनुभति के बल पर हम उसे मूर्तिमान् अवश्य देख सकते हैं।

श्रद्धा हमें सिखाती है कि प्रभु के न्याय पर पूर्ण श्रद्धा रक्खो। उसका हर एक काम मर्यादित व न्याय अनुकूल ही हुआ करता है। यह सब लेखा जोखा उसी के साथ में है। वह अपने न्याय और हमारे कर्मो के आधार पर जो कुछ सुख व दु:ख हमें दे उसपर हमें पूर्ण संतोष होना चाहिये।

अपने प्रभु के प्रति श्रद्धा रखने से ही हमें मानव मात्र के प्रति श्रद्धा रखने की प्रेरणा मिलती है और तभी हम जीवन का गूढ़ अर्थ समझ सकते हैं।

"एको देवः सर्व भूतेषुगूढ़ः।
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा ॥"

सबके हृदयों में वही एक देव, अन्तरात्मा बनकर विराजमान है। उस अनन्त शक्ति को पहिचानो। उस विराट शक्ति में अपनी श्रद्धा स्थापित करोगे जो बाधा व संकटों या दुःखों, जो जीवन पथ में काँटे बनकर बिखरे पड़े हैं, सरलता से पार कर सकोगे। जैसी तुम्हारी श्रद्धा होगी वैसे ही बन जाओगे। देवता पर श्रद्धा रक्खोगे तो एक दिन तुम भी ठीक उसके समान वन जाओगे।

लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक साधारण व्यक्ति दिव्यशक्तिओं के अनुष्ठान से एक दिन सिद्धपुरुष वन जाता है और अपनी सिद्धि के बल पर जो चाहे कर सकता है या दिखा सकता है। जब हम अपनी दृढ़ श्रद्धा से उस सर्व व्यापी विश्वात्मा से सम्पर्क स्थापित करते हैं तो हममें अपार शक्ति की अनुभूति होती है, फिर उससे जो चाहे हम कर सकते हैं या दिखा सकते हैं। हम उससे पूर्णतः एकात्मता की अनुभूति करते हैं और उस एकात्मता से हमें विशद स्वरूप की अनुभूति होती है और इसीसे मनुष्य का जीवन पूर्ण विकसित हो सकता है। बिना स्वजीवन विकास के हम दूसरों के जीवन-विकास में सहायक भी कैसे हो सकते हैं ? दे तो वही सकता है, जिसके पास कुछ हो।

यह याद रखने की बात है कि जो मनुष्य विश्व सौन्दर्य के साथ एकाकार नहीं हुआ, वह जीवन का अर्थ क्या जाने ? फिर उसके लिये जीवन भार रूप बन जाता है। विश्व-सौन्दर्य के प्रति अनुराग विश्वात्मा की आराधना का ही दूसरा रूप है। हम इस सौन्दर्य के प्रति जितना अनुरक्त (घुल मिलते) होते हैं, उतना ही हम उस महान् सर्वव्यापी शक्ति के निकट आते हैं, जिसके हम एक अंश हैं और उसके समीप आकर ही हम उसकी इच्छा से उसका प्रिय कार्य करते हैं। आज तक जितने भी महापुरुष हो गये हैं, इन सब के उदाहरणों से, हमारी उक्त बात की सत्यता स्पष्ट हो जाती है।

पुत्र से पिता का उठाया अधूरा कार्य यदि पूरा न किया गया जो पुत्र का जन्म व्यर्थ है। वृक्ष से आगे विस्तार के लिये बीज न हो तो वृक्ष का जन्म ही व्यर्थ हो बीच ही में काट दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि हमारे जीवन से अपने स्रष्टा (सर्वव्यापी पिता) के कार्य का विस्तार न हो जो हमारा जीवन निरर्थक ही है।

"मिला अनमोल नर तन क्यों ?
जरा कुछ सोच बतलाओ !
पुरुष हो तुम कि पुरुषोत्तम—
प्रवर पुरुषत्व अपनाओ ॥"
(सियराम)

प्रभु प्रार्थना का एक मात्र अभिप्राय अपनी श्रद्धा को बल देकर विश्व की दिव्यशक्तियों के लिये अपने हृदय का द्वार खोलना है। जिनके आजाने से हम उस सर्वशक्तिमान् का हमें सौंपा हुआ जगत् का कार्य सरलता से पूर्ण कर सकें और सृष्टि को गुलजार कर अपने जगत्पिता को प्रसन्न कर सकें।

"अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जना पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां—योग क्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता)

अर्थात् जो निरन्तर एकाग्रचित्त से मेरी (जनता जनार्दन की) उपासना में लगे रहते हैं, तो मैं भी उनसे सहयोग स्थापित कर उनकी इच्छा-

नुसार उनका प्रत्येक कार्य पूर्ण करता रहता हूँ" बस आवश्यकता है हार्दिक ।

प्रभुनाम ज्योति को अपने—
हृदय दीपक में जला खूब दीवाली कर।

"जला प्रभु नाम की ज्योती हृदय दीपक दिवाली कर।
अंधेरा मन में छाने का लगा डर उसको खाली कर।।
निरन्तर भक्ति श्रद्धा से जला उस ज्योति को इतना।
कि तामस दूर हट जाये ! सभी के दिल वसा जितना।।
रहें सब प्रेम से मिलि एक ह्वे निज ज्योति पहिचानें।
सुखी सत्कर्म करते नित हृदय 'सियराम' को जानें।।

ओ३म् तत्सत

घूंट—६

मानव जीवन में कर्म की उपादेयता।

जीवन, मानव का रथ है, जिसमें बैठकर वह अपनी सांसारिक यात्रा पूर्ण करता है। कर्म बुद्धि को अपना कर ही वह कुशल सारथी बनता है कुशल सारथी के बिना रथ यात्रा को पूर्ण नहीं कर सकता। सतत् सुचारु रूप से कर्म करने वाला व्यक्ति ही जीवन का वास्तविक सुख व आनन्द का अनुभव कर सकता है।

श्री नेहरू ने अपनी आत्म कथा में लिखा है—'काम के भार से मैं अपने शरीर और मस्तिष्क की स्फूर्ति कायम रख पाता हूँ। काम केवल मनो-रंजन, जीवन यापन का साधन, स्वास्थ्य और सुख का ही साधन नहीं है, वह मनुष्य की महानता की नींव भी है। काम भी अपने अनुयायियों को महानता के शिखर पर ले जाता है। कर्म करने वाला ही जीवित रहकर सुख व आनन्द का लाभ उठा सकता है; बिना काम के जीवन भार रूप या शव के समान है।'

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि—
जिजीविषेच्छतं समाः।"

(उपनिषद्)

अर्थात् कर्म करते हुए ही हम सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। कर्म और ज्ञान एक ही यज्ञ के दो रूप हैं। शास्त्र कहता है:—

"प्राणो वै प्रज्ञा" प्राण ही प्रजा है, कर्म ही प्रज्ञा है। अर्थात् जब तक इस जीवन के साथ कर्म का साधन चल रहा है, तभी तक यह चलाय-मान है, इंजन गर्म है तभी तक गाड़ी चलायमान है। गर्म रखने के लिये निरंन्तर कर्म रूपी कोयले झोंकने आवश्यक हैं। बिना कर्म के बुद्धि कोई अर्थ नही रखती। इस प्रकार यह जीवन प्राण और प्रज्ञा, कर्म और ज्ञान से बना है।

सच पूछो तो वास्तविक आनन्द स्रोत एक मात्र कर्म ही है। मैं स्वयं कभी कारणवश यदि बिना काम के होता हूँ, तो उस समय को भारी मुशीबत समझता हूँ और छट-पटाता हूँ कि इस मुशीबत से कैसे पिंड छूटे। अतः कर्म करने में ही जीवन सुख व आनन्द का अनुभव करता है। बिना कर्म के सुख व आनन्द को ढूंढने वाले अंधकार में भटकते भटकते शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

"आनन्दादेव खाल्विमानि भूतानिजायन्ते" अर्थात् आनन्द से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति होती है।

आप देखते हैं कि उपयोगी श्रमपूर्ण कार्य उत्कर्ष, आनन्द और नवीन स्फर्ति प्रदान करता है, उसमें थकान मालूम नहीं होती, हर समय ताजगी बनी रहती है। वह बात बहुत लोगों को मालूम है कि नेहरू जी अथक परिश्रम करते थे परन्तु फिर भी सदा ताजे बने रहते थे। इसका एक मात्र कारण नेहरू जी ने इस प्रकार बताया है:—'लोग आकर मुझसे कहते हैं, इतना कठिन परिश्रम न करो। विश्राम भी करना जरूरी है। आप काफी सोते नहीं हो, इसका असर आपके स्वास्थ्य पर खराब पड़ेगा।" मैं उन्हें इसका उत्तर यों देता हूँ—

"श्रम ही जीवन है, कठिन श्रम से आज तक कोई नहीं मरा, श्रम करने वाला किसी अच्छे उद्देश्य के लिये जी लगाकर काम करे तो उसे प्रतिक्षण नया जीवन मिलता है।"

जीवन का सबसे बड़ा रहस्य

"जो जीवन देता है, उसे जीवन मिलता है" यही है जीवन का सबसे बड़ा रहस्य। यही नहीं, जीवन बढ़ता भी है। जिस प्रकार विद्यादान से विद्या बढ़ती है, घटती नहीं।

जीवन का अर्थ समझना हो तो श्रम के दिव्य स्वरूप को जानना जरूरी है, तभी हम अपने मन की अंधेरी कोठरियों को श्रम के दिव्य प्रकाश से प्रकाशित कर सकते हैं। हमारे मुर्झाये अंग श्रम की ऊष्मा पाकर नवीन कर्म के लिये पुनः अनुप्राणित होते हैं और यही कारण है कि आनन्दमय श्रम में थकान मालूम नहीं होती।

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक अनवरत प्रयास में. जीवन यज्ञ में निरन्तर आहुति अर्पित करते रहने में, जीवन की सफलता देखते थे। वे इसे ही जीवन की सफलता मानते थे। उन्होंने कहा थां—"संसार में एक ही वस्तु को मैं परम पवित्र मानता हूँ और वह है मनुष्य का अपनी प्रगति के लिये—अनवरत प्रयास। मानव मात्र के लिये निश्छल भाव रखते हुये और ईर्ष्याद्वेष आदि भावनाओं की कलुषित छायाओं से दूर रहकर, निष्काम भाव से श्रमरत रहने की भावना ही जीवन की सर्वोच्च सफलता है।" और यही जीवन की श्रेष्ठ साधना का फल है।

प्राय: अन्तिम सीढ़ी के बाद ही हमें मंजिल मिलती है। बस निरन्तर अथक प्रयास में लगे रहो, किसी प्रकार पुरुषार्थ में कमी न आने पावे।

"पुरुषार्थ की शूली पै तन मन को लटकने दो अगर।
स्वयमेव सहसा सफलता आ छायगी तुममें अवर॥"

आलस्य व प्रमाद से अपने को बचाकर रखना, सफलता की सबसे बड़ी कुंजी है। समय की कदर करना सीखो! मूर्ख जहाँ बेकार की चेष्टा में समय को बर्बाद करता है, इस प्रकार बहुमूल्य समय का हनन कर वह सोचता है कि मैंने समय को मार दिया, वहाँ यह नहीं सोचता कि वह तो उसे ही समाप्त कर रहा है। आयु का जितना काल व्यर्थ किया गया उतना आयु का समय कम हो गया ही समझो।

"Time : that which man is always trying to kill, but which ends in killing him."

(Herbert Spencer)

समय:—जो मनुष्य सदा कोशिश करता है मारने की या तो उसे हनन करने की, परन्तु वह तो उसी को ले बैठता है।

इस झगड़ते हुए समय को अपनी जागरूकता से कसकर पकड़े रक्खो, ताकि उसकी गति ही धीमी पड़ जाय। याद रक्खो जितनी तेजी से या सावधानी मे तुम कार्य करोगे, समय की गति तुम्हारे लिये उतनी ही धीमी पड़ जायगी। प्रत्येक काम निश्चित समय के अन्दर परिपूर्ण करना मानसिक चेतना का परिचायक है।

"वीर भोग्या वसुन्धरा।"—वीर व कर्मठ पुरुष ही समय का सदुपयोग कर वसुन्धरा के राज्य का भोग करते हैं। अकर्मण्य का जीवन तो इस पर भारवाही पशु के समान है यह वसुन्धरा कायर व कमजोरों के लिये नहीं बनी है। वसुन्धरा स्वयं गतिशील है, जो गतिशील हो उसका साथ नहीं छोड़ता वही जीवित है।

श्री जवाहरलाल नेहरू एक कर्मठ व्यक्ति थे उन्हें भी संघर्षमय जीवन पसन्द था, उन्होंने एक बार कहा था:—"इस विराट विश्व में सब कुछ ही जो अधूरा पड़ा है, परन्तु साहसियों के लिये मंजिल की कमी कब रही ? मैं निराशा में यकीन नहीं रखता। मुझे उम्मीद है, हालत बदलेगी इनसान की शक्ति में मेरी आस्था अडिग है; क्योंकि उसके दुबले पतले शरीर में दिमाग नाम की एक बेमिशाल चीज है जो कोई बन्धन स्वीकार नहीं करती, कभी हार नहीं मानती।"

अपनी अपार शक्ति का अनुभव मनुष्य अन्तर्मुखी होकर ही कर सकता है और इसके लिये मन को वाह्य विषयों से हटाना आवश्यक हैं, तभी चित्त एकाग्र हो सकता है। किसी भी विषय का आनन्द उस विषय में नहीं बल्कि उसे अनुभव करने वाली वृत्ति में होता है और उसका स्वामी मनुष्य स्वयं है। वह जब और जैसा चाहे उसकी दिशा मोड़ सकता है।

मन का वेग बाहरी विषयों से हटाकर अन्तरात्मा की ओर मोड़ लो अन्तरात्मा का अपना क्षेत्र है। उसका अधिष्ठाता हमें कुछ आदेश देना चाहता है। उसको हमें सावधान होकर सुनना है और इसके लिये बाहरी दरवाजा बन्द करना होगा, क्योंकि उसके खुले रहने पर अन्तरात्मा का आदेश नहीं सुना जाता। यह अभ्यास से सिद्ध करने की चीज है और सिद्ध होने पर मन जो अभी तक तुम्हारा आदेश देने का राजा बना हुआ था सेवक बन जायगा। अब सहसा विषयों की तरफ भागने की चेष्टा नहीं करेगा। फिर तो जब चाहे मन की बागडोर जिधर चाहे मोड़ सकते हो। इस प्रकार अपने पर एक प्रकार से विजय प्राप्त करनी है और तभी वास्तविक सुख व आनन्द अनुभव किया जा सकता है। अन्तर्मुखी होकर ही हम

अनेक संघर्षों के वेगों को भी सरलता से झेल सकते हैं। चित्रकार तभी बढ़िया चित्र बना सकता है जब वह मन को बाहरी दुनियाँ से हटाकर अपनी चित्रकारी में ही लगा देता है, कवि की उत्तम कविता तभी बनती है जब वह अपने इष्ट विषय पर ही चित्त की वृत्ति को केन्द्रित कर देता हैं।

यह मत समझो कि किसी कार्य करने में हम भूल कर बैठेंगे और कार्य बिगड़ जायगा। भूलें भी उसी से होती हैं जो कुछ करता है। जितना अधिक कोई कार्य करेगा उतनी ही अधिक भूलें होना स्वाभाविक सा ही है। समझदार भूलों से शिक्षा ग्रहण कर अपनी सफलता के लिये नये मार्ग का द्वार खोलते हैं। उन्नत जीवन के लिये अपनी आशा में कमी न आने दो।

आशा और निराशाओं के झोंके तो जीवन के लिये सुखदायी वाता-वरण हैं जिसे बिना वायु के जीवत रहना असम्भव है वैसे ही आशा और निराशाओं में होकर ही जीवन चमकता है। तुम अपनी निराशाओं से इतने अधिक निराश नहीं होगे, यदि तुम यह मानो कि गलत प्रतीत होने वाली बातें कभी कभी ऐसा अप्रत्याशित रुख ग्रहण करती हैं कि तुम्हारे सामने सफलता के नये द्वार खुल जाते हैं और तुम सफल हो जाते हो।

जीवन में यदि तुम दूसरों का आदर करोगे तो दूसरे भी तुम्हारा आदर करेंगे। यदि तुम किसी का तिरस्कार नहीं करते तो तुम्हारा भी कोई तिरस्कार नहीं करेगा। सभी से प्रेम से रहना सीखो। बस प्रेम में ही सुख व आनन्द है।

कोई तुम्हारी आलोचना करता है तो चिढ़ो मत। उसकी आलोचना से यदि तुम्हारी ऐसी त्रुटियों पर प्रकाश पड़ता है, जिन्हें तुम स्वयं नहीं देख सकते तो बुरा मानने के बजाय उस आलोचक के आभारी बनो जो तुम्हें तुम्हारे भीतरी दोष दूर करने का सुअवसर देता है। यदि तुममें आत्म विश्वास की कमी है तो तुम आलोचक से घबड़ाओगे, भय खाओगे; जब तक तुममें सन्तुलित बुद्धि, कार्यनिष्ठा और आत्म विश्वास नहीं होगा, तुम आलो-चना से भय खाओगे। किन्तु यदि तुम्हारे अन्दर आत्म विश्वास है तो

समझोगे कि आलोचनाओ के ये प्रहार तुम्हारे जीवन संग्राम में होने वाले ऐसे आक्रमण हैं, जो तुम्हारी शक्ति और बढ़ाते हैं, घटाते नहीं और तुम अपनी त्रुटियों को दूर कर और तीव्रता से अपने ईप्सित कार्य में आगे बढ़ते हो। इसीलिये आलोचक को धन्यवाद देना चाहिए।

स्मरण रक्खो ! जो व्यक्ति विरोधी आलोचनाओं से विचलित नहीं होते, घबड़ाते नहीं, उनके लिए आलोचनाएँ बरदान सिद्ध होती हैं, क्योंकि उनसे उन्हें आत्म निरीक्षण की प्रेरणा मिलती है। इस लिये स्वस्थ व भद्र पुरुष वही है जो आलोचक को अपना मित्र मानकर उसका कृतज्ञ होता है। संघर्ष में ही गति है। डाइनीमो गतिशील होने पर बिजली पैदा होती है रथ के पहियों को यदि पृथ्वी का गतिरोध न मिले तो वे आगे नहीं बढ़ सकते। सबसे बढ़ कर तो यह है कि आलोचकों की चिन्ता न कर केवल अपने अन्तर आत्मा से पूछना चाहिए. वह आज्ञा दे तो अपने मार्ग पर अड़े रह कर आगे आगे प्रगति करने में ही कल्याण है। सच्ची लगन वह है जो दृढ़ निश्चिय कर अपने ही मार्ग पर अडिग रहती है। विरोधी तत्त्वों को देखकर जो लगन और भी तीव्र हो जाय वह दिव्य ही जानो और उसी में सफ ता धरी धराई है। जितना बड़ा विरोध हो, उतनी ही तुम्हारी हिम्मत बढ़ जाय, तभी यह जानलो कि तुम सच्चे मार्ग पर हो।

यह सत्य जानो कि जीवन के संघर्ष में हम तभी सफल होंगे, जब हमारे अन्दर आत्म विश्वास के साथ साथ आत्म स्वीकृति का—अपनी त्रुटियों कमजोरियों व भूलों को स्वीकार करने का गुण मौजूद हो।

आत्म स्वीकृति का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि तुम्हारे काल्पनिक भय अपने आप ही दूर हो जायंगे। हम सब ऐसे बहुत से काल्पनिक भय व शंकाओं से भयभीत रहते हैं जिनका लेशमात्र भी कुछ आधार नहीं होता।

अर्थाभाव होना, कुरुप होना, शिक्षा विहीन होना आदि ये सब बातें हैं, जो हमारी प्रगति में बाधा बन सकती हैं। परन्तु तभी जब हम उन्हें अपने अन्दर पनपने का अवसर दें। यह एक मात्र हमारे दृष्टि कोण पर निर्भर करता है। यदि हम स्वयं उन्हें अपनी प्रगति में बाधक नहीं मानते

तो संसार की कोई भी शक्ति उन्हें हमारे लिये बाधक नहीं बना सकती। आत्मज्ञानी अष्टावक्र की विद्वत्ता और आत्मज्ञान की शक्ति में किसी को सन्देह नहीं हो सकता जो आठों अंगों से कुरूप थे। वस्तु के बाहरी अवगुण को न देख अन्दर के सद्‌गुण को देखना ही बुद्धिमानी है, क्योंकि सार तो हमने उसी से ग्रहण करना है।

आत्म निरीक्षण की अपने में एक आदत सी बना लेनी चाहिये, जिसका निरन्तर अभ्यास चलता रहे। प्रतिदिन के आत्म निरीक्षण से मनुष्य अपनी त्रुटियों और कमजोरियों पर काबू पा लेता है। महर्षि रमण ने कहा था—'दुनियाँ में तीन वस्तुयें अत्यन्त कठोर हैं; फौलाद, हीरा और आत्मनिरीक्षण।'

मनुष्य आवेश (क्रोध) में तभी आता है जब उसको स्वार्थ हानि की आशंका हो। स्वार्थ रहित होकर आशंकायें स्वयं शान्त हो जाती हैं और आवेश में आने की गुन्जाइश ही नहीं रहती। जिसका जीवन ध्येय 'सर्व-जन हिताय' ही बन गया हो, उसके लिये निराशा, आशंका व भय का तो कोई कारण ही नहीं रह जाता।

शास्त्र का कथन है—

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि—
शुभ्रो यं वीक्षन्ते यतयो क्षीण दोषाः।

शरीर के अन्दर वह शुभ्र श्वेत ज्योति प्रदीप्त हो रही है; किन्तु उसका साक्षात्कार वही कर पाते हैं जिनकी दृष्टि क्षीण दोष हो चुकी है।" फिर जिस दीपक का अर्थ ही यह है कि वह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश दे तो उसे किसका भय ? दीपक अपने अन्दर के स्नेह से जलता है। इसी प्रकार हम भी अपने अन्दर की ज्योति से प्रकाशित हों, तभी हम दूसरों को भी अपनी ज्योति से प्रकाशित कर सकते हैं और अपना जीवन सार्थक बना सकते हैं।

तीन गुणों से युक्त शरीर सर्वथा निर्दोष तो नहीं हो सकता। इसमें दोष और गुण का सम्मिश्रण तो सदा ही बना रहेगा। इन्हीं द्वन्द्वों पर तो

जीवन आधारित है। परन्तु बुद्धिमानी तो तभी है कि इन द्वन्द्वों के होते हुए भी हम जीवन में समरसता या सन्तुलन बनाये रक्खें। जिस प्रकार यह शरीर है तब तक कर्म करना आवश्यक है, परन्तु कर्म करते हुये हमें निष्काम होना आवश्यक है, जैसे कमल जल में रहते हुये भी विलग रहता है—

निष्काम निरन्तर कर्म करू जग—
जीवन विलग कमल दल ज्यों ॥

ठोकरों, संकटों व बाधाओं के नये नये प्रहारों से ही जीवन चमकता है। सोने को बार २ तपाया और प्रहार पड़कर ही वह असली रूप में आकर चमकता है। बाधा व संकटों से जीवन को नया बल व साहस मिलता है और जीवन गति में और तेजी आती है। जिस प्रकार शिला खण्डों से टकरा कर नदी के जल में नया वेग आता है, उसी प्रकार जीवन के मार्ग की बाधाओं से लड़कर नई प्रेरणा, साहस और बल प्राप्त होता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है :—

"Bad times have a scientific value, these are occas= ions, a good learner would not miss."

अर्थात् बुरा समय या विकट परिस्थितियां हमारे जीवन पर एक वैज्ञानिक प्रभाव डालती हैं अथवा बुरे समय एक वैज्ञानिक महत्ता रखते हैं। एक अच्छा सीख लेने वाला इन अवसरों से लाभ उठाने से नहीं चूकता।

कई बार ऐसा भी अवसर आता है जब बाधाओं की भरमार से कदम आगे नहीं बढ़ते, परन्तु धीर पुरुष अपने आत्म बल पर आस्था रख कर प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी वेग से आगे कदम बढ़ाते हैं, और यही उनकी सफलता का रहस्य है। दृढ़ संकल्प व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी तेजस्वी हो जाता है।

इतिहास ऐसे असंख्य उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जिन्होंने चरम सीमाओं की प्रतिकूलताओं में भी असाधारण प्रतिभा दिखलाई। विरोधी तत्त्वों का जीवन में उचित समन्वय किया जाय तो वे ही सहायक या मार्ग दर्शक बन जाते हैं।

इतिहास में आपने पढ़ा होगा कि माइकेलेंजलों ने रोम के गिरजा घरों पर जो चित्र बनाये हैं, वे असीम कष्टों में बनाये गये हैं। ५ वर्ष तक वह गिरजाघरों में ही कैद रहा। उसके लिये बाहर का द्वार सदा पक्के ताले से बन्द किया गया था। परन्तु वह उस कैदखाने में अपनी चित्रकारी में इतना व्यस्त व आनन्दित रहता था कि बाहरी दुनियाँ से उसे कोई वास्ता न रहा और इसी ५ वर्ष की कैद में उसने इतने उत्तम चित्र बनाये हैं, जिनका उदाहरण अन्यत्र मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

इसी प्रकार प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने भी अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ असीम आर्थिक कष्टों में निर्माण कीं। यों बड़े काम करने वालों में थोड़े ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्होने अनुकूल परिस्थितियों में श्रेष्ठ काम किये हों।

"मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि संकट, बाधा व प्रतिकूल परिस्थितियों में ही मनुष्य श्रेष्ठ काम करता है। यदि यह सत्य नहीं तो असली सोने की जाँच बिना तपाये व प्रहार डाले कोई मुझे दिखा दे ? अतः मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि संसार के श्रेष्ठ काम, रचनाऐं, चित्र व चमत्कार प्रतिकूल प रिस्थितितों में ही निर्मित हुये हैं।" (लेखक)

होनहार युवक भाग्य के प्रहारों के बीच भी अपने उज्ज्वल भविष्य की राह स्वयं बना लेता है। क्या लाल बहादुर शास्त्री का उदाहरण कोई भारतवासी भूल सकता है ? व्यक्ति को अपने आगे सब्जबागों का विचार त्याग कर सदैव भाग्य के कठोर प्रहारों से लड़ने के लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। इस समय जो मेरे कुटुम्बी मेरी हर माँग को पूर्ण कर रहे हैं, हो सकता है कल वे न होंगे, तब तो अपना मार्ग स्वयं ही निर्माण करना होगा। ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं, जो बचपन में ही अनाथ हो गये, सब प्रकार आश्रय हीन हो गये; परन्तु उन्होंने अपने कठोर परिश्रम व अदम्य उत्साह से अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल कर दिखाया। व्यक्ति को जहां तक हो, बिना मार्ग दर्शक के अपनी जीवन राह पर स्वयं चलने की आदत डालनी चाहिये।

"जो सुखद अवसर आज है, माना कि यदि वह कल न हो।
जो विकट स्थिति आ पड़े, झेलो कि साहस कम न हो॥
दृढ़ धारणा उत्साह हृदि, पुरुषार्थ अपना कम न हो।
बाधा व संकट, दुःख में भी दृढ़ता निज कम न हो॥
× × × ×
आगे बढ़ो तुम सिंह शावक मार्ग बाधा तोड़ दो।
निज लक्ष्य साधन में अडिग असफलता मुख मोड़ दो॥"

(लेखक)

हर बाधा, हर संकट, हर दुःख व रोग—बिना कारण नहीं आता। वह हमारी कमजोरी, या कुछ त्रुटि व दोष जो हममें आगया है, उसे दूर करने को ही आता है। प्रभु की इस अपार सृष्टि में हर एक बात व घटना के पीछे कोई कारण तो अवश्य होता ही है। अतः जो भी आवे उसका स्वागत करो और आये हुये अतिथि का उचित आतिथ्य सत्कार (उपचार) कर बिदा करो यही सभ्यता का तकाजा है।

मैं अपने बचपन के रोग के अनुभव को जीवन भर नहीं भूल सकता। बचपन में मैं एक बार असाध्य आंत्रिक ज्वर (Typhoid fever) से पीड़ित हुआ। औषधि आदि सब उपचार असफल हो गये। मेरे स्वर्गीय पिता जी एक कुशल चिकित्सक भी थे; परन्तु औषधि चिकित्सा में वे भी हार गये। तब उन्होंने अपना आमोघास्त्र 'अग्निदग्ध चिकित्सा' प्रयोग किया और तब जाकर मैं स्वस्थ हुआ। इससे मुझे बिलकुल नया जीवन, नया बल और उत्साह प्राप्त हुआ। मेरे पिता जी अग्निदग्धचिकित्सा में भी कुशल थे। उन्हीं से मैंने यह पद्धति सीखी है। जिसका प्रयोग मैं कई असाध्य रोगों पर कर चुका हूँ और शतप्रतिशत सफलता पा चुका हूँ और जहां भी औषधि आदि उपचार असफल होते मैं देखता हूँ, वहाँ मैं अभी भी इसी अमोघास्त्र का प्रयोग करता हूँ।

इस अग्निदग्ध चिकित्सा के अपने अनुभव के आधार पर ही मैंने अपनी "अग्निदग्ध चिकित्सासार" नामक रचना का निर्माण किया। जो

चिकित्सा-क्षेत्र में अपने विषय की प्रथम पुस्तक है। जिसे हमारी उ० प्र० सरकार और मध्य प्रदेश सरकारों ने पुरस्कृत किया है।

भारत पर चीन का १९६२ का आक्रमण क्या भारत के लिये वरदान सिद्ध नहीं हुआ ? अपनी सुरक्षा की तैय्यारी में जो भारत बिल्कुल सोया हुआ था, उस चीनी आक्रमण से जाग कर अब अपनी सुरक्षा में सावधान हुआ पर्याप्त शक्तिशाली हो गया है। इस प्रकार भयंकर संकट के पीछे भी सुखद वरदान का सूर्य छिपा रहता है।

यों न समझो कि यह संकट, बाधा, दुःख व रोग बिना कारण ही हम पर आक्रमण करने आता है। वह हमारे कल्याण के लिये हममें कुछ सुधार करने के लिये कुछ लेकर आता है। इसी प्रकार रोग के आक्रमण से हम में एक नई अनुभूति जाग्रत हो उठती है, जिससे जीवन में हम कुछ प्राप्त करते है, अपनी त्रुटि या गलतियों में सुधार करते हैं, अपने अन्दर के दोषों को दूर करने का हमें स्वर्णिम अवसर मिलता है। इससे हमें अनेक असद् व्यवहारों का पता चलता है। असन्तुलित स्थिति पर हम सन्तुलन पुनः कायम करते हैं, हमारी उद्दण्डता दूर होकर अधिक विनम्र बन जाते हैं। और इसी से हम अब दूसरों को अधिक समझने में सफल होते हैं। एक प्रकार से हम अपनी बाह्य दृष्टि से अन्तंदृष्टि की ओर मुड़ते हैं, जो वास्तविकता के लिये बहुत आवश्यक है और सच पूछो तो सारांश यह है कि आत्मनिरीक्षण का स्वर्णिम अवसर जैसा दुःख व रोग है, वैसा मेरी राय में और कुछ नहीं है।

यह भी याद रखना चाहिये कि जो सबसे अधिक कष्ट दुःख व संकट के आने पर साहस और धैर्य के साथ शान्ति पूर्वक झेल लेता है वही महिनत से काम कर सकता है। दुःख व कष्ट से ही जीवन को एक अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त होता है, जो एक प्रकार से उसकी भीतरी आत्मा का प्रकाश है, जिससे जीवन प्रकाशित होता है।

अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही हम अपने लिये नरक व स्वर्ग की राह बनाते हैं। इसीलिये गीता में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट कहा है:—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु–
रात्मैव रिपुरात्मनः ।"

हम अपने शत्रु या मित्र आप ही हैं। सुख व दुःख मन के दो पहलू हैं हमारा सुख व दुख हमारी बाहरी घटनाओं व परिस्थितियों पर उतना निर्भर नहीं हैं, जितना स्वयं हमारे अपने स्वभाव पर निर्भर है। यह मनुष्य के अपने मन के स्वराज्य पर निर्भर है कि उसमें वह चाहे तो सदा प्रसन्नता के सुन्दर पुष्प खिलाता रहे अथवा सदा रो रोकर जीवन को नरक बनाये रक्खे स्वर्ग या नरक मनुष्य के अपने मन पर निर्भर करता हैं—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।" अर्थात् यह मनुष्य का अपना मन ही है, जो चाहे तो उसे बन्धन में डाल दे या मुक्त करदे। जैसी उसकी धारणा होगी उसी के अनुसार वह बन जाता है। यदि मनुष्य सदा ही हंसमुख व खुश मिजाज है तो उसकी इस खुशी को कोई शक्ति छीन नहीं सकती और यदि वह निरन्तर उदास रहता है तो दुनियाँ की कोई शक्ति उसे प्रसन्न नहीं कर सकती।

विश्व का सम्पूर्ण इतिहास डंके की चोट से आज भी यही कह रहा है—"प्रतिकूलताओं से मत डरो! अपने परिश्रम पर विश्वास रक्खो। निरन्तर निर्भय हो आगे बढ़ो, बाधा व संकटों को धैर्य व साहस से झेलते चलो! एक दिन सफलता वाध्य होकर तुम्हारा स्वागत अवश्य करेगी। याद रक्खो विश्व में जितने भी स्थाई व महत्त्वपूर्ण बड़े बड़े कार्य हुए हैं, वे उन्हीं मन्वीषियों ने किये हैं, जिनके अपने कामों के सम्पादन में अडिग श्रद्धा रही है।

विश्व के महान् व्यक्तियों ने अपने मनोबल से अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को जीवन में आगे बढ़ने के लिये, अपने अनुकूल बनाया था। उन महान् व्यक्तियों के जीवन में ऐसे कोई कारण रहे हैं, जिन्हें वे अपनी असफलता का कारण बताकर संन्तुष्ट होकर चुप बैठे रह सकते थे, परन्तु उन्होंने यह उचित न समझा।

मिल्टन और सूरदास जन्मान्ध थे, चर्चिल हकलाते थे। थैकरे और पत्नियों ने उन्हें आजीवन परेशान किये रक्खा। नरेन्द्र देव और बाबू राजेन्द्र प्रसाद दम के रोगी थे परन्तु इन सब ने अपने अवरोधों को चीर कर अपना जीवन मार्ग प्रशस्त कर दिखाया और दूसरों को उदाहरण छोड़ गये।

जन्मान्ध हेलेन कैलर ने कहा है:—

"मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे अन्धी और बधिर बनाया, इन्हीं से मैं ईश्वर और उसकी कृतियों को समझ पाई।"

"सचमुच वह सर्व व्यापी जिस परिस्थिति में भी मुझे डालता है, मैं तो सदैव उसी में सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता हूँ। क्योंकि जब मैंने सर्वस्व ही अपना उस पर निछावर कर दिया और सब प्रकार अपनी नौका का खेवनहार उसको मुकर्रर कर दिया तब से मैं निश्चन्त होगया और उसको मेरी चिन्ता होगयी है, मेरी हर एक इच्छा उसकी बन गई। सुख, दुःख, संकट अब जो भी सम्मुख आते हैं उनमें मेरी भलाई देख कर ही तो वह मेरे लिये भेजता है। और मेरी तो हर एक के लिये यही नेक सलाह हैं कि जीवन नौका को उसके हवाले एक बार कर दो और निश्चिन्त हो जाओ। उसी पर अपनी दृढ़ श्रद्धा भक्ति अपनाओगे तो बेड़ा पार होने में देरी नही लगेगी। निरन्तर सत्कर्म करते हुए अपनी जीवन यात्रा में उस सर्वशक्तिमान् देव को न भूलो, यदि कभी कुछ माँगने की नौबत भी आवे तो सच्चे हृदय से उसी के आगे हाथ पसारोः—

आश्रित रहो निज इष्ट के जो एक सबसे है बड़ा।
ले माँगले, यदि माँगना, दाता वही सबसे बड़ा॥
उसके अतुल भण्डार में, फिर है कमी किस चीज की।
हां! है कमी कुछ तो पहुंच, तब सत्य हृदय तीर की॥
नित भक्ति श्रद्धा डोरि में उसको चढ़ा तुम छोड़ दो।
फिर देख जो चाहा मिला सौभाग्य सुख में जोड़दो॥
सम्बन्ध यों ही नित बना निज इष्ट से टूटे नहीं।
उस प्रेम में 'सियराम' बन्धन भूल कर छूटे नहीं॥

जो मशीन निरन्तर काम कर रही हो और कुछ समय सफाई व सुधार के लिये भी बन्द नहीं की जाती वह जल्दी ही खराब हो जबाव दे देती है ठीक इसी प्रकार मनुष्य की मशीन भी है। काम करते करते समय समय पर इसे पुनः ताजा बनने के लिये निद्रा व विश्राम आवश्यक है।

प्रायः देखा जाता है कि अधिकतर लोग अनुपयोगी कार्यों में अपनी बहुमूल्य जीवन शक्ति को नष्ट करते रहते हैं, जिनसे उन्हें कई दोष तो प्राप्त होते ही है, किन्तु अपनी आयु को घटाने में भी स्वयं सहायक बनते हैं। इसके बजाय यदि विश्राम द्वारा हम अपनी जीवन शक्ति को बढ़ायें तो वह बेहतर होगा।

मनुष्य शरीर के अवयव मशीन की तरह निरन्तर काम करने से थक जाते हैं। तब उन्हें नये रक्त, नया उत्साह एवं नये प्राण तन्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि हम थके हुए शरीर व मन से निरन्तर काम लेते ही रहेंगे तो एक दिन सहसा प्राण तन्तुओं के रुक जाने से मृत्यु का ही सामना करना पड़ेगा। अधिक कार्य करने से शरीर तनावपूर्ण स्थिति में हो जाता है, तब उसे विश्राम देना जरूरी है। इसलिये काम करते करते जब मन व शरीर थक जाँय या तनाव पूर्ण स्थिति में हो जाँय तो कुछ समय के लिये काम छोड़कर विश्राम करना आवश्यक है। प्रायः लोगों को काम करना तो आता है, परन्तु विश्राम करना नहीं जानते। काम के साथ विश्राम का होना भी जरूरी है।

अधिक शारीरिक परिश्रम के बाद कुछ विश्राम से शरीर में कुछ ताजगी का अनुभव होता है। इसी प्रकार मानसिक कार्य की अधिकता के बाद भी कई विधियों से विश्राम किया जा सकता है। सब काम छोड़कर कुछ देर खुली स्वच्छ हवा में टहलने निकल जाओ या यदि बगीचा है तो कुछ देर उसमें काम करने लग जाओ अथवा कुछ देर के लिये प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ही मन की तृप्ति कर लो। अथवा थकान अधिक हो तो कुछ देर के लिये निस्तब्ध वातावरण में सो जाइये।

शरीर के लिये जिस प्रकार भोजन, जल, वायु उसकी स्थिति ठीक बनाये रखने के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार निद्रा भी। यह याद रक्खें कि स्वस्थ शरीर व मन ही उत्तम निद्रा का उपभोग कर सकते हैं। सुखभरी नींद का अमृत पान वही कर सकता है जो दिनभर थकने के बाद, शान्त मन से अपने प्रभु के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुये, आँखें बन्द कर सो जाता है उस समय अपने प्रभु के प्रति आभारी पलकें स्वयं ही मुंद जाती हैं और प्रभु अपने आंचल में सुला देता है। बस ऐसी ही नीद पूर्ण विश्राम देती है।

श्रेष्ठ कार्य कर्त्ता वे ही होते हैं, जो हर समय पूर्ण विश्रामावस्था में रहते हैं। वे कार्य बड़े शान्त व धैर्य से करते हैं, जिससे शरीर व मन तनाव पूर्ण स्थिति में न होने पावें। ऐसी स्थिति में शक्ति का व्यय भी कम होता है, कार्य अधिक होता है और थकान भी कम मालूम होती है।

बुद्धिमान कार्यकर्त्ता विश्राम में समय नहीं गंवाते, वे केवल कार्य का रुख बदल देते हैं। एक काम में कुछ थकान मालूम होने लगे तो दूसरा कार्य आरम्भ करदो। एक विषय पढ़ते २ जी ऊब गया है, निद्रा आने लगे तो दूसरा विषय पढ़ना आरम्भ करदो। बस इसी प्रकार कार्य का रुख बदल कर भी विश्राम का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

पूर्ण विश्राम एक उत्तम औषधि का काम देता है। औषधि का प्रयोग केवल अस्वस्थ अवस्था में ही किया जाता है, निरोग अवस्था में तो आहार ही खाया जाता है, और वह है एक मात्र कार्यरत होना। हमारा सबसे उत्तम कार्य तभी होता है, जब हमारा दिल दिमाग व हाथ एक साथ काम करने में हमारे साथ हों—

"Fine work is that in which the hand, the head & the heart of man go together."

काम में ही सुख व आनन्द है। मैं दुःख तब अनुभव करता हूँ, जब कोई काम नहीं होता। मैं तो समझता हूँ जिस दिन यह कार्य विद्युत तरंग इस जीवन में बन्द हुई कि सारा खेल समाप्त। ॐ तत्सत

घूंट १०

आत्म अनुसन्धान

'सियराम' मानव रूप में पहिचान अपने आप को।'

आपने देखा होगा कि इस विकास के युग में राष्ट्र में कई चीजों के विषयों के विकास के लिये जगह २ अनुसन्धान शाखायें खुली हैं या और भी समय समय पर खुलती जा रही हैं। ये सब द्रव्यों के भिन्न २ गुण स्वभाव व प्रभाव जानने के लिये ही हो रहा है। जिससे उन द्रव्यों व विषयों के विषय में हमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो सके। परन्तु यह सब कुछ बाहरी ज्ञान मानव जीवन के लिये व्यर्थ ही होगा यदि उसने अपना अनुसन्धान न किया। उसने अपने को नहीं पहचाना या अपनी परीक्षा कर अपने अन्दर के दोष व त्रुटियों को दूर न किया तो।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह दूसरों के नाटकों को देखने में बड़ी दिलचस्पी लेता है परन्तु अपने अन्दर के नाटक देखने में लापर्वाह हो जाता है। हम दूसरों की जो छोटी २ बातों पर नाना प्रकार की टीका टिप्पणी करते हैं परन्तु अपने अन्दर जो बड़े २ दोष हैं, उन्हे हम नहीं देखते। दूसरों के दोषों को देख कर अपना जीवन नहीं विकसित हो सकता। दूसरों के घरों की खराबी न देख अपने घर की खराबी को दूर करना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य होना चाहिये। हम अपने आप शुद्ध होकर ही दूसरों को शुद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं। अपना आचार विचार सुधार कर ही हम दूसरों के आचार विचार सुधारने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लोग भी तो उसी की बात मानते व सुनते हैं, जो स्वयं निष्कलंक हो। याद रखिए जब तक हम शुद्ध आचार विचार के नहीं, हम दूसरों के आचार विचार में रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं ला सकते। यदि ऐसा नहीं तो आज राष्ट्र के अन्दर जो नाटक खेला जा रहा है. उससे कौन परेशान, व चिन्तत, व दुखी नहीं है ?

हमें दूसरों के स्वभाव व चरित्र को देख उनमें दोष व त्रुटियां ढूंढने के बजाय, अपने से उन्हें पहिले दूर कर लेना चाहिऐ। दूसरों के रोग के बजाय अपना रोग अधिक कष्टप्रद होता है।

मनुष्य जीवन में पूर्णता लाने के लिये बुद्धिमान को चाहिए कि वह छोटी २ त्रुटियों या भूलों पर भी ध्यान दे और सदैव सतर्क रहे। दूध में एक भी मक्खी पड़ने से सारा दूध फेंकना पड़ता है। चित्रकार की कला में एक छोटा सा दोष आजाने पर उसका मूल्य ही घट जाता है। व्यक्ति के एक मामूली दोष व त्रुटि से सारे जीवन का महिनत से कमाया हुआ व्यक्तित्व बद-नाम होते देर नहीं लगती। छोटी सी गलती बुरी बातें व आदतें यदि जीवन रूपी चित्र से निकाल बाहर नहीं करोगे तो लोग उसको कौड़ी में भी खरीदने नहीं आयेंगे। पदार्थों व रुपये आदि का मूल्य भी फिर बढ़ सकता है, परन्तु व्यक्ति के गौरव पर एक भी लांछन लगने पर यह दुबारा सुधर नहीं सकता—

'Rupee can be valued again but prestige once devalued can never be valued.'

आपकी दुकान गन्दी है या द्रव्यों के आदान प्रदान व्यवहार में सदा-चार नहीं बरतते तो कोई भी आपकी दुकान में आना पसन्द नहीं करेगा और आपकी दुकान फीकी पड़ जायगी और गुजर बसर करनी कठिन हो जायगी यदि ग्राहकों को पुनः आकर्षित करना है तो शुद्धता और सदव्यवहार से आपको अपनी दुकान चमकानी आवश्यक है।

हम जीवन से छोटे-छोटे दोष, त्रुटियाँ अथवा बुराइयाँ स्वयं ढूढ़ कर बाहर निकाल कर ही जीवन को पूर्णता की ओर ले जा सकते हैं। जब तक किसी में दोष या त्रुटि है, तब तक तो वह अपूर्ण ही कहा जा सकता है। महत्त्व भी घट जाता है। फूटे भाण्डे की क्या कीमत होती है?

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः।
किन्नुमे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सद्पुरुषैरिव॥

मनुष्य प्रतिक्षण यह देखे कि मेरा चरित्र पशु के समान तो नहीं है, मैं सद्पुरुष की तरह तो आचरण कर रहा हूँ। मैं अपने कर्त्तव्य कर्म से विमुख तो नहीं जारहा हूँ। मेरे से कोई असावधानी का वर्ताव तो नहीं हो रहा है। मेरा व्यवहार बाहर भीतर एक जैसा ही तो है। मैं दूसरों के प्रति भी अपने ही जैसा व्यवहार करने में भूल तो नही कर रहा हूँ। इस प्रकार अपनी दैनिक चर्या में मनुष्य को अपने आत्म निरीक्षण की आदत सी बना लेनी आवश्यक है, यद्यपि यह काम अत्यन्त कठिन है परन्तु आत्म उद्धारकों के लिए कठिन कुछ नहीं हुआ करता।

थोड़ी भी विचार की संकीर्णता बड़े २ लोगों को हल्की या छोटी तबियत का व्यक्ति बना देती है। मन में उठी हुई छोटी सी दुर्भावना किसी के प्रति हुई, मनुष्य के व्यवहार को दूषित कर देती है, और इस प्रकार वह व्यक्ति लोगों की नजर में हल्का पड़ जाता है।

अपने दोषों को छिपा कर रखना मूर्खता है और अपने ही लिये हानि कर है। देखने वाले देखने से कब चूकते हैं। परीक्षक को तो सही जाँच करनी है। अपने दुर्गुणों का विज्ञापन तो आप कितना ही क्यों न छिपाकर रक्खें, लोग तो उन्हें आपके चरित्र पट पर से पढ़ ही लेंगे। युद्ध के मोर्चे बन्धी में जरा सी कहीं कोई कमी रहने पर दुश्मन चुपके से अन्दर घुसकर सम्पूर्ण सैन्य दल को तबाह कर देता है।

आप जानते हैं कि लशुन औषधि में कितनी महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उग्र गन्धि होने से ही निंद्य गिनी जाती है। सारे जीवन में व्यक्तित्व बनाने में अनेकों वर्ष खर्च होते हैं, परन्तु सहसा कोई दोष आजाने पर जन्म भर की कमाई धूल में मिल जाती है। अतः मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, विचार व दृष्टि-कोण या वार्ता व्यवहार आदि में किसी भी प्रकार की त्रुटि, कमी या दोष उपेक्षणीय नहीं है।

कोई बात, वस्तु या घटना केवल ऊपर से छोटी लगने से तुच्छ नहीं समझनी चाहिये। आग की जरा सी चिनगारी यदि बुझाई न गई तो भयंकर ज्वाला बनकर तबाही का बायस बन जाती है। महान पराक्रमी वीर नेपो-

लियन ने एक बार कहा था कि बहुत सी घटनाएँ देखने में तो छोटी लगती हैं, परन्तु उनका परिणाम प्रायः बहुत बड़ा होता है:—"Events that seem very small often have very great results."

आपने देखा होगा आड़ती लोग अपनी रोकड़ बहीखाता, किस बारीकी से मिलाते हैं। जरा एक पाई की भी गलती हुई हो तो सारे दिन का हिसाब किताब गड़बड़ा जाता है इसी प्रकार जीवन रोकड़ बही का हिसाब भी ठीक ठीक रखना ही बुद्धिमानी है, नहीं जो जीवन गड़बड़ी में फंस जाता है। और सच तो यह है कि प्रत्येक कार्य में छोटी-छोटी बातों का सूक्ष्म निरीक्षण ही सफलता का रहस्य है। आपने सुना ही होगा कि गत वर्ष (१९६७) अमेरिका का एक अन्तरिक्ष यान, जिसमें अंतरिक्ष यात्री सवार थे, मय यात्रियों के जलकर राख हो गया। यह सब कुछ यान के एक टेकनीसीयन की जरासी गलती से एक बिजली के तार में कुछ खराबी रहने से हुआ।

अब हम संक्षेप में कुछ स्वाभाविक छोटे मोटे दोष जिनसे मनुष्य का व्यक्तित्व और व्यावहारिक जीवन कलंकित होता है, दिग्दर्शन कराते हैं —

१—मन का धोखा (आत्म वंचना)—

प्रायः मनुष्य का स्वभाव सा बन जाता है कि वह दूसरों को तो सहस्त्र दृष्टि से देखता है, परन्तु अपने को एक दृष्टि से भी नहीं देखता इस लिये अपने मुंह न देखना और अपने को कुछ का कुछ समझ लेना ही मन का धोखा है या इसे समझ की भूल भी कह सकते हैं। इससे मनुष्य को कभी कभी बड़ी हानि भी उठानी पड़ती है। यह दोष प्रायः अर्धशिक्षित लोगों में अधिकतर पाया जाता है। वे अपने सम्मुख दूसरों को कम योग्य समझने लगते हैं, इसीलिये कहावत है 'छोटा मुँह बड़ी बात।' यह एक प्रकार से अज्ञानता की निशानी है, क्योंकि ज्ञान होने पर जो विशेष शान्ति और नम्रता आती है। भरा घड़ा शान्त रहता है और आधा भरा घड़ा ही शोर करता है। वृक्ष फल आने पर नीचे झुक जाता है। ठीक विद्या पाकर मनुष्य भी विशेष झुका झुका चलता है, नम्रता से हर एक के साथ व्यवहार करता है।

जब किसी व्यक्ति में जोश अधिक और होश (ज्ञान) कम होता है, तभी उसको आत्म वचना होती है। इसमें उसको न तो प्रतिष्ठा मिलती है, न सफलता और लोगों की दृष्टि में भी हलका पड़ जाता है। वह एक प्रकार से मिथ्या अभिमानी बना फिरता है।

हमेशा यह देखा जाता है कि अपनी अपूर्णता से अनभिज्ञ होने पर लोग आपे से बाहर होकर दूसरों के साथ असद्व्यवहार करने लगते हैं। ऐसे लोग समाज में घृणा के पात्र बन जाते हैं।

ऐसे लोक आसुरी सम्पति वाले ही होते हैं, जैसे गीता में कहा है—

"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥"

अपने आपको जैसा आप नहीं है वैसा समझना, घमंड करना, अभिमान करना, क्रोध करना, कर्कश वाणी बोलना, अविवेक होना, ये सब उसमें होते हैं जो राक्षसी वृत्ति से पैदा हुआ है।

भगवान् ने आगे कहा है दैवी सम्पद मुक्ति को देने वाली होती है और आसुरी सम्पद बन्धन या नरक में डालने वाली होती है। कल्याण का भी मानव को सदैव सद्वृत्ति का पालन करते हुए दैवीगुणों को ग्रहण करने का निरन्तर प्रयास करना आवश्यक है।

मनुष्य को अपने दोष व दुर्गुणों को हटाने का निरन्तर प्रयास करना चाहिये। जो लोग हमें हमारे अन्दर के दोष व दुर्गुणों को प्रगट करें वही हमारे वास्तविक मित्र होते हैं और जो हमारे मुँह के आगे हमारी प्रशंसा करें या मीठी चुपड़ी बातों से हमें मोह में डालने का प्रयत्न करें वे ही हमारे वास्तविक शत्रु हैं। इस बात में मनुष्य को सदैव सतर्क रहना चाहिये।

अच्छे माता पिता. वे बच्चों की हर बुराई उन्हें जतला कर दूर किया करते हैं। बच्चों के अधिक लाडप्यार से वे बिगड़ जाते हैं, इसलिये उन पर नियत्रण रखना अभिभावकों का काम है। अभिभावकों का एक मुख्य काम यह भी है कि बच्चे आत्मवचना दोष के शिकार न हो जांय।

२. अन्धविश्वास

जब मनुष्य के मन में कोई मिथ्या धारणा घर कर लेती है, तब वह किसी बात व विषय पर स्वतंत्रता से विचार नहीं कर सकता। एक बार जो धारणा उसके मन में बैठ गई, उसे वह छोड़ना नहीं चाहता, उसे हटा नहीं सकता—बस यही अंधविश्वास कहलाता है।

कुछ लोग आजकल ऐसे अंधविश्वासी हो गये हैं कि आप उन्हें हिन्दी की बढ़िया से बढ़िया पुस्तक दिखाइये, वे नहीं मानेंगे वे कहेंगे कि बढ़िया पुस्तकें तो अंग्रेजी में ही मिल सकती है। यहाँ तक कि भारतीय हर बात व चीज उनकी दृष्टि में निकृष्ट और बिलायत की बनी हुई श्रेष्ठ।

कुछ लोग अपनी समझ बूझ के आगे दूसरों की बढ़िया से बढ़िया सूझबूझ को मानने को तैयार नहीं होते—यह संकुचित दृष्टि कोण का परिणाम ही है। हठ व दुराग्रह ही अन्धविश्वास की जड़ है जो मनुष्य को कई प्रकार की हानि प्रदान करती है।

कई लोग भाग्य व शकुन विचार के ही अन्धविश्वासी होते हैं। यह सब बुद्धि की कमी या एक प्रकार से अज्ञानता ही है। अन्धविश्वास के कारण कई विद्वान व पढ़े लिखे लोग भी मानसिक पराधीनता के शिकार हो जाते हैं अन्धविश्वास के कारण व्यक्ति का बौद्धिक विकास रुक जाता हैं।

अपने साथ बीती एक विद्वान अन्धविश्वासी का दु:खान्त अन्त –

मेरे स्वसुर श्री बालकृष्ण जी नैथाणी, जो पहिले रजिस्ट्रार कानूनगो (पौड़ी, गढ़वाल में) रहकर रिटायर्ड हो चुके थे। आज उन्हें दिवगत हुये कई वर्ष बीत गये हैं। आप ग्राम नैथाणा, मन्यारस्यूँ, जिला गढ़वाल के निवासी थे।

आप बड़ी सात्विक प्रकृति के थे। सर्विस के दौरान में आप किसी प्रकार की घूस व रिश्वत के सख्त खिलाफ थे। बड़ी धार्मिक वृत्ति के थे। भोजन श्वयं पकाते थे. यहां तक कि अपनी स्त्री का पकाया आहार भी ग्रहण न करते। यह सब कुछ होते हुए भी सकी प्रकृति के होगये थे वे और

किसी का विश्वास नहीं करते थे। उनके गुरू श्री सच्चिदानन्द सूरदास रुद्रप्रयाग निवासी (जिनका बनाया सच्चदानन्द विद्यालय आज राजकीय सच्चिदानन्द इण्टर कौलेज के रूप में वर्तमान है) थे। बस इन्हीं सूरदास जी को अपना गुरु व प्रभु मानते थे। गुरु जो भी आज्ञा करते शिष्य को शिरोधार्य होती थी। शिष्य की अधिकांश मासिक आमद का, गुरु की भेट पूजा में ही खर्च होता था।

एक बार गुरु ने श्री नैथाणी जी को एक पत्र लिख आदेश दिया कि अब घोर कलियुग आने वाला है, धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों को और अधिक रहने से पाप ही भाग्य भोग भोगना होगा, जितना जल्दी इस दुनियाँ रूपी सराय से निकल जाय, उतना ही उत्तम होगा।

बस शिष्य को आज्ञा मिलने की देरी थी। गुरू की बात का उलंघन शिष्य कभी जानते ही न थे। उनके लिये गुरू ही भगवान् थे। पत्र पढ़कर पूर्ण हुआ कि शिष्य ने उसी घड़ी से आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। उस व्रत को तुड़वाने के लिये यदि किसी ने प्रयत्न भी कियां यो दुराग्रही शिष्य कब मानने वाले थे। अन्त में इस अन्धविश्वास के कारण ही उनकी कुछ दिन बाद पौड़ी में ही मृत्यु हो गई। इस प्रकार इस अन्धविश्वास से कभी कभी भयंकर परिणाम देखा जाता है। इसलिये इस दोष से बचने का भरसक प्रयास होना आवश्यक है। मिथ्या धारणाओं व शंकाओं को मन में स्थान ही नहीं देना चाहिये। इसके लिये सद्विवेक, सत्संग, सद्परामर्श ढूँढ ढूँढ कर अपनाने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक बात व कार्य समझ बूझ के साथ ही अपनाना चाहिये।

३. चित्त की अकुलाहट (व्यग्रता)

वास्तव में देखा जाय तो आज के युग में मनुष्य इन तीन दोषों के कारण नाना प्रकार से परेशानी का शिकार बना हुआ है।

Hurry, Curry & worry बिना कारण हर काम में जल्दबाजी (व्यग्रता), बाजार में बने भिन्न भिन्न मिर्च मसालेदार चाट आदि खाते रहना और बिना कारण ही चित्त में विविध चिन्ता करना। आज के मनुष्य

के अधिकाँश भय संकट व दुःखों के उत्तम तीन ही कारण आज प्रधान रूप से देखे जा रहे हैं। आहार में नियम व नियंत्रण न होने से ही बहुत से रोग होते हैं। मिथ्या आहार विहार ही रोग के कारण हुआ करते हैं।

हर काम में उतावली करना। बिना सोचे समझे झट किसी काम में कूद पड़ना। काम शुरू किये देरी हुई नहीं कि जरा सी अड़चन पड़ने पर उसे छोड़ दूसरा काम हाथ में ले लेना। जरा से भय व संकट आते ही घबड़ा जाना और भगवान से मृत्यु के लिये पुकार करने लग जाना। जरा किसी से मतभेद हो जाने पर मरने मारने को तैयार हो जाना—इत्यादि लक्षण व्यग्र चित्त (जिसमें धैर्य व सहिष्णुता का अभाव होता है) के हुआ करते हैं। ऐसे व्यक्ति भीरू व कायर ही होते हैं या बन जाते हैं और ऐसे लोगों से कोई भी या कभी भी बड़ा काम नहीं हो सकता क्योंकि उनमें बड़ा काम करने के लिये धैर्य व उत्साह का अभाव हो जाता है।

'Nothing great was ever achieved with out enthusiasm'.
Emerson.

अर्थात् बिना उत्साह के कोई भी बड़ा काम सम्पादन नहीं हो सकता।

ऐसे व्यग्र चित्त वाले लोगों में धैर्य, साहस और सहिष्णुता का तो अभाव ही हो जाता है। ऐसे व्यक्ति अपने मनोवेग में ऐसे ही बह जाते हैं, जैसे नदी की धारा में शव। चित्त की इस डांवाडोल स्थिति के उपचार के लिये धैर्य, साहस और सहिष्णुता, विवेक, निर्भयता आदि सद्गुणों का निरन्तर अभ्यास अपनाना आवश्यक है।

४ आत्म हीनता

मनुष्य जिस प्रकार अपनी हानि मिथ्या अभिमान अपनाने से करता है, उसी प्रकार जब वह आत्महीनता को अपनाता है तो हानि उठाता है। अपने उत्थान पथ से भ्रष्ट हो अवनति की राह को अपना लेता है। हर बात व काम के लिये अपने को छोटा समझने लगता है। इस प्रकार अपने पतन का कारण आप ही बन बैठता है। यह मनुष्य के हृदय की कमजोरी के कारण ही होता है। अपनी शक्ति को वह स्वयं ही कम आँकने लगता है।

इस बात को वह बिलकुल ही भूल जाता है कि मैं भी उस अपार शक्ति का अंश हूँ, जो सारी सृष्टि को चला रही है।

यदि सृष्टि का सृजन हार पहले ही अपने मन को छोटा बना लेता, तो इतनी विशाल सृष्टि की रचना कैसे सम्भव होती। संसार का प्रसिद्ध भारत का ताजमहल बनाने वाला कारीगर (कलाकार) यदि अपने मन को पहिले ही छोटा बना लेता, तो आज दुनियाँ भर के आशीर्वादों व शुभकामओं से कैसे वह धन्य होता ?

सन् १९६७ का भयंकर युद्ध जो अरब व इजरायल के बीच हुआ। इजराइल एक छोटा सा राष्ट्र केवल २७ लाख आवादी का है, जब कि सभी अरब राष्ट्र मिलकर कई करोड़ हैं। इस युद्ध में इसराइल ने अरब राष्ट्रों की पूर्ण सैन्य शक्ति तो तबाह की ही है, साथ ही उनकी भूमि का बहुत सा भाग भी युद्ध में जीत गया। यह सब कुछ एक छोटे से इजराइल के विशाल हृदय शक्ति व मनोबल का उदाहरण जिसने केवल ५ दिन में युद्ध जीत कर दुनिया को अचम्भे में डाल दिया।

इस प्रकार एक छोटे से राष्ट्र ने अपने अदम्य उत्साह और शौर्य से अरब के कई बड़े राष्ट्रों का मान मर्दन कर दुनिया को दिखा दिया कि छोटा कहलाने वाला भी बहादुरी का रिकार्ड तोड़ कर बाजी मार सकता है। उधर वे सब मिलकर जो उसे मिटाने पर तुले हुये थे, उनकी अपार जनशक्ति काफी हद तक मिट्टी में मिल गई। यदि वह छोटा देश इजराइल यह कह कर चुप बैठ जाता कि मैं छोटा सा देश कैसे उनका मुकाबला कर सकता हूँ तो आज दुनिया से अपने अस्तित्व को ही खो बैठता।

वास्तव में यह संसार भीरु व कायरों के लिये नहीं बना है। इस जगत्‌रूपी संघर्षों के रण क्षेत्र में तो योद्धा ही विजयी होकर राज्य भोग करते हैं। भीरु व निरुत्साही जीवन जिसने अपने को छोटा बना लिया है, तो आग की उस छोटी सी चिनगारी के समान ही है जो थोड़ी देर में ही बुझ कर शान्त होने को होती है, उससे न तो गर्मी मिल सकती है और न प्रकाश तथा न किसी के काम ही आ सकती है।

असली बात यह है कि जो मनुष्य अपने को क्षुद्र मान लेता है वह स्वयं अपने से घृणा करने लगता है, वह अपने मनोबल व उत्साह को खो बैठता है, फिर उससे कोई बड़ा काम हो ही कैसे सकता है ? अपने उन्नति-द्वार को वह स्वयं बन्द कर बैठता है। इस प्रकार वह स्वयं अपनी अधोगति का कारण बनता है। इसीलिये भगवान् ने कहा है :—

"उद्धरेदात्मनात्मानं—
नात्मानमवसादयेत् ॥"

अपनी आत्मा से अपना उद्धार स्वयं करो आगे बढ़ने से आत्मा की आवाज को ठुकराओ नहीं। इस प्रकार मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है। चाहे तो उसे सौभाग्य शिखर पर पहुंचा दे और चाहे तो पतन के अधोगर्त्त में।

कुरुक्षेत्र के विशाल रण क्षेत्र में जब अर्जुन अपने कुटुम्बी जनों को चारों ओर देखकर ममतावश हृदय की दुर्बलता को प्रदर्शित करते हुए किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है, उसका मनोबल क्षुद्र हो जाता है, तो उसके मनोबल को पुनः जागृत करने के लिये ही भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के उपदेश को प्रस्तुत किया और तभी अर्जुन अपने पुनीत कर्म करने के लिये तैयार हुआ।

मनोबल की वृद्धि से ही मनुष्य में समस्त सद्गुणों का स्रोत घुल जाता है और वह उन्नत विकसित जीवन की ओर प्रयत्नशील होता है। सच पूछो तो ससार में महान् कार्य आज तक इसी मनोबल की उच्च देन हैं। जिस व्यक्ति में जिस समाज में और जिस राष्ट्र में यह मनोबल क्षुद्र पड़ जाता है, उसकी प्रतिष्ठा गिर जाती है या वह पतन को प्राप्त होता है।

५ जीवन में उदासी

मनुष्य अकर्मण्यता में अपने जीवन को उदासीन बना देता है, और जीवन उसे भारमय लगने लगता है। इससे जीवन की सार्थकता समाप्त हो जाती है। कर्म में आशा से ही जीवन बना है, निराशा ही मृत्यु है। ब्रह्मा ने

आशा से ही सृष्टि की रचना की। आशा रूपी इंजन से संयुक्त होकर ही सृष्टि का रथ निरन्तर चलायमान है।

यदि मनुष्य आशा के साथ आगे कर्मक्षेत्र में न बढ़े, तो जीवन निर्वाह के लिये विना बोये खेत कहाँ से काटेगा ? जब कि उसके साथी अन्य कृषक खूब खेती उगा फसल पर अपने घर को अन्न से भरपूर कर देंगे। देखा जाता है कि कई अज्ञानी लोग जीवन में उदासी ग्रहण कर आत्मघात के साथ भयंकर पाप कर अपनी लौकिक लीला को ही समाप्त कर देते हैं।

जीवन से उदासीन रहने पर मनुष्य के अन्दर से सद्‌गुणों का लोप होकर चरित्र बल के विकास का द्वार ही बन्द हो जाता है। उदासीनता और अकर्मण्यता दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो लोग आलसी होते है, वे काम से बचकर डरते रहते हैं। भय के कारण वह किसी काम को हाथ में लेना ही नहीं चाहते, क्योंकि प्रत्येक काम में वे विविध शंका व भय देखते हैं।

उदासीन रहकर मनुष्य अपने जीवन में हानि तो उठाता ही है, साथ ही वह देश व समाज की भी हानि करता है। कई लोग जीवन में एक बार भी असफल होने पर डर के मारे आगे से किसी काम में हाथ डालना छोड़ देते हैं; क्योंकि एक वार असफल होकर सफलता की आशा निराशा में बदल जाती है। यह एक बड़ा दोष है।

परन्तु असली मनुष्य या व्यक्ति जीवन में संकटों को झेलता हुआ निरन्तर कर्म क्षेत्र में अपनी गति को तेज कर देता है, और लगातार संकटों के प्रहार व तूफानों को चीरता हुआ जीवन में सफल होकर रहता है। यही असली मानव या वीर पुरुष की पहिचान है।

आप किसी के घर जाकर दरवाजा खटखटाते हैं, एक बार, दो बार या कभी २ तीन चार बार खटखटाने से दरवाजा खुलता है। इसी प्रकार बुद्धिमान कर्मठ व्यक्ति काम में बार २ असफल होने पर भी उसे छोड़ता नहीं, और अन्त में उसे पूर्ण करने में सफल होकर रहता है। यही उत्तम व्यक्ति की पहिचान है।

"नित्येव चींटी का उदाहरण ध्यान में रखते चलो।
हो हानि भी कुछ बीच तो पर्वाह क्या चलते चलो।।
गिर गिर पड़ो यदि गर्त्त विपदा में उठो धीरज धरो।
सम्हलो ! सहो ! दुख दर्द को कर्त्तव्य निज पालन करो।।

६ दूसरों के सम्मुख मूर्ख बनना

किसी भी व्यक्ति, वस्तु या कार्य में अत्यधिक आसक्त होकर अपने कर्त्तव्य कर्म को भूल जाना ही मूढ़ता या मूर्खता है। दूसरों की चिकनी चुपड़ी बातों से मोहित होकर उन पर अति विश्वास कर लेना या मिथ्या प्रलोभनों में फंसना, किसी बात पर भावावेश में आकर दूसरे पर पूर्ण न्योछावर हो जाना और थोड़ी सी सफलता प्राप्त करने पर पूर्ण सफलता का संतोष कर लेना ये सब मूर्खता के परिचायक हैं।

कई लोग अपने परिवार के बाल बच्चों पर इतने आसक्त होते हैं कि दूसरों के बच्चों से घृणा करते हैं और केवल अपने ही बच्चों को प्रिय मानते हैं—इस प्रकार की अति आशक्ति लोगों को घृणा का पात्र बना देती है। यह मनुष्य की बड़ी भूल है। मनुष्य के लिये प्रभु की सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ वस्तु व जीव समान रूप से प्रिय होने चाहिये, इसी में बुद्धिमानी है। आसक्ति ही दुःख की जड़ है।

अच्छाई, सुन्दरता व सद्‌गुणों का योग्य सत्कार होना चाहिये, परन्तु उन्हें भीतर व बाहर से खूब जांच लेना आवश्यक है। महज यह बड़े आदमी ने किया या कहा इस पर लट्टू होकर वैसा आचरण करने लग जाना—मूर्खता है। कई लोग बहुत सीधे होते हैं, यह भी एक प्रकार का बड़ा दोष है। ऐसे लोग हर एक पर विश्वास कर बैठते हैं. जिसमें कि दुष्ट लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि कर बैठते हैं। यह बात याद रखिये कि जो लोग आप का जरा सा परिचय प्राप्त कर आपके प्रति अत्यधिक प्रेम दिखाने लगें, उनका कदापि विश्वास न करें। इस बात में सदैव सतर्क रहें कि बिना जाने बूझे, छोटी मोटी बातों के आकर्षण से किसी पर मुग्ध हो जाना बड़ा हानि कारक सिद्ध

हो सकता है। यह दोष पुरुषों के बजाय स्त्रियों में अधिक देखा जाता है, जिससे उनको कई बार बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

महा कवि शेक्सपियर ने कहा है:—

"Love all, trust a few." प्रेम तो सब से करो, परन्तु विश्वास थोड़ों ही पर।

अब हम मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डालने वाले कतिपय दोषों की चर्चा संक्षेप में करते हैं।

अनधिकार चेष्टा

बिना आज्ञा मिले सभा आदि में भाषण झाड़ने लगना, बिना बुलाये ही किसी के घर पहुँच जाना, जो बात विश्वास के अयोग्य हो उस पर झट से विश्वास कर लेना—इस प्रकार की अनधिकार की चेष्टाओं से मनुष्य का व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन अनादर को प्राप्त होता है और लाग ऐसे व्यक्ति को मूर्ख समझने लगते हैं। मनुष्य की किसी भी प्रकार की कुचेष्टा को अनधिकार चेष्टा कहा जाता है। कई दुकानदार दाम तो पूरा लेते हैं, परन्तु माल खोटा देते हैं। किसी से काम लेकर उचित मजदूरी न देना; नकली रोव झाड़ना, चोर बाजारी से धन एकत्रित करना इत्यादि अनधिकार चेष्टाऐं ही हैं। इन सबसे चाहे क्षणिक लाभ भले ही हो परन्तु अन्त बुरा होकर रहता है। इसीलिये कहा है 'भगवान् के घर देर है, परन्तु अन्धेर नहीं।" बुरे कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है। इससे मनुष्य का पतन निश्चित होता है। इसलिये मनुष्य को भूलकर भी इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक असामयिक और मर्यादा विरुद्ध आचरण से मनुष्य को बचना चाहिये।

कई लोग अच्छे विद्वान् होने पर भी समाज में व्यवहार पटु न होने के कारण ही प्रतिष्ठित नहीं होते।

मनुष्य की व्यावहारिक अयोग्यता के कतिपय प्रसिद्ध दोषः—

मुख दोष—कई लोग बहुत बोलने में ही अपनी चतुराई समझते हैं। ऐसे लोग प्राय: कर्म भीरु हुआ करते हैं। ऐसे लोगों से विश्वास हट जाता

है। इससे मनुष्य दूसरों की नजरों में हलका पड़ जाता है। इससे वातावरण भी दूषित हो जाता है। सद्व्यवहार भ्रष्ट हो जाता है। जैसा कि आज भारत में सर्वत्र देखा जारहा। मुख दोष के कतिपय कहावतें :—

१. नाक भौं चढ़ाना, आँख दिखाना, गाल फुलाना।
२. भले आदमियों की बात काटना।
३. अपना ही रोना रोना।
४. भद्दा हास परिहास।
५. मुँह खोले रहना।
६. दाँत पीसना।
७. बात बात में हंसना या रोना।
८. नीच के मुँह लगना।
९. पक्षपात करना।
१०. दुराग्रह करना।
११. वाणी का कंजूस होना।
१२. रूखी बात बोलना। या, रूखा होना।
१३. वायदा करके मुकर जाना।
१४. चाटु कारिता करना।
१५. पिछलग्गू होना।
१६. तिल का ताड़ बनाना।
१७. बात-बात में सिद्धान्तों की झड़ी लगाना।
१८. छोटा मुँह बड़ी बात।
१९. अनुचित टीका टिप्पणी करना।
२०. कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भान मती ने कुनवा जोड़ा।
२१. दूसरों की गुप्त बात पूछना।
२२. दुरंगी चाल चलना।
२३. जान बूझ कर सर्प की बांबी में अगुली डालना।
२४. मूर्खों के आगे विद्वत्ता झाड़ना या अन्धों में काना राजा।

२५. व्यर्थ का श्रम करना या माथे पच्ची करना।

२६. नाखून काटने को कुल्हाड़ी लेकर दौड़ना।

२७. दूसरों के काम में अनुचित हस्तक्षेप करना।

इनसे अपने को बचाने के लिये मनुष्य को सदैव सतर्क रहना जरूरी है।

व्यावहारिक जीवन में निरन्तर सावधान रहना आवश्यक है।

व्यावहारिक जीवन में आदान प्रदान के कार्यों में सदैव निष्कपट व स्पष्ट रहना जरूरी है। लेन देन की जरासी भूल से व्यक्तित्व तड़क जाता है, जिसका सुधार करना फिर कठिन हो जाता है। यदि आप दूसरों की सहायता चाहते हैं, तो पहिले आप उनके सहायक बनें। दैनिक जीवन की प्रत्येक बात व काम में समय का ध्यान रखना जरूरी है। जो समय का आदर करता है, समय भी उसका आदर करता है। कोई भी असामयिक बात व कार्य सभी को खटकता है। समयानुसार आचार विचार का ही लोक में सर्वत्र आदर किया जाता है।

स्वजनों व मित्रों पर कभी भी अनुचित दबाव नहीं डालना चाहिये। इससे उनका विश्वास व सम्मान आपके प्रति घट जाता है। किसी की प्रसन्नता व सुख में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अवांछनीय होता है।

अकेले में किसी स्त्री से वार्तालाप व हँसी मजाक करना सर्वथा अनुचित है! स्त्री हमारी पूज्यमाता है, इसलिये स्त्री जाति के प्रति इसी प्रकार की उच्च भावना होनी चाहिये।

मान लोलुपता से अपने को बचाना चाहिये! जरा जरा सी बात से बुरा मान लेना या क्रोध करना—इस बुरी आदत से अपने को दूर रखने में ही हित है। व्यावहारिक जीवन में अतिमृदु होना या शान्त रहना भी अनुचित है। इससे दुर्जनों को लाभ उठाने का अवसर मिलता है और आपके अनहित साधन में वे दुष्ट सफल होते हैं। यह याद रखना चाहिये कि समाज में दुर्जनों की प्रबलता अधिकतर सज्जनों की मृदुता और सरलता से ही बढ़ती है। अतः बुद्धिमानी इसी में है कि समाज में रहकर अधिक मृदु शान्त

व सरल न बनकर उचित स्वभाव अपनाने में ही सब की भलाई है।

दैनिक जीवन चर्या में विचरते हुये मनुष्य को आत्म निरीक्षण व सतर्क रहना चाहिये। जिस प्रकार हम कहीं जाने से पहले अपनी वेष भूसा वस्त्र आदि को देख लेते हैं, कि सब प्रकार शुद्ध तो है, कहीं मैला व धब्बा तो नहीं पड़ा है, इसी प्रकार आभ्यन्तरिक दोषों को दूर करने में भी प्रति दिन सावधानी वरतने से ही जीवन शुद्ध हो सकता है। अन्त में इस संघर्षमय संसार में प्रतिदिन सावधानी के साथ खूब देख भाल कर ही आगे बढ़ा जा सकता है।

"नील गगन सुखमय यदि ऊपर
नीचे काँटे बिछे अतोल।
समझ बूझ कर चलना मानव
पग पग आँखे खोल ।। मुसा०

ॐ तत्सत

घूँट ११

जीवन पर ऋण का प्रभाव

रूखा सूखा खाइ के ठण्डा पानी पी ।
देख पराई चूपड़ी मत ललचाये जी ।।

हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति अपने परिश्रम से प्राप्त ईमानदारी की कमाई पर जोर देती है । हम स्वयं मेहनत करें दूसरों के टुकड़ों पर न जीवत रहें । जीवन भर परिश्रम की कमाई से ही गुजर वसर हमारी होती रहे—यही हमारे स्वर्ग तुल्य प्राचीन भारतवर्ष का उच्च आदर्श था ।

सबसे बड़ी गलती भारत ने जो की वह यह कि आजाद होते ही इसने संसार भर में अपने विकास के लिये चारों ओर भीख मांगनी आरम्भ कर दी और तब से अब तक संसार भर के राष्ट्रों के कर्ज से यह दिन व दिन दबता चला जा रहा है, और जिस निमित्त यह लिया जा रहा है वह भी पूरा होता नजर नहीं आ रहा है; प्रत्युत विकास की जगह विनाश ही विनाश सर्वत्र दिखाई दे रहा है ।

आम जनता को आरम्भिक जीवनोपयोगी सामग्री की उचित मात्रा में न मिलाने से जीवन भार सा प्रतीत हो रहा है । द्रव्यों के मूल्य आसमान को छू रहे हैं, जो आम जनता की पहुँच की बाहर की बात है । यह सब कुछ नरक सा जो आज लग रहा है, वह एक मात्र भारत पर विदेशों का जो अथाह ऋण लिया जा रहा एक मात्र उससे ही प्रतीत होता है । क्योंकि ऋण के विषय में वेद ने स्पष्ट कहा है—

"अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदम् ।।"

(अथर्व ६/११७/१)

अर्थात् ऋण लेना एक प्रकार की चोरी है । हमें उतने में ही अपना निर्वाह करना चाहिये, जितना हम कमाते हैं । जो कमाता कम है और

खर्च अधिक करता है, वह चोर है। दूसरे की कमाई खाने वाला चोर होता है।"

हम अपनी ईमानदारी की कमाई से जो प्राप्त हो, उसी के अन्दर हमें खर्च करना चाहिए। इस लिये अधिक खर्च करने के लिये जो कर्ज निकालता है वह पाप करता है, और जान बूझ कर अपने लिये नरक की राह तैयार करता है। क्योंकि कर्ज में लिया हुवा धन एक प्रकार से पाप की कमाई का धन है, जो जन्म-जन्मान्तर में मानव् को नरक में जा गिराता है। इसीलिये भारत जो आज नरकागार सा बना दीख रहा है. वह एक मात्र अथाह ऋण जो विदेशों से लिया जा रहा है, उसी का परिणाम में समझ पाया हूँ। परन्तु अफसोस कि हमारे कर्णधारों को अभी भी अपनी भारी गलती महसूस नहीं हो रही है।

"रमतां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापी स्ता अननिशम्।"

(अथर्व ७/११५/४)

अर्थात् पुण्य (परिश्रम) से कमाया धन ही सुख देता है। जो पापयुक्त (कर्ज में लिया) धन है, उसका मैं नाश करने वाला बनूँ।"

प्रपपेतः पापि लक्ष्मिः। (अथर्व ७/११५/१)

अर्थात् पाप की कमाई छोड़ दो। अपने पसीने की कमाई से ही मनुष्य सुखी रह सकता है। ऋण लेकर मनुष्य स्वयं दुख को आमन्त्रित करता है।

रयिं दानायत्तोदय। (अथर्व ३/२०/५)

"दान देने के लिये धन कमाओ। संग्रह या विलासिता के लिये धन न कमाओ।"

एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

A money lender, He serves you in the present tense, he lends you in the conditional mood, keeps you in the subjunctive, ruins you in the future." (Addison)

"साहुकार ! वर्तमान में तुम्हें काम चलाने के लिये कर्ज देता है, गांठ खुलाई, ब्याज आदि शर्तों से तुम्हें ऋण देता है, तुम्हे अपने दबाव में रखता है, भविष्य में तुम्हें तबाह कर छोड़ देता है।" आप देखते हैं, इन शब्दों से उपरोक्त वेद के कहे मूलभूत शब्दों का ही तथ्य स्पष्ट होता है, जिससे किसी को ऋण के विषय में कोई शंका शेष न रह जाय।

मेरे विचार से तो आज के युग में ऋण लेना व देना दोनों पाप हैं, और जो इस लेन देन के व्यापार में पड़ता है, वह पाप करता है। ज्योंही हमारे पास अनायास धन आता है त्योंही नाना प्रकार के व्यसन भी अनायास हममें उठ खड़े होते हैं। अपने संयमित आहार विहार के क्रम से हम भ्रष्ट हो जाते हैं। सत्कर्म से प्रवृत्ति हट कर कुकर्म की ओर होने लगती है पहले जो महनत व उत्साह कर्म के प्रति हमारे अन्दर था, इस अनायास धन से वह कम हो गया और उसके स्थान पर अकर्मण्यता आ छाती है, जो दुःख व नरक का मूल है।

कर्जा देकर हम मित्रों को भी अपने शत्रु बना बैठते हैं। आज हमने कुछ धन एक मित्र को एक माह की मियाद पर कर्जा दिया, परन्तु एक माह में वह न दे सका, दूसरा माह भी गुजर जाता है, अब मित्र कहता है अब जब हो जायेंगे तभी दिए जायेंगे। इस प्रकार हमने अपने हाथ से ही अपने मित्र को भी शत्रु बना छोड़ा।

इसलिये यदि शुद्ध जीवन निर्वाह करना है तो इस लेन देन के दूषित व्यापार से दूर रहो। सब के साथ स्पष्ट सद्व्यवहार करो। हाँ जिनके पास जो संग्रह है उसको दूसरों के हित में लगाओ, और पुण्य कमाओ निरन्तर परिश्रम करते जीवन निर्वाह योग्य कमाई ही सुख व सौख्य कारक है।

सर्वेषामेव शौचनामर्थं शौचं परं स्मृतं।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारि शुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति)

अर्थात् सब शुद्धियों में धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ हैं। जो ईमानदारी से कमा कर खाता है, वही व्यक्ति धन की दृष्टि से शुद्ध कहा जा सकता है। मिट्टी या जल से शुद्ध हुआ नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि जो पराया धन नहीं हरता (कर्ज निकाल कर गुजर बसर करना पाप समझता है) और न्यायपूर्वक परिश्रम से रोजी कमाता है, वही शुद्ध है, जो अन्याय से धन कमाता है, किन्तु मिट्टी लगाकर जल से स्नान करता है वह केवल शुद्धता का ढोंग ही लोगों को दिखाता है।

इस ऋण लेने व देने की कुप्रथा से आज राष्ट्र का चरित्रबल भी पतित हो गया है।

हम निरन्तर सदाचारी जीवन से भ्रष्ट होते जा रहे हैं परिणामतः अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ती जारही है। और आज पढ़े लिखे लोगों व विद्यार्थियों में यह कुप्रवृत्ति घटने के बजाय निरन्तर बढ़ती दिखाई देती है। मनुष्य में सबसे बड़ा बल चरित्रबल हुआ करता है, अन्य सब बल बाद में हैं, चरित्र बल के पतन से व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का पतन निश्चित दिखाई देता है, जिसकी आज भरमार है।

मेरा निजी विचार तो यह है कि आज की शिक्षा में, शासन आदि व्यवस्था में बाहरी बनावटी वेष भूसा में अधिकतर शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्तियों में चरित्र बल का जितना पतन दिखाई दे रहा है उतना अनपढ़ सीधे सादे ग्रामीणों में नहीं दिखाई दे रहा है। यदि भारत में सदाचार या धर्म कुछ रहा है तो एक मात्र दूर बसे ग्रामीणों में कोई जाकर देख ले।

क्या करना है ऐसे डिग्री धारी साहब लोगों का, क्या करना है ऐसे संसद सदस्यों का जो अपने बनाये कानून आदि सुरक्षा व्यवस्था का स्वयं ही हनन कर रहे हैं, क्या करना है ऐसे विद्यार्थियों का जिनको राष्ट्रीय संपत्ति नष्ट करने में तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है और वह संपत्ति जिसके निर्माण में जनता का अरबों रुपया लगा है।

अभी हाल ही में भाषा विरोधी आन्दोलन में दिल्ली में उ०प्र० के दो मन्त्रियों ने धारा १४४ को तोड़ा। उत्तर और दक्षिण में इसी आन्दोलन

में कई ट्रेनें, रेलवे स्टेशन, डाकखाने, सरकारी मोटर गाड़ियाँ जला कर खाक में मिला दिये। भारत के अन्दर यही आचार विचार का व चरित्र बल का नमूना क्या विदेशों में भारत को कलंकित नहीं कर रहा है ? संसद भवनों व पार्लियामेंट, जनता के चुने हुए नुमाइन्दो के पशुओं की तरह लड़ने के अखाड़े मात्र रह गये हैं।

इससे राष्ट्र के चरित्र बल के पतन की निकृष्टता का ही अन्दाजा लगता है। और वह भी उस भारत के जो कभी संसार का ताज बन कर दुनियां के राष्ट्रों को उच्चकोटि की शिक्षा देने में अग्रणी था।

इसी से तो हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति दुनिया के माने हुये दार्शनिक— श्री सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन जी ने हाल ही में गुजरात विद्यापीठ के १९६७ के दीक्षान्त भाषण में, बड़े दुःखभरे शब्दों में कहा था— "विद्यार्थियों के अनाचार के पीछे हम नेताओं तथा अध्यापकों का आचार ही मूल कारण है—

What we leaders & tcachera d;d, it was followed as an example. If there was anyth!ng wrong wlth the students we all are guilty for it.

मेरी राय में तो यह सब कुछ विकास के नाम से जो असंख्य अरब रुपये ऋण के रूप में जब से आने आरम्भ हुए, वही एक मात्र कारण हैं, जो नाटक का अखाड़ा आज भारत में देखा जा रहा है। हाँ कुछ बड़े २ पूंजीपति व नेता लोगों को इससे लाभ अवश्य हुआ है।

राजस्थान अनुव्रत समिति के द्वितीय वार्षिकोत्सव का उदघाटन करते हुए श्री नन्दा ने कहा कि राष्ट्र की हालत दिन व दिन बड़ी तेजी से गिरती चली जा रही है आम हालत असाधारण हो गई है। यदि राष्ट्र को सर्वनाश व बर्बादी से बचाना हैं तो अविलम्ब कुछ न कुछ करना ही होगा।

राष्ट्र की आर्थिक समस्या की समीक्षा करते हुए श्री नन्दा ने कहा बावजूद इस तथ्य के कि पंचवर्षीय योजना के कार्यरूप में लाने के लिए

अरबों रुपये खर्च किये गये, राष्ट्र के अन्दर सर्वत्र आम असन्तोष पाया जारहा है।"

इसी लिए एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

If a cuntry finds itseif wretched, sure enough the country has been misguided. Carlyle.

यदि कोई राष्ट्र अपने को बर्बाद हुआ पाता है, तो यकीनन जानो कि वह गलत रास्ते पर ले जाया गया है।

अतः अब भी यदि चेत कर अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति पर हम भारतीय न चले, तो भविष्य में क्या होने वाला है यह भारत में होने वाली दैवी विपत्तियों की चेतावनी से जाना जा सकता है।

ॐ तत्सत ११

घूँट १२

मानव जीवन में यौवन, जरा।

बाग का माली रात दिन परिश्रम करके पहिले बाग को खोद कर हल चलाकर भूमि को पेड़ पौधे लगाने के लिये उपयुक्त बनाता है। यदि भूमि बहुत सख्त व सूखी है जो खोदने के बाद उसे सींचता भी है। जब सब प्रकार वह ठीक हो जाती है, जब अलग-अलग क्यारी बनाकर भिन्न-भिन्न पेड़ पौड़ों को लगाता है। अब उसका दैनिक कार्य बन जाता है कि हर पेड़ पौधा ठीक तरह से बढ़ता रहे। जैसे-जैसे पेड़ पौधे बढ़ने लगते हैं, हरियाली बढ़ती जाती है फूल व फल-लह लहाने लगते हैं, बाग के माली का उत्साह व आनन्द दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जाता है। अब अपने बाग को सब प्रकार, गुलजार देखकर माली फूला-फूला नहीं समाता। यहां तक कि उधर से गुजरने वाले राहगीर व अन्य दर्शक लोग माली की इस बाग की सुन्दरता के लिये बराबर प्रशंसा करने लगते हैं और अपनी हार्दिक शुभ कामनाओं को उस परिश्रमी माली को अर्पित करते हैं। कारीगर की उत्तम कला को देख कर कौन सहृदय प्रशंसा न करेगा ?

बस ठीक इसी प्रकार उस बड़े माली सृष्टि का सृजन-हार ने भी इस वृहत् बाग को बनाया है। हाँ, उस माली और इस सृष्टि के माली में कुछ अन्तर है तो इतना ही है कि इस की कारीगरी में कहीं भी मानव के चर्मचक्षु दोष व त्रुटि नहीं पासकेंगे तथा इस की समस्त कारीगरी जीवमात्र के कल्याण के लिये ही निर्मित हुई हैं।

ऊपर मैंने जो वृतान्त दिया है, उसमें नास्तिकों का भी पूर्णतः खण्डन हो जाता है। हमें उस बड़े माली का आभारी होना चाहिये जिसने हमारे कल्याण के लिये ही यहाँ नाना प्रकार के पदार्थ पैदा कर सजाये हैं। उसकी इस सृष्टि रचना में, कोई बतावे तो, कोई भी वस्तु निष्प्रयोजन नहीं बनी है, उसकी इस वृहत् रचना से या उसमें बनी तमाम सामग्री—जीव, पेड़, पौधे

आदि से जो द्वेष करता है, वह स्वयं अपने लिये हानि का गढ़ा खोदता है, जिसमें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा।

हम जब किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो हृदय में कितना आनन्द छा जाता है साथ ही बनाने वाले के प्रति भी एक बार तो शुभ कामना की लहर दौड़ पड़ती है। उस बड़े माली की हार्दिक भावना ही यही है कि मेरी रची हुई सृष्टि परस्पर मेल जोल से, एक दूसरे के प्रति सद्भाव से खूब फूलती रहे और वह सम्पूर्ण सृष्टि का बाग सदा गुलजार बना रहे।

आप देखते हैं कि बाग में कोई किसी प्रकार से हानि पहुँचाता हैं, तो उसे दण्ड या सजा दी जाती है। ठीक इसी प्रकार सृष्टि रूपी बाग में कहीं किसी प्रकार की कोई हानि पहुँचाता है, तो वहां के निवासियों को सजा देने के लिये ही दैवी प्रकोप के रूप में बाग के माली से दंड दिया जाता है।

जीवन में अनाचार, तोड़ फोड़ व एक दूसरे के प्रति असद् व्यवहार सृष्टि के माली को सर्वथा असहनीय हैं। प्रकृति के साथ असहयोग करके मनुष्य अपना नाश स्वयं करता है। व्यक्ति में, परिवार में, समाज में और देश में जब तक प्रकृति के साथ सुव्यवस्था और सहयोग का भाई चारा चल रहा है तभी तक वहाँ शान्ति व खुशहाली कायम रहती है, अन्यथा सर्वनाश निश्चित है।

दुर्भावनायें, अनाचार जीवन को गन्दा बनाकर उसे कमजोर भी बना देते हैं कमजोर जीवन बिना कोई बड़ा काम किये ही शीघ्र वृद्धत्व को प्राप्त हो नष्ट हो जाता है। सद्भाव व सदाचार ही जीवन को सुखी व दीर्घायु प्रदान करने में समर्थ है। और इसी से सत्कर्मों के प्रति मनुष्य निरन्तर उत्साह युक्त रहता है। यही योवन को बनाये रखने में भी प्रधान कारण है। यदि मनूष्य सत्कर्मों के प्रति नित नया उत्साह रक्खे हुये अपनी पारिवारिक और सामाजिक उपयोगिता बनाये रक्खे तो वह बृद्धावस्था में भी योवन-सुख का अनुभव कर सकता है।

यदि नित्य नई नई चीजें सीखने की आदत मनुष्य अपनी बनाले तो वह आजीवन नव योवन का अनुभव करता हुआ सुखी व प्रसन्न रह सकता है। भूमि पर फैली हुई हरी भरी दूर्वा (दूब) को देखिये, उसकी आयु का कोई अन्दाजा नहीं है, परन्तु अपनी आयु के अठावन वर्षों के अन्दर मैंने अपने चौक---आँगन में फैली इस दूर्वा को सदा इसी रूप में हरा भरा देखा, उसमें नित नई कोपलें व शाखायें फूटतीं देखीं -- और यही उसके नित नये योवन का कारण मैं समझ पाया हूँ।

जिस हृदय से नई २ चीजें सीखने व अपनाने की इच्छा शान्त हो चुकी, सृष्टि के असीम सौन्दर्य का आकर्षण जिसको नही लुभाता, नित नये कर्म के प्रति जिस जीवन में उत्साह नहीं रहा, नवीन आशा स्रोत जिस हृदय से सूख चुका, केवल उदासी ही जीवन में दिखाई दे रही है। वह हृदय चाहे नौजवान का ही क्यों न हो, वह वृद्ध हो चुका चाहे बाहर शरीर की चमड़ी तरुण ही दिखाई दे।

अधिक आयु में अपनी इन्द्रियों को निरन्तर कार्यरत, रखने के लिये आयु के अनुकूल कार्यों, व्यायाम और भोजन व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। भोजन में अन्न की मात्रा कुछ कम करके फल फूल, सब्जी दूध आदि लघु व सुपाच्य द्रव्यों की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। इसी प्रकार विश्राम की अवधि भी कुछ बढ़नी जरूरी होती है। परिश्रम का कार्य भी कुछ कम कर देना चाहिये।

जो अकर्मण्यता, निरुत्साह, नई नई चीजें सीखने की अनिच्छा---इन हानिकारक भावनाओं को अपना लेते हैं, वे जवान होते हुए भी वृद्ध ही हैं और इसके विपरीत यदि वृद्ध में भी कर्म के प्रति निरन्तर उत्साह, नई नई चीजों को सीखने की उमंग व हृदय की बलशीलता दिखाई देती है, जो वह चाहे कितनी ही बड़ी आयु का क्यों न हो, अभी नौजवान ही है।

यह न भूलिये कि चिन्ता, सन्देह, आत्मसंशय निराशा, कायरता व भय हीं मनुष्य के वे बड़े २ वर्ष हैं, जो उसके शिर को झुका कर विकासोन्मुख आत्मा को शीघ्र मिट्टी में मिला देते हैं। हम उतने ही जवान है, जितना हमें

अपनी आत्मा पर विश्वास है और उतने ही वृद्ध जितना हममें सन्देह व अविश्वास है अथवा जितना हमारे में साहस है उतने ही जवान और जितनी निराशा उतने ही वृद्ध हैं।

वृक्ष व पौधे का जीवन तभी तक सार्थक है, जब तक वह अपने फूल फल आदि को दूसरों को देता रहता है, तभी तक वह खड़ा भी है अथवा जीवित है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी अपने सत्कर्म रूपी फलों से दूसरों को तृप्त कर रहा है, तभी तक जीवित है। परन्तु जब उसके अन्दर अकर्मण्यता छा जाय, उत्साह की बिजली शीतल पड़ जाय तब तो उसके लिये यही चारा रह जाता है कि वह प्रभु से प्रार्थना करे कि हे प्रभो अब यहां से उठाओ !

याद रक्खो ! जब तक इस धरा पर हमारा हृदय और मस्तिष्क प्रकृति के सहयोग से असीम सौन्दर्य, उल्लास, साहस, वैभव व शक्ति का सन्देश प्राप्त करने में समर्थ है, तब तक हम नित नौजवान हैं, चाहे सम्पूर्ण शरीर की चमड़ी झुर्रियों से ढकी ही क्यों न हो !

ओ३म् तत्सत १२

———

घूँट—१३

जीवन में भय, मृत्यु—भय कैसे दूर किया जाय ?

"विशोक आनन्द मयो विपश्चित्—
स्वयं कुतश्चिन्न विभोति कश्चित् ।।
(शंकराचार्य)

शोक रहित आनन्द मय विद्वान स्वयं किसी से भी भयभीत नहीं होता।

वास्तव में देखा जाय तो मैले पर ही मक्खी बैठती हैं। उन्होंने तो वहीं बैठना है, जहां उनके लिये चारा मिलता हो। शुद्ध स्थान में किसी ने भी मक्खी बैठते नहीं देखी। इसी प्रकार जिसका हृदय या मन विविध दोष रूपी मलिनता से भरपूर है, वहीं भय, शंका आदि मक्खियां भिनभिनाती दिखाई देती हैं और ये दोष मनुष्य को तभी आ दबाते हैं जब बुरी भावनाओं से उसने अपने मस्तिष्क को गन्दा कर दिया है। इस गन्दगी से वह कमजोर हो जाता है और जीवन में पग पग पर भय व शंकाओं के कांटे बिछे देखने लगता है। उसका आत्मबल हीन पड़ जाता है।

प्रायः देखा जाता है कि भय किसी भावी आपत्ति की आशंकाओं से मनुष्य में उत्पन्न होता है, या यों समझो कि भय की जननी शंका है।

कुसस्कार—

बहुत से लोग तो जन्म से हो शकों व डरपोक प्रकृति के होते हैं, यह उनका स्वभाव बन जाता है। बचपन में बार बार डराने धमकाने से भी बच्चे भीरु बन जाते हैं। उनके कुशिक्षित मां बाप उनके सामने भूतप्रेत का हवा दिखाकर उन्हें डरपोक बना देते हैं। कई लोग अन्धविश्वास के कारण भी डरपोक बन जाते हैं। इसी प्रकार आत्म शुद्रता भी एक बड़ा दोष है, जिसके कारण मनुष्य शकी और भीरु प्रकृति का बन जाता है। ऐसे लोगों में आत्म विश्वास की कमी हो जाती है और इसीलिये वे हर एक को या हर चीज को शंका की दृष्टि से देखने लगते हैं।

कुसंस्कार के बाद अज्ञान भय का मुख्य कारण है।

जब तक हम किसी के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त नहीं कर

लेते तब तक उसके विषय में हमारे मन में नाना प्रकार के भय व आशंकायें उठती रहती है और जान लेने पर वे सब दूर हो जाते हैं।

बचपन में हम बहुत सी चीजों व बातों से डरते हैं परन्तु ज्यों ज्यों हम बड़े होते हैं, हमें जीवन के व संसार के विषय में अधिक जानकारी होती है हमारे में उठे भय व शंकाएँ एक २ कर समाप्त होते जाते हैं। एक बार भी हम किसी अपरिचित मार्ग से होकर गुजर जाते हैं तो उसके विषय में जो भय व शंकाई थीं वे सब दूर होजाती है। इस प्रकार मनुष्य जब संसार के विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करता चलता है तो उसका भय व शंकाओं का लगा डर स्वयं दूर होता चलता है।

"नहिज्ञान वता संसार भयंम्।"

ज्ञान होने पर संसार भय दूर हो जाता है। भय का तीसरा कारण है। इस पंच भौतिक शरीर पर अत्यधिक ममता या स्नेह होना ही आसक्तता कहलाती है इससे भी मनुष्य जीवन में अनेक प्रकार से भयभीत रहने लगता है।

जैसे—जरा भय, जीविका भय, रोग भय, मृत्यु भय, संकट भय, दुःखभय, शत्रु भय, हिंसक पशु भय आदि।

किसी भी भौतिक सुख व ऐश्वर्य में जब मनुष्य अति आसक्ति रखने लगता है, तो उसे छिन जाने का भय उसे निरन्तर सताता रहता है। इसी लिये तो ज्ञानी इन भौतिक सम्पदाओं में आसक्त नहीं होते।

पाप—

मनुष्य के अन्दर बुरे विचार पैदा होते ही, अनेक पाप शंकाऐं व भय स्वयं ही उठखड़े होते हैं।

यह बात आम देखी जाती है कि ईर्ष्या व द्वेष करने वाले सशंकी हो जाते हैं। और तरह तरह के भय से व्याकुल रहने लगते है। मनुष्य जो भी पाप करता है चाहे वह शारीरिक हो या वाचिक व मानसिक उसके सामने निरन्तर प्रेम की तरह नाचने लगता है तथा स्पप्न भी डरावने देखता है, इसी से वह हर घड़ी भयभीत रहने लगता है।

अन्यायी व अत्याचारी अपने अनाचार के कारण हर समय डरता रहता है, और इससे वह कमजोर प्रकृति का बन जाता है। ऐसे लोगों में

साहस और धैर्य की कमी हो जाती है, जो जरा से दुःख व संकट आने पर छटपटाने लगते हैं। हृदय भी कमजोर हो जाता है और हृदय रोग के भी शिकार हो जाते हैं। यह सब पाप अपनाने से हो जाता है

शक्तिहीनता—

दुर्बल बलवान के सामने दुम दबाये बैठा रहता है। मन जब किसी विषय कामना, भावुकता, चंचलता, असहिष्णुता आदि या अन्य किसी कारण से कमजोर पड़ जाता है, तो जरा सी कठिनाई आने पर भयभीत हो जाता है, और उस भय के कारण वह कठिनाई और भी बढ़ने लगती है। रोग होने पर तो वह और भी डरने लगता है, और रोग बढ़ने की विविध शंकाऐं करने लगता है यह सब कुछ कमजोरी के कारण होता है, जिसमें कि धैर्य व साहस का अभाव होता है।

अकर्मण्यता—

मनुष्य में अकर्मण्यता में निर्धनता व असफलता आनी स्वाभाविक ही है। आलसी डरपोक होता है। किसी भी कार्य को हाथ में लेने के लिये नाना प्रकार की शंकाओं का भय करने लगता है।

"शोक स्थान सहस्राणि भय स्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ़ भाविशन्ति न पण्डितम् ॥"

(महाभारत)

अर्थात् संसार में प्रतिदिन सहस्रों शोक के स्थान हो सकते हैं और सैकड़ों भय स्थान, परन्तु वे सब मूर्ख या अज्ञानी को प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं।"

भय के बुरे परिणाम

भयभीत हुआ व्यक्ति किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है, और सबको भयंकर समझने लगता है, हर बात व काम में शका करने लगता है। इस प्रकार वह निरन्तर आत्मपतन की ओर बढ़ता चलता है हिताहित में उसकी बुद्धि काम नहीं करती। वह अपने पर से विश्वास जो खो बैठता है, परन्तु औरों को भी शंका से देखने लगता है। वह कर्त्तव्यच्युत होकर लक्ष्य हीन हो जाता है। और मन की असन्तुष्टि अवस्था में वह कुछ का कुछ

करने लगता है । संशय जो उसके मन में डेरा ही जमा बैठता हैं और इस प्रकार वह विनाश राह में चलने लगता है । भय ग्रस्त व्यक्ति कायर और दुर्बल बन जाता है और आत्मबल हीन हो जाता है । हृदय कमजोर पड़ जाता है ।

"Cowardice is Shrinking of soul through fear" अर्थात् भय से आत्मा का संकुचित होना ही कायरता है । आत्महीन होकर वह दब्बू प्रकृति का हो जाता है । भय से व्यक्ति के विचार संकीर्ण व कलुषित हो जाते हैं । व्यक्तित्व पतित हो जाता है और व्यक्ति अत्यन्त स्वार्थी हो जाता है

भयभीत व्यक्ति साधारण परिस्थिति से भी भय खाने लगता है और इस प्रकार संकट पर संकट आने लगते हैं । कमजोर भागती हुई सेना का पीछा कर उसे अपने काबू में करना ही दुश्मन की युद्ध कला होती है । इस प्रकार व्यक्ति मुशीबतों का कैदी बन जाता है । हर समय एक न एक आपत्ति उसे घेरे रहती है, जैसे गन्दे पर मक्खी । भय से गन्दे हुए व्यक्ति को संकट रूपी मक्खी कभी नहीं छोड़ती । ऐसे व्यक्ति का स्वाभाभिमान भी उसे छोड़ कर चला जाता है और तब वह मुर्झाई हुई कली सा लगने लगता है, जो जीवन रूपी वृक्ष के लिये आय केवल भार सी रह जाती है । भय ग्रस्त व्यक्ति पीछे भले ही भागले परन्तु आगे बढ़ना तो उसके लिये असम्भव हो जाता है, क्योंकि उत्साह तो उसमें ठंडा पड़ जाता है । जिस इंजन में गर्मी (उत्साह) नहीं तो वह आगे बढ़ भी कैसे सकता है ?

महान् व्यक्ति भी भयग्रस्त हो कैसे आचरण करने लगता है, उसका एक दृष्टान्त—अध्यात्म रामायण से !

बात रामविवाह के समय की है । जब शिव धनुष टूट जाता है, तो महान् तेजस्वी श्री परशुराम महाराज दशरथ के दरबार में पहुँचते हैं, तो महाराज के होश-हवाश उड़ जाते हैं और बिना अतिथि सत्कार किये ही घबड़ाकर भयभीत हो कहते हैं— "प्रभो ! मुझे पुत्र के प्राण का दान दीजिये ।" इस प्रकार बड़े बड़े भी भय ग्रस्त हो कि कर्तव्य विमूढ़ हो, कुछ

का कुछ आचरण करने लगते हैं, फिर साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है।

भय से मनुष्य का स्वभाव नीच हो जाता है। जर्मनी के एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा है—

"What is evil ? What ever Springs from weakness."

बुराई क्या है ? कमजोरी के कारण जो किया जाता है या होता है, वही बुराई है।"

Nitse Philosopher.

प्रायः लोग सर्प से भय खाते हैं, परन्तु सर्प स्वयं डरपोक है। उसमें सदा यही भय बना रहता है कि कोई मुझे मार न डाले, इसलिये उसके रास्ते में जो भी आता है उसे वह काटे बिना नहीं छोड़ता। भय के कारण ही हिंसा वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। युद्ध स्थल में जब दो विरोधी सेनायें आमने सामने होती हैं, तो एक दूसरे के भय के कारण ही वे युद्ध में हिंसा पर उतारू होते है। बुरे लोग जहां अपनी स्वार्थ हानि की आशंका देखते हैं, वहां षडयंत्र रचकर उसके विनाश के लिये तुल जाते हैं। जैसे कुछ वर्ष हुए पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री प्रतापसिंह कैरो की हत्या की गई। भय के कारण मनुष्य कायर बन जाता है और उससे वह क्रूरता व हिंसा करने पर उतारू हो जाता है। भय के कारण मनुष्य स्वार्थ से अंधा होकर क्रूर से क्रूर कर्म—हत्या तक करने में नहीं चूकता। भय के कारण व्यक्ति हृदय हीन हुआ सा आचरण करने लगता है। इसीलिये अनेक नैतिक अपराधों की भूल में भय ही कारण पाया जाता है।

कायर व्यक्ति दुःख के भय से या जीवन में बाधा व संकट के भय से कभी २ आत्मघात तक कर बैठते हैं। इसी प्रकार संसार में संघर्ष भय जीवन से भयभीत हो कई लोग घर बार छोड़ गेरुवा वस्त्र धारण कर साधु रूप में विचरने लगते हैं। इस महान् दोष भय को अपना कर व्यक्ति जघन्य से जघन्य पाप कर्म करने में भी नहीं चूकता।

भय से व्यक्ति निरन्तर शंकायुक्त और भयभीत रहने लगता है। ऐसे लोग अपने पास हर समय बन्दूक या भाला तलवार या पिस्तौल अपनी सुरक्षा के लिये रखते हैं। कई लोग भय बाधा व संकट टालने के लिये देवी व देवताओं का पूजन करते हैं। इस प्रकार कृत्रिम उपायों से भय को कुछ काल के लिये टाला जासकता है परन्तु सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता है। ऊपरी कांट छांट से तो वह ठीक पौधे की तरह बढ़ता है।

बाहरी साधनों से विपत्ति कुछ समय के लिये टाली भले ही जाय, परन्तु असली कारण मन की कायरता नहीं मिटाई जा सकती। अतः भय को भली भांति समझ कर उसके कारण को दूर करना आवश्यक है।

भय का स्वास्थ्य पर प्रभाव

मनोवैज्ञानिकों का कहना हैं कि आजकल अनेक रोगों का कारण केवल भय होगया है। भय से मनुष्य में आत्महीनता, हृद्कंपन, अवसन्नता, उदासी, चिन्ता, शोक, संशयता, व्यग्रता, उत्साह हीनता आदि लक्षण हो जाते हैं। यहाँ तक कि भय के कारण व्यक्ति कभी कभी अपना नाम तक भूल जाता है और कभी कभी पागल सा हुआ मूर्च्छित भी हो जाता है। नेत्र व आत्म ज्योति आभाहीन देखे जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक तो यहां तक कहते हैं कि बहुत से रोग जैसे दमा, प्रमेह हृद्रोग, अनिद्रा, अजीर्ण, पाण्डु, गठिया, अश्मरी, ज्वर, स्नायु दौर्बल्य, उन्माद, रक्तचाप Blood pressure) नपुंसकता व चर्मरोग आदि भय के कारण उपस्थित होते हैं।

भय के कारण शरीर में रोगक्षमता कमजोर पड़जाने से रोगाक्रमण के लिये उपयुक्त क्षेत्र तैयार हो जाता है और इस प्रकार रोग आसानी से आक्रमण करने लगते हैं। साथ ही रक्त में अन्तर्विष भी फैल जाता है, जिससे शरीर में रोग दूष्यता बढ़ जाती है।

वास्तव में देखा जाता है कि रोग का भय मन में उठते ही रोग आक्रमण कर बैठता है। विशूचिका आदि रोग इसी प्रकार महामारी का रूप धारण करते हैं। परन्तु यह होता उन्हीं में है जो भीरु प्रकृति के बन

का कुछ आचरण करने लगते हैं, फिर साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है।

भय से मनुष्य का स्वभाव नीच हो जाता है। जर्मनी के एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा है—

"What is evil ? What ever Springs from weakness."

बुराई क्या है ? कमजोरी के कारण जो किया जाता है या होता है, वही बुराई है।"

Nitse Philosopher.

प्रायः लोग सर्प से भय खाते हैं, परन्तु सर्प स्वयं डरपोक है। उसमें सदा यही भय बना रहता है कि कोई मुझे मार न डाले, इसलिये उसके रास्ते में जो भी आता है उसे वह काटे बिना नहीं छोड़ता। भय के कारण ही हिंसा वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। युद्ध स्थल में जब दो विरोधी सेनायें आमने सामने होती हैं, तो एक दूसरे के भय के कारण ही वे युद्ध में हिंसा पर उतारू होते है। बुरे लोग जहां अपनी स्वार्थ हानि की आशंका देखते हैं, वहां षडयंत्र रचकर उसके विनाश के लिये तुल जाते हैं। जैसे कुछ वर्ष हुए पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री प्रतापसिंह कैरो की हत्या की गई। भय के कारण मनुष्य कायर बन जाता है और उससे वह क्रूरता व हिंसा करने पर उतारू हो जाता है। भय के कारण मनुष्य स्वार्थ से अंधा होकर क्रूर से क्रूर कर्म—हत्या तक करने में नहीं चूकता। भय के कारण व्यक्ति हृदय हीन हुआ सा आचरण करने लगता है। इसीलिये अनेक नैतिक अपराधों की भूल में भय ही कारण पाया जाता है।

कायर व्यक्ति दुःख के भय से या जीवन में बाधा व संकट के भय से कभी २ आत्मघात तक कर बैठते हैं। इसी प्रकार संसार में संघर्ष भय जीवन से भयभीत हो कई लोग घर बार छोड़ गेरुवा वस्त्र धारण कर साधु रूप में विचरने लगते हैं। इस महान् दोष भय को अपना कर व्यक्ति जघन्य से जघन्य पाप कर्म करने में भी नहीं चूकता।

भय से व्यक्ति निरन्तर शंकायुक्त और भयभीत रहने लगता है। ऐसे लोग अपने पास हर समय बन्दूक या भाला तलवार या पिस्तौल अपनी सुरक्षा के लिये रखते हैं। कई लोग भय बाधा व संकट टालने के लिये देवी व देवताओं का पूजन करते हैं। इस प्रकार कृत्रिम उपायों से भय को कुछ काल के लिये टाला जासकता है परन्तु सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता है। ऊपरी कांट छांट से तो वह ठीक पौधे की तरह बढ़ता है।

बाहरी साधनों से विपत्ति कुछ समय के लिये टाली भले ही जाय, परन्तु असली कारण मन की कायरता नहीं मिटाई जा सकती। अतः भय को भली भांति समझ कर उसके कारण को दूर करना आवश्यक है।

भय का स्वास्थ्य पर प्रभाव

मनोवैज्ञानिकों का कहना हैं कि आजकल अनेक रोगों का कारण केवल भय होगया है। भय से मनुष्य में आत्महीनता, हृद्कंपन, अवसन्नता, उदासी, चिन्ता, शोक, संशयता, व्यग्रता, उत्साह हीनता आदि लक्षण हो जाते हैं। यहाँ तक कि भय के कारण व्यक्ति कभी कभी अपना नाम तक भूल जाता है और कभी कभी पागल सा हुआ मूर्च्छित भी हो जाता है। नेत्र व आत्म ज्योति आभाहीन देखे जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक तो यहां तक कहते हैं कि बहुत से रोग जैसे दमा, प्रमेह हृद्रोग, अनिद्रा, अजीर्ण, पाण्डु, गठिया, अश्मरी, ज्वर, स्नायु दौर्बल्य, उन्माद, रक्तचाप Blood pressure) नपुंसकता व चर्मरोग आदि भय के कारण उपस्थित होते हैं।

भय के कारण शरीर में रोगक्षमता कमजोर पड़जाने से रोगाक्रमण के लिये उपयुक्त क्षेत्र तैयार हो जाता है और इस प्रकार रोग आसानी से आक्रमण करने लगते हैं। साथ ही रक्त में अन्तविषि भी फैल जाता है, जिससे शरीर में रोग दूष्यता बढ़ जाती है।

वास्तव में देखा जाता है कि रोग का भय मन में उठते ही रोग आक्रमण कर बैठता है। विशूचिका आदि रोग इसी प्रकार महामारी का रूप धारण करते हैं। परन्तु यह होता उन्हीं में है जो भीरु प्रकृति के बन

गये हैं। कई भीरु व्यक्ति अंधेरे में चलते हुये यदि सांप ने न भी काटा हो, किसी अन्य कीट के काटने पर सांप काटे की शंका से ही चल बसते हैं।

यह बात न भूलें कि सर्प विष का प्रभाव निर्भय व्यक्ति की अपेक्षा भीरु व्यक्ति में दशगुना अधिक तीव्रता से फैलता है। इसका कारण यह है कि भय शरीर व मन को भीतर से इतना अशक्त का दोष युक्त वना देता है कि व्यक्ति की रोग क्षमता बाहर से आगे रोग और विष के आक्रमण से अपने को वचाने में असमर्थ हो जाती है साथ ही भय के कारण सम परि-भ्रमण में तीव्रता आने से विष तेजी से शरीर में फैलने लगता है।

आजकल तो भीरु प्रकृति वाले व्यक्तियों से समाज भी दूषित हो गया है। या यों कहिये कि भय एक संक्रामक रोग सा बन गया है। संक्रामक रोगों में तो रोग विस्तार में भय के कारण आग को घी की आहुति ही जाने। और आजकल तो सारा वातावरण ही इतना दूषित होगया है कि अधिकतर व्यक्तियों में भय के कारण नाना प्रकार के रोग, चिन्ता, बेचैनी मानव जीवन को भीतर ही भीतर खोखला बना रहे हैं और इससे सुख-शान्ति-सुरक्षा दूर होते नजर आरहे हैं। परस्पर द्वेष की अधिकता से राष्ट्रीय एकता भी खतरे में पड़ गई है।

बहुत से लोग जरा से संकट व दुःख आने पर सारे परिवार व समाज को ही दुःखी कर देते हैं। कई लोग मृत्यु भय से इतने सशंकित रहते हैं कि जरा सी चोट व शरीर से रक्त निकलने पर कह उठते हैं, मर तो नहीं जायेंगे। वास्तव में मृत्यु भय ही ऐसे लोगों को कमजोर व क्षुद्र बना वैठता है।

मृत्यु भय

मनुष्य जब किसी चीज, वस्तु या विषय से अपरिचित रहता है तो उस सम्बन्ध में नाना प्रकार की शंकाऐं व भय करता है परन्तु जानकारी प्राप्त होने पर वे सब दूर हो जाते हैं। मृत्यु के विषय में भी ठीक यही बात है।

हमारा जीवन एक तो वर्तमान का है। दूसरा जीवन वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आरम्भ होता है। मृत्यु में क्या होता है ? केवल जीवन का स्वरूप वदलता है। ठीक जैसे सर्प कांचुली बदलता है। जीवन के अन्दर जो ज्योति आत्मा) है; वह तो अमर है। वह तो जैसे अब हैं, वैसी ही तब (भविष्य जीवन) भी रहेगी। परिवर्तन होता है बाहरी ढाँचे (चोले) का जो विनाशशील है।

विद्युत को देखिये। वह विद्युत हमें भिन्न-भिन्न माध्यमों में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है। प्रकाश भी माध्यम जैसा छोटा बड़ा होगा वैसी ही मात्रा में दिखाई देगा। मकान में कई वल्ब लगे हुए होते हैं। किसी कारण से एक कमरे का वल्ब फूट जाता है, विजली का प्रकाश बन्द हो गया—माध्यम के टूटने से। फूटे हुये बल्ब के स्थान पर दूसरा वल्ब लगा दिया गया, प्रकाश पुनः पूर्ववत् आजाता है। विद्युत प्रवाह तो ज्यों का त्यों है। बाहरी ढाँचा ही परिवर्तित होता है।

वीजों को देखिये। धान को ही लीजिये। पौधा बढ़ता है, फूलता है, फलता है। पक जाने पर बीज निकाल अलग रख दिये जाते हैं। पराल व च भूषा पशुओं के चारे के काम आता है। बीज को वोकर फिर धान की दूरी फसल उगाई जाती है। इस प्रकार क्रम जारी रहता है। बीज नष्ट नहीं होता। बाहरी ढाँचा ही नष्ट हो दूसरा रूप धारण करता है। इसी प्रकार मानव बीज भी है। देह जो बाहरी ढांचा है मृत्युपर वही नष्ट होता है व बदलता है। इस प्रकार जीवन का सत्य यही है कि जीवन और मरण एक ही अनुभूति के दोपहलू हैं।

रूई या ऊन के धागों से वस्त्र बनाया जाता है। वस्त्र के तत्त्व (धागे) पुराने पड़जाने से कमजोर हो जाते हैं। वस्त्र फटने लगता है। बदल कर दूसरा धारण करते हैं। पुराना छोड़ नया रूप धारण कर लेता है। हम कहते हैं, वह पुराना होकर फटने लगा था, उसे बदल दिया है। यही भाव गीता में भी स्पष्ट किया गया है।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणी ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(गीता)

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा पुराना शरीर छोड़ नया शरीर धारण करती है ।

आकाश को लीजिये । एक रूप होकर सर्वत्र विराजमान है । हमारे घर में वह कई रूपों में दिखाई दे रहा है । कमरे का आकाश । सन्दूक का आकाश । आलमारी का आकाश । घड़े का आकाश—इत्यादि, भिन्न-भिन्न माध्यमों में भिन्न२ नाम व रूप धारण किये हुये हैं । यदि हम इन सब माध्यमों को तोड़ दें तो लघु आकाश वृत् रूप में एक प्रतीत होने लगता है । इसी प्रकार जीवात्मा यदि स्वरूप से सबमें एक रूप हो विराजमान है परन्तु भिन्न-भिन्न माध्यमों में भिन्न-भिन्न रूप से जान पड़ती हैं । जीव मात्र में बीज रूप आत्मा तो एक ही है । अपनी हानि व नाश में हर एक को स्वाभाविक ही दुःख होता है । इसकी अनुभूति कोई भी जीव चाहे छोटा हो या बड़ा जब अनुष्य उसकी हिंसा करने का विचार करता है, तो एक बार अन्दर से उसके लिए आदेश तो आता आवश्य है कि हिंसा न करो पाप है । परन्तु दुष्ट को भली बात कब अच्छी लगती है, वह उस आन्तरिक आदेश को स्वार्थ में अन्धा हुआ ठुकरा देता है और जीवा की निर्मम हत्या कर डालता है । जब इस पाप के फल रूप में उसे दुःख दण्ड देने आता है तो छटपटाने लगता है, परन्तु इससे क्या ? कर्मफल भोग से जो कोई भी बच नहीं सकता ।

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व मिद तंतम् ।"

वह ज्योति एक रूप हो सर्वत्र घट-घट में व्यापक है, वह जो अविनाशी या अमर है । रूप परिवर्तन को ही हम मृत्यु कहवे हैं । वस्तुतः रूप ही जीता व मरता है, उसके अन्दर असली वस्तु (आत्मा) वह तो नित्य या अमर है ।

अमरत्व मृत्यु के साथ आरम्भ नहीं होता। अमर जो जीव सदा ही है, अब भी व तब भी। मृत्यु के पश्चात् केवल स्वरूप या चाला बदलता है। पुरानी कांचली त्याग नई ग्रहण करते हैं। त्याग में दुःख केवल आसक्ति या ममता के कारण ही होता है और यह स्वाभाविक है। परन्तु ज्ञानी व पण्डित को आसक्ति न होने से देह त्याग करते दुःख नहीं होता। अवश्यम्भावी के लिये विद्वान् शोक व दुःख नहीं करते।

जिस स्थान में हम कुछ समय तक रहते हैं उसको अपने योग्य हित कर वातावरण से भरपूर कर देते हैं, फिर उसपर ममता हो जाती है। इस प्रकार उस अनुकूल बने हुये स्थान को छोड़ने में दुःख होना स्वाभाविक ही है। फिर जीवन भर का जो शरीर आदी हो गया है, जिसके द्वारा वह अनेकों जीवन संघर्षों में से गुजरा है, उस जीवन के शरीर रूपी चिरकाल के निवास गृह को छोड़ते हुये जो दुःख होता है, वह स्वाभाविक ही है। परन्तु इस चिरकाल के निवास गृह पर जिसकी जितनी अधिक ममता व आसक्ति होगी उतना ही अधिक दुःख उसे छोड़ते हुये होगा। आसक्ति या ममता को केवल ज्ञान रूपी शस्त्र से ही काटा जा सकता है और जिन भाग्य-शालियों ने उसे काट लिया होता है, उन्हें इस चोले को छोड़ते हुये (मृत्यु के समय) दुःख नहीं होता।

मृत्यु के विषय में वास्तविक तथ्यः

आखिर आम लोग मृत्यु से इतने भय भीत क्यों होते हैं ? कई सोचते हैं कि मृत्यु के समय असह्य कष्ट होता है—इसीलिये वे डरते हैं। कई लोग जिनमें ममता का आधिक्य होता है, वे सोचते हैं, हम कैसे इस हरे भरे परिवार को छोड़ेंगे, इतनी बड़ी जायदाद जो वर्षों परिश्रम से हमने बनाई है कैसे उसे छोड़ सकेंगे। हमारे पीछे हमारे इस सब कुछ का क्या होगा। बस इस प्रकार की चिन्ता से वे मृत्यु से भय खाते है। इसीलिये तो जीवन में आसक्ति त्याग पर शास्त्रों ने विशेष जोर दिया है।

मृत्यु के विषय में भिन्न-भिन्न महत्वपूर्ण तथ्यः—

१—एक फ्रांसीसी कवि पाल स्केरन ने मृत्यु के समय कहा था।

"मुझे मालूम नहीं था कि मरना इतना सरल है, मैं अब मृत्यु पर खूब हंस सकता हूँ।"

२—एक चिकित्सक ने मृत्यु होते समय कहा था "यदि इस समय मेरे हाथ में कलम पकड़ने की शक्ति होती जो मैं लिख कर बताता कि मृत्यु कितनी आसान और सुखदाई है।"

३—एक डाक्टर का कहना है कि मृत्यु से पूर्व मरने की इच्छा व्यक्ति में अवश्य होती है। आगे उसी डाक्टर ने कहा है—'मैंने कभी ऐसा नहीं देखा है कि मरने वाले को बिना दूर्वाभ्यास के और बिना अपनी इच्छा के मृत्यु की गोद में जाना पड़ा हो। मनुष्य को अन्तिम मृत्यु क्षरण तक कोई कष्ट नहीं होता। चाहे मृत्युकाल से बहुत पूर्व रुग्णावस्था में उस व्यक्ति को कितना ही बड़ा कष्ट क्यों न उठाना पड़ा हो; परन्तु मृत्यु होने के कुछ क्षण पूर्व से वह परम शान्ती का अनुभव करने लगता है।"

४—मेरा अपना विचार तो यह है कि इस बात को तो सभी मानते हैं कि मानव-जीवन एक संघर्ष है। इस जीवन संघर्ष में मानव निरन्तर श्रम-रत रहता है, जिस प्रकार वीर सैनिक युद्धस्थल में युद्ध करता हुआ आगे बढ़ता है, परन्तु जब वह शत्रु को पछाड़ कर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह असीम सुख का अनुभव करता है। ठीक इसी प्रकार मानव जीवनरूपी रण क्षेत्र में युद्ध करता हुआ अन्तिम काल (मृत्यु) में पहुँचता है तो उसे अभूतपूर्व विश्राम मिलने से वह अतुल आनन्द लाभ करता हुआ अपने सर्व शक्तिमान प्रभु को मूक धन्यवाद देता हुआ चिर निद्रा में अपनी पलकें बन्द कर देता है।

मृत्यु समय की वास्तविक स्थिति

जब मनुष्य मृत्यु द्वार पर पहुंचता है जो उसकी दशा ठीक बुझते हुए दीपक के समान होती है। जिसमें तैल का सञ्चार बत्ती में मन्द पड़ जाता है और तैल सञ्चार बन्द होते ही दीपक की लौ फीकी पड़कर बुझ जाती है। ठीक इसी प्रकार प्राणी शरीर में मृत्यु के समय हृदय से रक्त (जीवन तैल) सञ्चार धीरे-धीरे क्षीण पड़ जाता है। शरीर में वेदना का अनुभव रक्तसंचार

पर ही निर्भर हैं इसलिये वेदना अनुभव कराने वाला शरीर में रक्त ही मुख्य माध्यम है। जब वह क्षीण पड़ जाता है तो प्राणी को मृत्यु के समय वेदना का अनुभव भी नहीं होता। साथ ही मस्तिष्क की बोध-शक्ति, शरीर की समवाहिनियों के दुर्बल पड़ जाने से कष्ट का अनुभव भी नहीं होता, क्षीण पड़ जाती है। अन्ततोगत्त्वा रक्तसञ्चार (जीवन-तैल; बन्द हो जाने से शरीर आभाहीन हो ज्योतिहीन हो जाता है। प्राण ज्योति इस शरीररूपी दीपक से सदा के लिये बुझ जाती है।

अब आप समझ गये होंगे कि जो लोग मृत्यु के विषय में काल्पनिक भय बनाये हुये भयभीत रहते हैं वे मिथ्या धारणा में विचरते हैं। इन असत्य धारणाओं को त्यागना आवश्यक है। यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि मृत्यु के समय पापी और पुण्यात्मा की स्थिति ही भिन्न-भिन्न होती हैं।

आपने किसी कातिल को देखा होगा। वह जब किसी को कत्ल कर देता है तो उसका रूप ही बदल जाता है; चेहरा फीका पड़ जाता है; घबड़ाया सा हुआ होता है। अपने दैनिक कर्म में भी ठीक नहीं रहता। हर घड़ी उस हिंसा के कारण वह छटपटाया सा जान पड़ता है। इस प्रकार के क्रूर कर्मों के कारण व्यक्ति की चित्त-वृत्ति खराब हो जाती है और मृत्यु के समय वह भिन्न-भिन्न भयङ्कर डरावने रूप देखता है तथा डरावने स्वर व शब्द सुनता है और एकमात्र इस प्रकार के डरावने रूपों को देखकर ही उसे कष्ट व दुःख होता हैं। इसके विपरीत मृत्यु के समय पुण्यात्मा की चित्त-वृत्ति बिल्कुल ठीक रही रहती है अन्तिम घड़ी तक अपने सगे सम्बन्धी आदि से ठीक-ठीक वार्ता करता व परामर्श देता है। ऐसी पवित्र आत्मा मृत्यु के समय विचित्र सुन्दर स्वर व गीत सुनती है और विचित्र प्रकाश देखती है।

मृत्यु के समय पापी और पुण्यात्मा की पहिचान

जिस प्रकार धर्मात्मा व निर्मल आत्मा बड़े-बड़े कष्टों व सङ्कटों को बिना अकुलाहट के धैर्य व शान्ति से पार कर लेता है, कोई विशेष कष्ट नहीं अनुभव करता, मृत्यु के समय गम्भीर मुद्रा में विकसित पुण्य की आभा

की तरह अतुल प्रकाश व सुख का अनुभव करता है और निराले दैवी ध्वनि व स्वर सुनता है। उस प्रकार पापी की दशा मृत्यु समय भिन्न व विचित्र देखी जाती है। उस समय वह बड़ा कष्ट अनुभव करता है, उसकी चेष्टाओं से देखा जाता है। क्योंकि उसके पाप के कारण शरीर के अन्दर (शारीरिक धातुओं में) द्वन्द्व युद्ध शुरू हो जाता है। उसके जीवन में किये गये पाप मूर्त्त रूप हो उसकी दृष्टि में नाचने लगते हैं। उसे भयङ्कर रूप दिखाई देते हैं और डरावने शब्द व स्वर सुनाई देते हैं। इनसे मरणशील पापी की चेष्टाएँ कई प्रकार की स्पष्ट दिखाई देती हैं। इन चेष्टाओं को देखने वाले भी भयभीत होते देखे जाते हैं।

बस इन उपरोक्त लक्षणों से ही हम जानते हैं कि मरणशील कैसा व्यक्ति था।

अतः मृत्यु से डर केवल पापी या क्रूर कर्मी लोगों को ही हुआ करता है, क्योंकि अपने दुष्ट कर्मों के फल भोग के लिए उन्हें नरक का मार्ग नापना है। इसके विपरीत पुण्यात्माओं को तो मृत्यु स्वर्ग राह को दिखाने वाली होती है, जहां जाकर उन्होंने दिव्य रूप धारण कर अपने पुण्यों के फलस्वरूप नाना प्रकार के ऐश्वर्य भोगने हैं। बालकों की मृत्यु भी पुण्यात्माओं की ही भांति सुखमय या बिना कष्ट के होती है, क्योंकि वे भी एक प्रकार से शुद्धात्मा होते हैं।

भगवान् ने भी गीता में यही कहा है कि पुण्यात्मा स्वर्ग को जाते हैं और पापी नरक या नीच योनियों को। ज्ञानवान् पुण्यात्मा इसीलिये मृत्यु से कभी भय नहीं खाते क्योंकि वे निर्दोष होते हैं। पकड़े जाने का भय तो जो दोषी या अपराधी होता है, उसी को होता है।

यह बात न भूलिये कि मृत्यु के समय पुण्यात्मा की स्मृति बिल्कुल स्वच्छ हो जाती है। मृत्यु शय्या पर लेटे हुए मेरे पिता जी ने अन्तिम मंगल स्नान कर लेने के बाद हमसे गीता के अठारहवें अध्याय के पाठ करने को कहा। अध्याय के अन्तिम श्लोक को सुन चुकते ही और 'प्रभु की इच्छा' शब्द कहते ही चिरस्थाई निद्रा में डूबकर परम विश्राम को प्राप्त हो गये -

इसी प्रकार महाकवि गेटे ने मृत्यु के समय एक यूनानी कविता का पाठ किया था, यद्यपि यूनानी भाषा का अभ्यास छोड़े उन्हें ५० वर्ष हो चुके थे।

जिस प्रकार सारे दिन की थकान व चिन्ताओं से रात्रि निद्रा से हमें मुक्ति मिलकर एक नए आनन्द व उत्साह अनुभूति होती है। ठीक इसी प्रकार हमें लम्बे जीवन के संघर्ष, दुःख व अनेक चिन्ताओं के बाद मृत्यु आगमन पर एक नई शान्ति नया सुख और नई उमंग की अनुभूति होती है। इसीलिए ज्ञानी उससे डरते नहीं बल्कि उसके हार्दिक स्वागत के लिए उत्सुक रहते हैं।

"बरसों निवास के बाद पचतत्व के पिंजड़े को छोड़ पंछी जाता है"

सजे सजाये पांच सीक के पक्षी गृह में आयी थी।
चिड़िया चहकी बहकी बरसों ममता मैं मन भाई थी ॥
पता नहीं कुछ था उसको घर छोड़ कभी जाना भी है।
सगे सम्बन्धी नाते रिश्ते तोड़ सभी जाना भी है ॥
आना अरु जाना दुनिया में विधि के क्रम से कौन बचा।
होनहार के तीव्र शस्त्र से लोगो सोचो कौन बचा ॥
हंसी खुशी चतुराई बस जग नाटक देखे जाना है।
पाप पुण्य का सौदा ही ले गाँठ में बाँधे जाना है ॥
दाना पानी इस घर में रक्खा था वो मूक गया।
जीवन दीपक तैल आयु का रहा भरा सो सूक गया ॥
इस पिंजड़े से ममता विस्तर ले सनेट अब जाना है।
एकाकी सब छोड़ विदाई अंतिम तिलक लगाना है ॥
सजी सजाई दुलहिन बनकर प्रिय से मिलने जाना है।
नूतन गृह में नई उमङ्ग ले नया प्रेम ले जाना है ॥
अहो विधाता धन्य तुझे ! क्या अद्भुत रास रचया है।
राम नाम 'सियराम' कथा का नाटक ठाट सजाया है ॥

'सियराम ।'

भय कैसे दूर किया जाय ?

बिना भय मुक्त हुए मनुष्य सम्मान पूर्वक अपने जीवन के कर्तव्य पालन में समर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य में अनेकों सदगुण होते हुए भी यदि भय व शङ्का बनी हुई है, जो अपनी जीवन यात्रा में वह हर समय संकटों से घिरा रहकर सफल नहीं हो सकता।

बल ही पुण्य है, दुर्बलता ही पाप है। यदि किसी को धर्म की शिक्षा देनी है, तो 'अभयत्व' रूपी धर्म की शिक्षा देनी चाहिये।········ आवश्यकता है कि हमारे रक्त में गर्मी (उत्साह) हो, स्नायुओं में शक्ति हो ··· -निस्सन्देह ही बलशाली होकर भी किसी को हानि न पहुँचाओ! किसी को दुःख न दो और न किसी पर अत्याचार करो, परन्तु दूसरे की कुचेष्टा, क्रूरता या अत्याचार को चुपचाप सहन करना भी पाप है।

—स्वामी विवेकानन्द।

"स्वयं शुद्धः पराना शङ्कते।"

(कौटिल्य)

जो स्वयं अशुद्ध है, वह दूसरों के प्रति शङ्का करता है। शुद्धात्मा को भय नहीं सताता। मनुष्य का उद्धार इसी में है कि वह आत्मनाशक वासनाओं से मुक्त होकर स्वभाव व चरित्र से शुद्ध हो। यदि भय की कोई अमोघ औषधि है तो वह एक मात्र आत्मशुद्धि ही है। हमारे अन्दर जो कुप्रवृत्तियां घर कर गई हैं, उनको दूर करने के लिये हमें सदवृत्तियों को अपनाना आवश्यक है। कुविचार को सद विचार में बदल दो।

रुचिर या सद्विचार से मस्तिष्क को हर समय ऐसा परिपूर्ण किये रहो कि कुविचार घुसने के लिए कहीं स्थान ही न रहे। गिलास जल से परिपूर्ण हैं, और जल डालोगे तो स्थान न मिलने से अतिरिक्त जल गिलास के बाहर ही गिरेगा।

मानव मस्तिष्क कभी भी विचार शून्य नहीं रह सकता, वह उसका स्वभाव है। अतः बुद्धिमानी इसी में है कि सद्विचार से वह प्रतिक्षण परिपूरित रहे क्योंकि रिक्त मस्तिष्क शैतान का घर होता है—

An empty mind is the devil's house

मनुष्य को अपने सौभाग्य के लिए, प्रतिक्षण इस मन को किसी सत्कर्म या सद्विचार में योजित रखना आवश्यक है। इस मन की प्रवृत्ति ऐसी है कि जिस विषय पर आप इसको नियोजित करेंगे उसी में यह रमण करने लगता है। यदि कभी आपके पास कोई काम नहीं, कोई विचार न हो तो तत्काल भगवान का कोई सा नाम मन ही मन में स्मरण करना आरम्भ कर दो, यह सर्व पाप नाशक महौषधि है।

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥"
—(महाभारत)

अर्थात यह चित्त जब विषयों का ध्यान करता है, तो उन्हीं में रमण करने लगता है, परन्तु जब मेरा स्मरण करता है तो मेरे में ही लीन रहने लगता है।

कभी भी अपनी अमूल्य शक्ति को व्यर्थ विषय-वासनाओं में उलझा कर मत जाया करो। सद्वस्तु सद्विचार जहां भी मिले उसके अन्दर की सुन्दरता को आने को सजाओ। गन्दे में पड़ा हुआ सोना भी लोग उठा लेते हैं और उसके आभूषण बना अपने को सजाते हैं। अपने में निरन्तर सदगुणों की वृद्धि से अपनी दैवीगुणों की निधि को बढ़ाओ।

"नित व्यर्थ-वार्ता वासना से दूर अपने को हटा।
निज इष्ट साधन में लगा हृदशक्ति पूरण को जुटा ॥
वह स्वावलम्बन ही तुम्हारा एक अवलम्बन बने।
हो शक्ति श्रद्धा में अडिग निज इष्ट अवलम्बन बने ॥

मनुष्य को सदैव स्वात्माभिमानी, स्वावलम्बी और प्रगल्भ होना चाहिये। बलवान हृदय ही कठिन से कठिन परिस्थित को आसानी से पार कर देता है। उससे भय इसी प्रकार दूर रहता है जैसे धूप से जाड़ा।

महा भारत में महामुनि व्यास ने कहा है कि श्रद्धा विश्वास से मनुष्य तीनों लोकों पर विजय पा सकता है। वास्तव में श्रद्धा विश्वास में भय दूर करने की जो शक्ति भरी है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती।

आप अपने अन्दर के इष्ट पर यदि अटल श्रद्धा बनाये हुये हैं, तो वह सदैव आपकी रक्षा के लिये तैयार रहता है, जो भी सद्‌कर्म आप हाथ में लेंगे उसे वह पूर्ण करता है भावार्थ यह कि वह हर समय आपकी सहायता के लिये तत्पर रहता है और आपको भयंकर सी भयंकर परिस्थिति से पार लगाने में समर्थ होता है। वे व्यक्ति जिनका अपने प्रभु पर दृढ़ विश्वास है, उन्हें फिर किसका भय और किस चीज की कमी ? सच्चे हृदय से पुकार करने पर वह अपने भक्त की रक्षा के लिये दौड़ पड़ता है। द्रोपदी की भरी सभा में क्या उसी ने लाज नहीं बचाई थी ?

बहुत वर्षों की बात हो गई है। जर्मनी के कुछ सैलानी जीपगाड़ी में सवार होकर सैर करते २ घोर जंगल में जा पहुँचे। ये लोग अपने निवास स्थान से कई सौ मील दूर जंगल में जा पहुँचे। तो अचानक गाड़ी का एक टायर का ट्यूब फट गया। दुर्भाग्यवश अतिरिक्त टायर भी गाड़ी में न था। यह जंगल वर्लिन शहर से सैंकड़ों मील दूर था। इस प्रकार विकट परिस्थिति में जब वे लोग फंस गये तो उनके बीच में एक दृढ़ विश्वासी प्रभु भक्त भी था। उसने अपने साथियों को कहा हम सब मिलकर प्रभु से एक टायर के लिये प्रार्थना करें। बस अब क्या था। प्रार्थना करही रहे थे कि अचानक जंगल से लुड़कता हुआ एक टायर गाड़ी के पास ही आकर रुक गया। सब की चिन्ता अपार हर्ष में बदल गई। प्रभु को कोटिशः धन्यवाद देते हुये, वे सब जीप गाड़ी से वापस अपने स्थान को सुरक्षित पहुँच गये। यह है दृढ़ विश्वास का चमत्कार।

"कोई सा नाम ईश्वर का उसी की शक्ति से भरपूर।
जुड़े माध्यम कई विद्युत सभी प्रवाह से भरपूर ।।

अपने इष्ट देव पर अटल श्रद्धा होने से मनुष्य को ? अपनी दिव्यता और अमरता की अनुभूति होती है, फिर अपने विनाश का भय कहाँ रह सकता है ? जब मनुष्य अपने इष्ट पर अटल विश्वास धारण कर लेता है, तो वह अपने चारों ओर अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों को अपने अनुकूल कार्य करते देखता है और इस आध्यात्मिक भावना की प्रबलता से उसके वाह्य भौतिक विकार स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन काल में मृत्यु भीत रोगाक्रान्त व्यक्तियों का मानसोपचार एक मात्र श्रद्धा के मंत्रों से होता था, इसके लिये वेदों में अनेकों मंत्र दर्शाये गये हैं, उस समय विविध मंत्रों, जपों व होम आदि से रोगाक्रान्त व्यक्तियों को स्वस्थ किया जाता था। इस सबका अभिप्राय रोगाक्रान्त व्यक्ति के हृदय और मन को बलिष्ठकर उसमें पूर्ण स्वस्थता लाना था।

प्रभु की असीम कृपा है कि प्राकृतिक शक्तियों प्रत्येक क्षण मनुष्य जीवन रक्षा में संलग्न रहती हैं। शरीर के अन्दर कोई विकार पैदा होते ही प्रकृति उसे विविध रूप से निकाल बाहर करने में जुट जाती है। अनुभवी चिकित्सक रोगी के रोग दूर करने में केवल प्रकृति की सहायता करता है। अतः मनुष्य को निर्भय होकर अपनी अपार शक्ति पर भरोसा कर विषम परिस्थिति आ पड़ने पर धैर्य व साहस धारण कर आवश्यक उपचार करना ही श्रेयष्कर है। सच्ची श्रद्धा ही तो असफलता की तो गुंजायश ही नहीं रह जाती।

मनुष्य जितना अधिक अपने पर श्रद्धा व विश्वास रखता है, उतना ही वह अपने को आत्म नियंत्रण में रखता है और यदि दुर्भावनाऐं उस पर कभी आक्रमण करने का साहस भी करें तो वे सबके सब स्वयं चकनाचूर हो जाती है। क्योंकि वलिष्ठ और निर्बल के द्वन्द्व युद्ध में विजय सदा वलिष्ठ की ही हुआ करती है। निर्बल अंधकार प्रकाश की किरण आते ही काफूर है जाता है। इस प्रकार बलशाली के सामने भय, शंका आदि दुर्भावनाऐं आने का साहस तक नहीं कर सकती, वे तो दुर्बलों के यहाँ ही सम्मानित होकर डेरा डाले रहती हैं।

वीर की परीक्षा युद्ध स्थल में ही होती है। इसी प्रकार परिपूर्ण व्यक्ति की परीक्षा विकट परिस्थिति आपड़ने पर ही देखी जाती है।

मणि को पौलिश करने के लिये खराद पर चढ़ाया जाता है (तभी वह हार या मुकुट में जड़ी जाती है) इसी प्रकार बिना परीक्षणों में से गुजरे मनुष्य परिपूर्ण नहीं कहलाया जा सकता।

"Agem cannot be polished without frictions nor a man perfected without trials."

"इनसान क्या जो ठोकरें—
नसीब की न सह सके ? इन०
वो किश्ती क्या जो आंधियों—
के बीच से न चल सके ? वो०"

विकट परिस्थिति आ पड़ने पर तुरन्त शान्त चित्त हो अपने इष्टदेव को पुकारो। वह अपार शक्ति शाली तुम्हें इस विकट परिस्थिति से पार करने के लिये स्वयं ही कोई रास्ता निकाल तुम्हें पार कर देता है. तुम्हें पता तक नहीं चलता कि यह सब कुछ कैसे हुआ। यदि कभी कोई हत्यारा हत्या करने आता है, तो डर कर आत्म समर्पण न करो। हत्यारे के बुरे की कोई कामना अपने हृदय में न करो बल्कि प्रभु से उसकी बुद्धि पलटने के लिये प्रार्थना करो जिससे वह इस घोर अपराध करने से रुक जाय। धैर्य व साहस से उसे इस अपराध करने से बचाओ। अपराधी को सीधे रास्ते पर लाने का प्रयास करो। इस बात को न भूलो कि चाहे कोई कितना ही क्रूर हिंसक क्यों न हो उसमें भी कुछ अंश तो मनुष्यत्व का रहता ही है अर्थात् आत्मा तो उसके अन्दर भी होती है जिसके आदेश को ठुकरा कर अपनी दुष्टता के कारण हिंसा पर उतारू होता है। आपने उसमें उसके मनुष्यत्व को जगाना है जिससे वह अपनी आत्मा के सदादेश पर आकर हत्या करने के अपराध से बच जाय। यदि आपके अन्दर आत्मिक बल है तो आप अवश्य हत्यारे को हत्या करने से बचा लेंगे। वह नीच है, उसका हृदय दुष्टता से दुर्बल पड़ गया है, आपके आत्मिक बल के आगे उसे झुकना ही पड़ेगा और उसकी बुद्धि पलट जायगी और आप हत्या से बच जायेंगे और हत्यारा अपने अपराध से बच जायगा। यह सब कुछ तुम तभी कर सकते हो जब तुम स्वयं शुद्ध हृदय हो, तुम्हारे अन्दर किसी के प्रति बुरी भावना न हो। व्यक्ति के शक्तिशाली दैवी गुणों के आगे दुष्ट हृदय स्वयं दुब दबाकर बैठ जाता है और अपनी दुष्टता करने में असमर्थ हो जाता है।

आपने सुना होगा महात्माओं के सामने महान् हिंसक जीव सिंह आदि भी बकरी की तरह शान्त रहते हैं। महान् आत्मा के सम्मुख महान् हिंसक व क्रूर अपनी वृत्ति बदल कर नम्र हो जाता है। सब प्रकार के भय व शंकाओं का समाधान ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं ही हो जाता है :—

'विज्ञान दीपेन ससार भयं निवर्तते"

भय रूपी अन्धकार विज्ञान दीपक से नष्ट हो जाता है।

(कौटिल्य)

बचपन में बालक हर बात व हर चीज जो सामने आती है, डरता है, परन्तु ज्यों-ज्यों समझदार होता जाता है, वस्तुओं के विषय में परिचय पाता जाता है, उसके भय नष्ट होते जाते जाते हैं। ज्ञान के प्रभाव से, ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती है, धीरे २ मनुष्य की जानकारी बढ़ती जाती है और बहुत से भय जो पहिले थे वे स्वतः दूर हो जाते हैं।

किसी आज्ञात स्थान के मार्ग में जाने से पहिले हम डरते हैं, परन्तु मार्ग में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं सब भय अपने आप दूर होते जाते हैं। किसी भी काम को आरम्भ करने में मनुष्य पहिले हिचकिचाता है, डर मालूम करता है, परन्तु जब आरम्भ कर देता है तो पहिले बना भय तो स्वयं दूर होता ही है किन्तु रुचि भी बढ़ने लगती है और अन्ततः उस कार्य में वह दक्ष भी हो जाता है। कला कौशल में दक्ष होने पर बेकारी का भय दूर हो जाता है। गुणी और क्रिया विशेषज्ञ को कार्य हानि की आशंका नहीं रहती, वह बेधड़क अपने काम में आगे आगे बढ़ता है।

ज्ञान के द्वारा बुद्धि की वृद्धि और शुद्धि होकर भयशंका के भूत स्वयं ही भाग जाते हैं। इसलिये मनुष्य को बहुज्ञ होना जरूरी है प्रत्येक मनुष्य को आत्मज्ञान, व्यावसायिक ज्ञान और लोक में जीवन यापन के लिये व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। जब तक उसे विविध ज्ञान नहीं, तभी तक भय व शंका बनी रहती है और इसी से मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा में आगे बढ़ने में रुकावट पड़ती है। ज्ञान से मनुष्य को चैतन्यता प्रत्युत्पन्नमति, युक्तिज्ञता, मर्मज्ञता, सूक्ष्मदृष्टि, व्यवहार चातुर्य और कार्य दक्षता प्राप्त

होती है और तभी वह सुखपूर्वक अपनी जीवन यात्रा में आगे-आगे बढ़ता जाता है।

मनुष्य का निजी स्वार्थ ही उसमें भय व शंका के दुर्गुणों का जन्म दाता है। स्वार्थी ही सदा भय व शंकाओं का शिकार बना रहता है। स्वार्थ की जड़ में आसक्ति छिपी रहती है, जिसके कारण मनुष्य में भय शंका घर कर लेते हैं। डर चोर को होता है। जिसने चोरी ही नहीं की उसे डर किस बात का ? जो अपने कर्त्तव्य पालन में सही व ईमानदारी की वृत्ति अपनाए हुये है, जो अपने कर्त्तव्य को भली भाँति समझता है, उसे कभी किसी का भय नहीं होता।

एक अंग्रेज दार्शनिक ने कहा है:—

"At the bottom of all fears, lies selfishness" अर्थात् सब प्रकार के भयों की तह में स्वार्थ वृत्ति छिपी रहती है।

जिस परिवार का, समाज का या राष्ट्र का ढाँचा अस्त व्यस्त या डाँवा डोल स्थिति में पड़ जाता है उसका एक मात्र कारण सर्वेसर्वा की स्वार्थ सिद्धि की महत्वा कांक्षा ही काम कर रही होती है, जिसके कारण सर्वनाश का तूफान निकट आता दीखता है। अपने काम में दक्ष निःस्वार्थी व्यक्ति को भय कहां ? फिर जो अपना सर्वस्व जनता जनार्दन का समझता है, उसी की सेवा में रत है उसे भय किस बात का ? अपार संग्रह कर जो स्वार्थ बुद्धि से केवल अपने ही उपयोग में वस्तुओं को लाना चाहते हैं वही चोर हैं और चोर को भय होना स्वाभाविक ही है।

संयम शिक्षा के साथ ज्ञानी बनकर ही हम निर्भय हो सकते हैं। संयम से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल बलिष्ठ होता है जिसके होने से भय शंका आदि चोर अन्दर घुसने का साहस तक नहीं कर सकते। मनुष्य बलिष्ठ होकर ही सब प्रकार के चोरों व दुर्गुणों से अपनी रक्षा कर सकता है। इसके लिये संयम, सदाचार और धर्म की राह पर चलना आवश्यक है। प्राणी मात्र को अभय दान देने से मनुष्य भी स्वयं अभय बन जाता है।

महात्माओं का जब प्राणिमात्र के प्रति प्रेम होता है, जीव मात्र के प्रति उनके हृदय में द्वेष व हिंसा की भावना नहीं होती तो हिंसक जीव भी वैर छोड़ मित्र बने पीछे-पीछे फिरने लगते हैं—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां सर्व वेरे त्यागः।" मनुष्य के हिय (दिल) में जब अहिंसा परिपक्क हो जाती है तो जीव मात्र उससे वैर त्याग कर प्रेम करने लगते हैं।

इस पर्वती क्षेत्र में कहीं कहीं गांवों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है कि गाँव वाले मिलकर नाग देवता की प्रतिवर्ष मुख्य पर्व पर पूजा करते हैं। और नाग देवता को दूध पीने को देते हैं। परिणाम स्वरूप हमने उन गाँवों में किसी को भी सांप से काटा नहीं सुना। जीव मात्र के प्रति प्रेम होने से भय की तो गुंजायश ही नहीं रहती अतः दूसरों को अभयदान देकर ही हम अभय बन सकते हैं। दान के अनुसार ही फल मिलता है। जैसा बीज बोओगे वैसे ही फल काटने पड़ते हैं। यह कभी नहीं होता कि नीम के बीज बोकर आम के फल प्राप्त हों।

बलशाली ही दूसरों को अभयदान दे सकता है। हमारे अन्दर जितनी अधिकता में आत्म संयम, उदारता और त्याग की भावना होगी, उतनी ही अधिकता में हम दूसरों को अभय दान देकर उनके कल्याण में लाभप्रद सिद्ध सो सकते हैं और उतनी ही अधिकता में जनता जनार्दन का प्रेम व सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। आभूषण को सुन्दर बनने के लिये स्वर्ण को पहिले तेज भट्टी में जलना पड़ता है, अनेकों संकटों के प्रहार सहने पड़ते हैं।

जितनी सद्भावना आप दूसरों को देंगे। वह कई गुना होकर आपको ही मिलेगी। एक बीज बोकर कई फल प्राप्त होते हैं। सद्भाव व प्रेम आपको अपने शत्रुओं के प्रति भी अपनाना चाहिये जिससे कुछ समय के अनन्तर वे आपके प्रेम भाजन बन सकें। प्रायः देखा जाता है कि लोग उसी का अहित करते है जिससे उन्हें अपने अहित की शंका होती है। जब आपके प्रति लोगों का भय व शंका दूर हो जायगी तो वे आप पर विश्वास व प्रेम

करने लग जायेंगे। हम लोक में दूसरों का उपकार न्याय, सत्य, अहिंसा जो अभयदान के मुख्य उपादान हैं, इन्हें सबके प्रति अपना कर ही हम निर्भय बन कर लोक कल्याण में प्रभु का हाथ बटाकर मानव जीवन को सार्थक बना सकते हैं और प्रभु के प्रिय बन सकते हैं। प्रभु का सबसे बड़ा प्रिय वह है जो उसकी सृष्टि से प्रेम करता है, उसके जीवों को अपनाकर स्नेह करता है। सब बुराइयों की जड़ मनुष्य की अकर्मण्यता है।

कभी भी किसी प्रकार का भय उपस्थित होने पर अपने को तुरन्त किसी कार्य में जुटा दो। अकर्मी व आलसी को ही भय का भूत सताता रहता है। जो निरन्तर सत्कर्म में जुटा रहता है उसके मन में भय व शंका के लिये तो कोई गुंजायश ही नहीं रहती। यह कभी न भूलो कि खाली मन ही शैतान का घर बना रहता है।

जब मनुष्य का पौरुष सोता है, या वह आलस्य में जंमाई ले रहा होता है, तभी वह नाना प्रकार की चिन्ताओं, भय या शंकाओं से घिरता है यही मनुष्य के लिये बड़ा दुःख व संकट है। अकर्मण्यता या पुरुषार्थ के न रहने पर ही नाना प्रकार के भय संकट आदि भूत आकर मनुष्य के मन को परेशान व भयभीत करते हैं। जिस प्रकार अंधेरे में पैदा हुये नाना प्रकार के कीट पतंगे सूर्य के प्रकाश आने पर विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार पुरुषार्थ की गर्मी आते ही मनुष्य के अन्दर पैदा हुए भय-बाधा-शंका आदि कीट स्वयं विलीन हो जाते हैं या दूर भाग जाते हैं। अतः पुरुषार्थ की गर्मी से शरीर व मन के दोष दूर होकर शुद्धता आती है और तभी सुख व आनन्द का अनुभव होता है।

यह सारा जीवन का ढांचा आशा पर ही अवलम्बित है और आशा के साथ कर्म का सम्बन्ध अटूट है। आशा को आगे करके ही मनुष्य में कर्म की खेती उगती है। आशा रूपी जल यदि न मिले तो वह सारी खेती सूख कर मनुष्य अकाल का शिकार बन जायगा।

आलस्य या अकर्मण्यता आशा रूपी जल को सुखा देती है, वहां तब 'निराशा का रेगिस्थान बन जाता है जिसमें कोई खेती न उगकर भूखा मरना

पड़ता है। आशावान् होते ही मनुष्य में कर्म के प्रति उत्साह विद्युत पैदा हो जाती हैं, जिससे उसकी जीवन रूपी गाड़ी आगे आगे दौड़ती जाती है, फिर उसमें जंकरूपी भय कहाँ ?

इस मस्तिष्क को पुरुषार्थ की गर्मी से भरपूर रक्खोगे तो भय आदि शीत बाधा स्वयं ही दूर हो जायगी। कर्म करने से ही स्वावलम्वी वना जाता है। स्वावलम्बन में ही सुख है। स्वावलम्वी बनकर हमारे बहुत से भय व शंकाऐं स्वतः दूर हो जाते हैं और पराश्रित दुःखमय जीवन से स्वतन्त्र सुखमय जीवन का अनुभव करते हैं।

कर्मठ व्यक्ति ही जीवन में अपना चहुँमुखी विकास करने में समर्थ होता है।

वह स्वावलम्वी जीवन विताता है। अपनी गाड़ी आप खींचता है। कर्मठ होने से भय, वाधा व शंकाऐं कभी आ भी जाँय तो कर्म में जुटे हुए को उनका पता तक नहीं होता या वह सरलता से झेल लेता है।

कर्म करने की जिसने अपनी आदत पक्की बनाली है, उसे न जाड़े की शिकायत है न गर्मी की और न किसी भय व शंका की। वह तो अपनी कर्म की चक्की की धुन में निरन्तर रमा हुआ मिलता है। सच पूछिये तो कर्मठ व्यक्ति ऐसा व्यस्त रहता है कि उसे संकट, भय, वाधा, मृत्युभय आदि शंकाओं को सोचने का तो मन में कोई स्थान ही नहीं होता, मन तो निरन्तर उसकी कर्म की चक्की चलाने में व्यस्त है उसे अन्य कुछ सोचने की तो फुरसत ही कहाँ ? इसलिये वे दुर्गुण उसको अपना शिकार बनाने में सर्वथा असफल होते देखे जाते हैं।

सब रोग-दुःख-भय-वाधा की एक ही परमौषध—

"सत्कर्म से विद्युत सुचालित—नित्य जीवन तंत्र यह।
सम्बन्ध ज्यों ही हो पृथक—गति हीन विद्युत यंत्र वह॥
बल उष्णता गति युक्त में—दुख शीत भय बाधा रहित।
सुख से निरन्तर बढ़ रहा—निज लक्ष्य में अच्छा सहित॥
सब रोग बाधा भय निराशा एक परमौषध यही।
सत्कर्म में 'सियराम' जप निष्काम हो नित चित सही।

मनुष्य की परीक्षा भय, बाधा, संकट आदि विकट परिस्थिति आ पड़ने पर ही हुआ करती है, और तभी जीवन बनता है, जिसका निरन्तर भय बना है, उस काटे को निकाल बाहर करने पर ही सुख व चैन मिल मिल सकता है। भययुक्त जीवन, जीवन नहीं कहा जाता।

डर कर जीवन की सुरक्षा नहीं रह सकती। जान लेकर भागने या डर कर बैठने से जान नहीं बचाई जा सकती। सचाई तो यह है कि जो लोग जीवन युद्ध में अपनी जान को हथेली पर रखकर आगे बढ़कर प्रहार करना जानते हैं वे ही विजयी होते हैं और निर्भय होकर स्वतन्त्र जीवन यापन करते हैं।

बहादुर के सामने, भय चाहे कठिन कार्य के रूप में, कठिन परिस्थिति के रूप में, चाहे घोर अत्याचारी के रूप में—चाहे जिस रूप में भी आवे, उससे कट्टर मुकाबला होकर परास्त होकर रहता है, उसे मुंह की खानी पड़ती है। तब बहादुर और चमक जाता है।

सन् १९६७ की बात है, मध्यपूर्व में जब अरबराष्ट्र इजरायल (एक छोटा राष्ट) को नाना प्रकार की धमकियाँ देकर भयभीत करने लगे तो उस छोटे से बहादुर राष्ट्र ने अपनी पूरी शक्ति और युक्ति से ऐसा जबाबी प्रहार किया कि उन कई शक्तिशाली अरब राष्ट्रों को अब उठना ही कठिन हो रहा है, क्योंकि बहादुर के भारी प्रहार से उनकी कमर ही टूट गई। जान पड़ती है। इस प्रकार उस लघुराष्ट्र ने अपना सदैव का भय ही मिटा दिया। इसीलिये कहा है बहादुर आगे बढ़कर प्रहार करना जानता है, भय से पीछा हटना नहीं जानता। चाहे कितने ही बड़े राष्ट्र मिलकर एक छोटे राष्ट्र को मिटाने के लिये तैयार हो जाँय, परन्तु यदि उस छोटे राष्ट्र में शक्ति और युक्ति बल मौजूद हैं तो एक ही प्रहार से उन बड़े शक्तिशाली कहे जाने वाले राष्ट्रों का गौरव मिट्टी में मिला सकता है। यह सब हमने अरब इजराइली केवल ५ दिन के युद्ध में स्पष्ट देखा। भारत को इजरायल की बहादुरी से कुछ शिक्षा ग्रहण करनी आवश्यक है। इसीलिये जो प्राचीन भारत (जब विश्व का सबसे बड़ा शक्तिशाली राष्ट्र था) ने कहा था—

"वीर भोग्या वसुन्धरा।" वीर ही इस पृथ्वी के राज काज का भोग कर सकते हैं। इस पृथ्वी की नागरिकता ही कर्मठ वीरों के लिये है निकम्मे अकर्मण्य, डरपोक लोगों के लिये तो यहाँ रहने का अधिकार भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि उनके रहने से तो पृथ्वी का भार ही बढ़ता है, जिससे उसे दुःखी होना पड़ता है।

अमेरिका का प्रसिद्ध साहित्यकार एमर्सन—

"Do the thing that you fear & the death of fear is Certain"

Amerson.

जिस काम से तुम्हें डर लगता है, उसी को करो तो भय निश्चय ही मर जायगा।" परन्तु हृदय में सद्‌भावना होनी जरूरी है।

अपने में बुरे पौधे को फूलने फलने से पहिले ही नष्ट कर दो, क्योंकि बड़ा होकर वह तुम्हें ही समाप्त कर देगा। सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा है— प्रकाश ईश्वर की छाया है, उस छाया में तामसी भावों के टिकने की गुंजायश ही कहाँ है।"

सचमुच प्रभु का नाम जवान पर आते ही एक प्रकार से सारे शरीर में पवित्रता की विद्युत तरंग सी दौड़ पड़ती है। उस तरंग के सामने तामसी भावनाऐं टिक ही कैसे सकती हैं।

वास्तव में जिस दिल को प्रभु नाम का पवित्र प्रकाश मिल गया है, वहाँ किसी प्रकार की दुर्भावना रूपी अन्धकार रह ही कैसे सकता है। वहाँ तो पूर्ण प्रकाश, सन्तोष व आनन्द ही आनन्द भरपूर हो जाता है। जिस दिल में उसके नाम का प्यार समा गया है, उसके लिये जीवमात्र के प्रति हिंसा, क्रूरता, बैर आदि दुष्ट भाव फिर कैसे? वहाँ जो प्रेम का दरिया बहना आरम्भ हो जाता है, जिसमें दुःखी जीव स्नान कर पवित्र हो आनन्द में झूमने लगते हैं।

हममें प्रयत्न करने पर भी परिवर्तन नहीं होता, इसका क्या कारण है?

इसका एकमात्र कारण हृदय की कमजोरी है, अपने में श्रद्धा की कमी है। हमारे अन्दर अपने दोषों के कारण आत्म बल कमजोर पड़ जाता है, जिसके कारण हम प्रयत्न करने पर भी अपने में परिवर्तन नहीं ला सकते।

इसके लिये शर्त है, तीव्रता। अपने में, अपनी बुरी आदतों व वासनाओं को त्यागने के लिये, पूर्ण परिवर्तन लाने के लिये हमें अपने अन्दर तीव्र संकल्प शक्ति जगानी होगी। अपने चंचल मन पर नियंत्रण लाने के लिये अपने में तीव्र इच्छा शक्ति (Strong will power) अपनानी जरूरी है, तभी कमजोर पड़ा हुआ आत्मबल शक्तिशाली बनकर हममें शीघ्र परिवर्तन ला सकता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस किस प्रकार अपने में परिवर्तन लाये—

स्वामी को सेव खाने का बड़ा चस्का था। जब कभी सेव देखते लार टपकने लगती थी। उन्होंने इस वासना को त्याग देने के लिये एक युक्ति सोची। वे बाजार जाकर टोकरी भरकर बढ़िया किस्म के सेव ले आये और टोकरी को अपने कमरे में अपनी मेज के ठीक सामने वाली आलमारी में रख दिया। स्वामी जी मेज कुर्सी पर बैठे-बैठे अपना काम करते तो मन सेव की ओर लपक पड़ता। स्वामी जी कुछ देर काम रोक कर भरी हुई सेवों की टोकरी की ओर देखते रहते। फिर बिना सेव खाये ही अपना कार्य चालू कर देते। इस प्रकार करते-करते कई दिन बीत गये। सेवों की टोकरी पूरी की पूरी सड़-गल कर खराब हो गई। स्वामी जी ने टोकरी की ओर देखते हुए मन को सम्बोधित करते हुए कहा—अब तो खा लिये सेव! अब आगे से तो उनकी ओर नहीं लपकेगा। देख! वे सबके सब सड़ गए!" बस तब से आगे कभी भी उनका मन सेव खाने को न ललचाया और इस प्रकार उस वासना से पिण्ड छुड़ा कर अपने में परिवर्तन लाने में समर्थ हुए।

बस आत्म-नियन्त्रण में तीव्रता या कठोरता लाकर ही मनुष्य अपने को काबू में ला सकता है या तीव्रता ग्रहण कर ही अपने में इच्छित परिवर्तन ला सकता है।

काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, भय, कुचेष्टा आदि दुर्भावनाएँ तभी तक हम पर आक्रमण करने में समर्थ हैं जब तक हममें उन्हें हराने की तीव्रता नहीं है।

कवि सूर्य श्री सूरदास पहिले बड़े कामुक प्रकृति के थे। कामवासना पर विजय पाने के लिये ही उन्होंने अपने पर तीव्रता से प्रहार किया कि अपने हाथ से अपनी दोनों आँखें फोड़ डाली, और तब उस महान शक्ति के कारण ही वे कवियों में सूर्य कहलाए। पूज्य बापू श्री गाँधी ने लोक-कल्याण के लिए अपने स्वार्थ का एकमात्र चारा 'बैरिष्ट्री' पर लात मार दी और जनता जनार्दन के सेवा में अपने को बलिदान कर दिया। ऐसा लोक-कल्याण के सत्य पथ पर लाने के लिए, तीव्रता से अपने में परिवर्तन लाना जरूरी हो गया था।

इस प्रकार संसार के महापुरुषों की जीवनियों से हमें यही शिक्षा मिलती है कि महत्वपूर्ण कार्य को जीवन में कार्य रूप परिणित करने के लिये तुच्छ वासना-स्वार्थ को तीव्रता के संयम से ही हम पूर्ण कर सकते हैं।

बस अपने मे परिवर्तन लाने के लिये आज ही प्रण कर लीजिये—

"मैं आज और अभी से प्रण करता हूँ, कि मैं अपने को सुधार कर रहूँगा, अपने में परिवर्तन करके रहूँगा। अपने को जीवन की सच्ची राह पर ले चलूँगा। भय, शङ्का आदि दुर्भावनाओं व किसी प्रकार की वासना अब मेरे में नहीं रहेगी—इस दृढ़ निश्चय से अब मुझे कोई नहीं हटा सकता"—इस प्रकार के प्रण की भावना जो रात-दिन, आठों पहर, प्रतिक्षण अपनाये हुए है, तो कौन है जो अपने को बदल न सके ? सच्ची लगन से तो अदृश्य प्रभु भी सम्मुख प्रगट हो जाता है।

जैसे मैंने पीछे सब रोग, बाधा व भय की एक ही परमौषध बताई है, उसी को शास्त्रों में स्पष्ट करता हैः—

"अत्रैकं पौरुषं यत्नवर्जयित्वेतरागतिः।

सर्वं दुःख भय प्राप्तौनकाचिदुपपद्यते॥"

अर्थात् संसार के सब दुःख व भय निवारण का एक ही उपाय है—'पुरुषार्थ'। (योग वाशिष्ठ)

भेद इतना ही है कि यहाँ शास्त्र ने सूत्र रूप में बताया है ; परन्तु मैंने अनुभव और युक्ति का सहारा लेकर भाव को ऐसा स्पष्ट कर दिया है जिससे आजकल के मन्द बुद्धि लोग भी भली भांति समझ सकें और वास्तविकता से लाभ उठा सकें।

तिलों को तैल रूप में परिवर्तन लाने के लिए कोल्हू में पिलना पड़ता है। स्वर्ण, रजत आदि धातुओं को रसायन में बदलने के लिये कई बार उपलों की आँच में पुटों द्वारा भस्मरूप किया जाता है, तब जाकर वे मनुष्य में रसायन के प्रयोग योग्य होते हैं। ठीक इसी प्रकार कठोर नियन्त्रण व संयम से मनुष्य को अपने आपको बदल कर शुद्ध करना जरूरी है तभी वह महत्व को प्राप्त करने योग्य हो सकता हैं।

चाहे कोई कितने ही युद्ध जीत कर योद्धा व वीर कहलाता हो ; भारी विषधर सर्प को भी पकड़ने में समर्थ हो गया हो ; चाहे शेरे-बब्बर तक को बाँधकर लाने में समर्थ हो गया हो : परन्तु यदि उसने अपने को नहीं मारा या नहीं जीता। अर्थात् अपने को कठोर नियन्त्रण की भट्टी में शुद्ध नहीं किया गया तो वह सच्चा योद्धा नहीं कहलाया जा सकता।

'सिया/राम' मानव रूप में पहिचान अपने आपको ॥
बस तीव्र संयम शस्त्र से ले जीत अपने आपको।
औ ज्ञान का चश्मा चढ़ा ले जान अपने आपको ॥ सिया०
रख उष्ण उत्साहित हुआ सत्कर्म से नित आपको।
गतिशील जीबन यन्त्र हो पकड़े न बाधा पाप को ॥ सिया०
पुरुषत्वधर पुरुषार्थ में, निज इष्ट में रख आपको।
निर्भय हुआ निज लक्ष्य में बढ़ चल सम्हाले आपको -। सिया०
जनता जनार्दन-अर्चना में ही खपा दे आपको।
'सिया/राम' मानव रून में पहिचान अपने आपको ॥ सिया०

ॐ तत्सत्

घूंट १४

जीवन संघर्ष निर्भय होकर ही जीता जा सकता है

जीवन संघर्ष में निर्भयता अपनाये हुये निरन्तर आगे-आगे बढ़ते चलो प्रहार करते चलो।

देखो सफलता हैं खड़ी 'सियाराम' स्वागत के लिये।

"हारा सो मरा"······कहावत बिल्कुल सत्य हैं। सचमुच यह जीवन क्षेत्र है ही, निर्भय, साहसी, कर्मठ बीरों के लिये। भयभीत, सशंकित और निर्बल व्यक्ति जो केवल जन-गणना बढ़ाने के लिये ही होते हैं। खेत में कृषक वही है, जो वहां जाकर निर्भयता से अपने खेती के कर्त्तव्य का पालन करता है और तभी अन्त में बढ़िया फसल काटता है।

इस कर्म क्षेत्र में डरपोकों के लिये कहीं स्थान नहीं हैं, इसीलिते वेद बार-बार चेतावनी देते कहता है—

"पुरुष अतः उत्क्राम। मा अवपत्था।
मृत्योपड्वीशमवमुञ्चमानः ॥"

O mam ! rise up from this place, Snk not down ward, Casting away the bounds of death that hold thee.

ऐ मानव ! मृत्यु के पाशों (भय) को काटकर, अवनत दशा से ऊपर उठ ! कभी गिरने का भय तक हृदय में न ला ! यही (भय) तेरे मार्ग में आगे बढ़ने के लिये बाधक है, इसे फेंक अलग, आगे बढ़ता चला जा।

वास्तव में मनुष्य की स्वार्थ सिद्धी ही उसमें भय व शङ्का को उगाती हैं। स्वार्थ में निरन्तर पलता हुआ मनुष्य सदैव ही भयभीत और सशंकित बना रहता हैं। इसी के कारण उसका आत्म-बल कमजोर पड़ जाता है और विचार धारा संकुचित हो जाती है. और इसलिये जीवन में वह कोई महत्व का कार्य नहीं कर पाता है।

सन १९३९–४० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा तो देश-रक्षा हेतु भर्ती की पुकार जोर पकड़ी। कई नौजवान बड़े उत्साह से सेना में भर्ती हुये ; परन्तु कुछ काल प्रशिक्षण प्राप्त कर जब उन्हें आगे रणक्षेत्र (Battle front) में भेजा जाने लगा, तो कोई कैम्प से ही भाग गये तो कोई रेलवे स्टेशनों से। यह उन्होंने केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि—जान बचाने के लिये किया। भाग कर उन्होंने राष्ट्र की हानि की। परन्तु उन्हीं के साथ में भर्ती हुआ। लेखक निर्भयता से अपने कर्त्तव्य में तत्पर रहा और अधिकतर भारत के बाहर ही कई रण-क्षेत्रों में अपने राष्ट्र-रक्षा हित के लिये लड़ता रहा। मुख्यत: अपर बर्मा में पोटावा छावनी (Fort hart), आसाम में मणीपुर इम्फाल आदि में और मध्यपूर्व में कायरो, सीरिया, पलेसटाइन, तलअबीब, ट्रिपोली, बालबेक आदि। द्वितीय महायुद्ध समाप्ति पर ही अपनी प्रिय मातृ-भूमि भारत में वापसी का कदम रक्खा।

कमजोर, उत्साह-हीन, भयभीत हुआ व्यक्ति समय आने पर हताश हो कि कर्त्तव्य विमूढ़ हुआ निराश हो बैठ जाता है। अर्जुन की यही दशा जब महाभारत युद्ध में हो जाती हैं, तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्ट मस्वर्ग्यमकीर्ति करमर्जुन ॥
क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यंत्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

हे अर्जुन! अत्यन्त हानिकारक यह नाउम्मेदी की भावना, ऐसे महत्वपूर्ण समय में—जो अनार्य अकीर्तिकर और अस्वर्ग्य है, तुम्हारे अन्दर कैसे आई ?

हे पार्थ इस प्रकार के नपुंसकत्व को न अपनाओ! तुम जैसे वीरों के लिये यह शोभनीय नहीं है। इस हृदय की कमजोरी व भय को इसी समय छोड़ दो और कीर्तिदायक युद्ध जो उपस्थित है उसके लिए तैयार हो जाओ।

(गीता)

इस प्रकार विवाद व भय से ग्रस्त अर्जुन को निर्भय व बलवान बनाने और युद्ध जीतने के लिये तैयार करने के लिए गीता में १५ अध्याय का ज्ञान भगवान ने अर्जुन को दिया और फिर अ० १६ में कहा—

"अभयं सत्त्व संशुद्धि·········"

निर्भयता, तन मन की शुद्धता, सत्कर्म में बुद्धि की प्रखरता, दान, आत्म नियन्त्रण, त्याग, धर्म शास्त्रों के अध्ययन में रुचि, तप, स्पष्टवादिता अहिंसा, सत्य, अक्रोध, स्वार्थ त्याग की भावना या उदारता, मन की शान्ति क्रूरता का अभाव, जीव मात्र के प्रति प्रेम अपनाना, मृदुता, विनम्रता, मन की अचंचलता, बल व तेज की अधिकता, क्षमा, धारण शक्ति की अधिकता, स्वाभाविक पवित्रता, अद्रोह, अनभिमान—ये दैवी गुण हैं। जिनमें ये गुण होते हैं, वे मनुष्यों में होते हुए भी देवता हैं।

"दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभि जातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥"

दम्भ, दर्प, अभिमान क्रोध, क्रूरता, अज्ञान ये राक्षसी गुण हैं। राक्षसी वृत्ति वाले लोगों में ये गुण होते हैं।

जहाँ दैवीगुण लोक में मनुष्य को सुख, समृद्धि, आरोग्य और उच्चता की ओर ले जाने में सहायक होते हैं वहां राक्षसी गुण उसको निरन्तर दुःख संकट और घोर पतन की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। मृत्यु के वाद दैवी गुण वाले स्वर्ग आदि उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं जबकि नीच वृति वाले राक्षसी सम्पदा वाले नीच योनि या नरक को प्राप्त होते हैं।

हे अर्जुन ! तुम तो दैवी सम्पदा वाले हो, तुम चिन्ता व शोक क्यों करते हो तुम्हें तो सुख समृद्धि, गौरव व सफलता मिली मिलाई हैं। तुम अपने को भूलते हो, पहिचानो अपने को ! और हृदय की दुर्बलता व भय को त्याग कर युद्ध के लिए उठो, तैयार हो जाओ ! विजय तुम्हारी घरी घराई है। (गीता)

"है यह धरा उनके लिए सब कुछ यहाँ उनके लिए।
सुन्दर सुखद जो दीखता साम्राज्य भी उनके लिये ॥

जो धैर्य साहस निडरता पुरुषत्व अपनाए हुए।
बढ़ते हैं कर्मक्षेत्र में सत्कर्म अपनाए हुए।।
उत्साह की गर्मी नहीं हृदय निडरता की लहर।
ले जन्म जग में क्या हुआ ! है भार जीवन के लिये।।
निज इष्ट श्रद्धा में अडिग निर्भय हुए आगे बढ़ो।
देखो सफलता है खड़ी 'सियराम स्वागत के लिए।।"

ओम सत्सत

घूँट १५

मानव जीवन की सार्थकता

जिस जाति में दृढ़ संगठन बल सत्य जीवित है वही ।
जानो विजय पा चक्रवर्ती राज करती है वही ।।
संसार का साम्राज्य केवल वीर्य वानों के लिये ।
जीवन सफल हो अंत में है मोक्ष भी उनके लिए ।।

इस सृष्टि में असंख्य प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं । इन सब में विवेक के कारण मनुष्य ही सर्व श्रेष्ठ माना जाता है । मानव होकर यदि जीवन के महत्व को न समझा तो उसका जन्म निरर्थक ही जानो ।

इस संसार में तीन प्रकार के घोड़े देखने में आते हैं—१. एक तो भारवाही या लद्दू ये इधर उधर बोझा ढोने के ही काम आते हैं । २. दूसरे नुमायशी जो देखने व दर्शकों के मनोरंजन के ही उपयोग के लिए पाले पोशे जाते हैं । ३. तीसरे पराक्रमी जो युद्ध में लड़ाई जीतने के काम आते हैं । गोली बौछार की परवाह न कर ये बहादुर घोड़े अपने सवारों को शस्त्रुओं पर प्रहार कराते हुए आगे आगे लड़ाई में बढ़ते जाते हैं और भारी संकटों के बीच अपना कदम पीछे नहीं मोड़ते जब तक कि जय श्री प्राप्त न हो जाय ।

बस ऐसे ही वीरों से यह पृथ्वी धन्य होती है और उन्हीं की वीरता की प्रशन्सा यहां की जाती है

ऊपर कही गई बात मनुष्य पर भी शतप्रतिशत घटती है । १. जो लोग केवल अपनी उदरपूर्ति के लिए बोझाढोकर मजदूरी करते हैं वे ठीक लद्दू घोड़ों के समान हैं । २. वे लोग जो खूब कमाते हैं और अपनी कमाई को ऐशो अशरत में खर्च कर देते हैं और दूसरों के इशारों पर चलते हैं नुमायशी घोड़ों के समान दूसरी श्रेणी में आते हैं । ३. तीसरे साहसी पराक्रमी

घोड़ों की तरह जो जीवन संग्राम में भय, बाधा, संकट रूपी गोली बारूद की बौछारों की परवाह न कर आगे आगे बढ़ते लड़ते हैं। संग्राम में जो रुकना व पीछे मुड़ना जानते ही नहीं। जब तक यह जीवन संग्राम चालू है, तब तक जिनमें साहस व पराक्रम शिथिल होते नहीं दिखाई देते। बस ये तीसरे श्रेणी के मानव ही यहाँ प्रशन्सा पाते हैं, इन्हीं के कारण यह पृथ्वी धन्य धन्य होती हैं और इन्हीं का जीवन सार्थक कहा जाता है। वास्तव में इस कर्म क्षेत्र में वे ही शूरवीर हैं जो अपने साहस, पराक्रम, धैर्य व कर्त्तव्य परायणता के कारण अन्य लोगों से प्रशंसित होते हैं। इन्हीं की पूजा से दिशायें गूँज उठतीं हैं और राष्ट्र का गौरवान्वित शीस ऊपर उठा रहता है।

जीवन में मनुष्य बाधा, संकटों के कठोर प्रहारों से ही चमकता है। बार २ ठोकरे खाकर ही मनुष्य शक्तिशाली और समझदार होता है। स्वर्ण बार २ अग्नि में तपाये जाने व प्रहार पड़ने से ही वास्तविक चमक को ग्रहण करता है। जिस जीवन ने बाधा व संकट कभी नहीं झेले वह छोटी सी कठिन परिस्थिति आ पड़ने पर पथ भ्रस्ट हो जाता है। सोये हुए नसीब को जगाने के लिए बार २ ठोकरों की आवश्यकया होती है।

अपने ही राष्ट्र को देख लो। पहिले चैन से घर्राटे ले सो रहा था। परन्तु १९६२ के चीन के एक ही प्रहार से जाग गया और अपनी सुरक्षा की तैयारी में अब सचेत हो गया।

"संकटे हि परीक्ष्यन्ते प्रज्ञाः शूराश्च संकरे।"

अर्थात् शूर वीरों की परीक्षा विपत्ति में ही हुआ करती है।

जो संकट व बाधा आ पड़ने पर चट्टान की तरह अडिग रहते हैं, तनिक भी घबड़ाते नहीं वे ही बुद्धिमान और बीर कहे जाते हैं। इसीलिए पुरुषार्थी, अपने जीवन शक्तिशाली और उज्जवल बनाने के लिए, जहां भीरु घबराकर भाग जाते हैं, आपत्ति व संकटों को स्वयं बुलाते हैं, क्योंकि एक मात्र इन्हीं से उनका जीवन बनना है, चमकना है और जीवन संग्राम में विजय हासिल करनी है।

कठिनाईयों दुःखो का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥

श्री राम नरेश त्रिपाठी।

शूरवीर जहाँ शत्रुओं का नाश करता है, वहाँ वह दीन-दुःखी असहाय बालक स्त्री का सहायक भी होता है। सुलताना भाँनू वीर डाकू था। वह सदैव बड़े-बड़े पूँजीपतियों के यहाँ डाका डालता और इस प्रकार जो धन मिलता उसे गरीबों, असहायों की सहायता में खर्च कर देता। त्यागी भी शूरवीर ही हुआ करते हैं। वे ही अपनी अमूल्य निधि को दूसरों की भलाई में न्यौछावर कर देते हैं। जन्म ही उनका परहित के लिये होता है।

उस दीपक की ओर देखिये जो दूसरों के हित के लिये ही अपना बलिदान कर रहा है। उन पेड़ पौधों को देखिये जो दूसरों के हितार्थ ही फूलते फलते हैं। कलाकार, साहित्यकार, दार्शनिक आदि को देखिये जो स्वयं दीपक की भाँति जलकर (सूखकर) दूसरों के कल्याणार्थ अपना तन, मन, धन, अर्पित कर देते हैं। लोक-मर्यादा रखने के लिये ही सर्व सम्पन्न भगवान् राम ने एक साधारण धोबी के कहने पर अपनी प्रिय पत्नी सीता का त्याग किया।

संसार में विचरते हुए, बाहर भीतर से एक रूप होकर निरन्तर सत्कर्म में जुटे रहना ही सज्जनता है। सज्जन के हृदय में सबके प्रति सह-भाव की गंगा वहती रहती है जिसके पान करने से दीन दुःखी असहाय भूले भटके जीवों को सुख चैन और राहत मिलती है। वह सदैव अपने को छोटा समझता है।

"A great man is always willing to be little."

(Amirson)

"अर्थात् बड़ा व्यक्ति सदा छोटा बनने (नम्र या झुकने) को तैयार रहता है।"

सद्व्यवहार से ही बड़ा व्यक्ति (सज्जन) पहिचाना जाता है। वह सदा ही विनम्र, मृदुभाषी, क्षमाशील, दयालु, शिष्ट तथा परहित रत रहता

है। निर्मलचन्द्र की चन्द्रिका से जो आनन्द मिलता है वही सज्जन की थोड़ी भी सङ्गति मिलने पर प्राप्त होता है। मुर्झाये हुए हृदय कमल पुनः खिल उठते हैं। सज्जन में सत्यवादिता, न्यायप्रियता और सुशीलता विशेष गुण होते हैं। वह प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने प्रण को निभाता है।

मनुष्य ज्ञानी होकर ही पूर्ण उन्नति शिखर पर पहुँच सकता है। दीन हीन भी यदि ज्ञानी हो तो वह बड़े से बड़े धनिक से श्रेष्ठ है। बालक भी यदि ज्ञानी हो तो वह वयोवृद्ध अज्ञानी से कहीं श्रेष्ठ है। अनेकों शास्त्रों को रटकर ज्ञानी नहीं हुआ जाता। उपयोगी विद्या के जानकार को ही ज्ञानी कहते हैं। उसी की पूजा लोग करते हैं, क्योंकि वह सर्व साधारण से अधिक ज्ञान सम्पन्न, विनम्र, दूरदर्शी और विवेकी होता है।

ज्ञानी ही अपनी विशेष बुद्धि प्रतिभा से मौलिक विचारों का स्रष्टा हुआ करता है। इस श्रेणी में कवि, साहित्यकार, रत्नाकर, विचारक और आविष्कारक आते हैं और इन्हीं की अमूल्य रचना ज्योति से राष्ट्र का अन्धकार दूर होकर उपयुक्त पथ-प्रदर्शन रूपी प्रकाश मिलता है।

प्रसिद्ध उद्योगपति स्वर्गीय हेनरो फोर्ड ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि विचारक बनना अत्यन्त कठिन काम है, इसीलिये संसार में विचारकों की संख्या बहुत कम है:—

"Thinking is the hardest work any man Cando, which is probably the reason why we have so a few thinkers." (Mylifewoks)

विचारक कलाकार, साहित्यकार, दार्शनिक व आविष्कारक की जो भी रचना होती है उसमें उसकी वास्तविक मूर्ति छिपी रहती है, जैसे सृष्टि की प्रत्येक वस्तु (रचना) में सृष्टिकर्त्ता की छवि छिपी रहती है जिसके दर्शन से विचारक नित्य तृप्त व संतुष्ट रहता है। क्या सुराही, घड़ा, दीया आदि कुम्हार की रचनाओं में उसकी मूर्ति नहीं दीखती ?

"Every man's work, whether it be literature or music, art or picture or architecture of anything else, is always a portrait of himself." —Samuel Butler

उपरोक्त विचारक ....आदि भाव जो मैंने व्यक्त किया है, ऊपर श्री सेमुअल बटलर ने भी वही यहां स्पष्ट किया है।

अल्पायु में भी जब कोई ज्ञान वृद्धि और यशस्वी बन जाता है, वृद्धावस्था में भी जब कोई नौजवान जैसा उत्साह और पराक्रम दिखाता है तथा इस नश्वर संसार में जब कोई मरकर भी अमरता प्राप्त कर लेता है, तो लोग कहते हैं असाधारण व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति हरएक से गौरव की दृष्टि से देखा जाता है।

संसार में जब तक मनुष्य मान प्रतिष्ठा में विचरण कर रहा है, तभी तक वह जीवित हैं और मान प्रतिष्ठा यदि नहीं रही तो वह जीवन फूटे भाण्डे की तरह बेकार हैं। मान प्रतिष्ठा का एक मात्र अधिकार स्वात्माभिमानी को होता है। स्वात्माभिमानी वह हैं जो भयंकर संकट व बाधा पड़ने पर भी अपने सन्मार्ग से बिचलित नहीं होता। न्याय पथ से कभी भ्रष्ट नहीं होता भारी प्रलोभन भी जिसे डिगा नहीं सकते। प्रबल शत्रु, अन्यायी या नीच के आगे झुकता नहीं (नत मस्तक नहीं होता), चाहे प्राण भले ही चले जांय।

स्वात्माभिमानी यदि सरकारी पद पर है, तो वह सरकारी पद से भी अधिक परमपद का सदैव ध्यान रखता है। वह काष्ठ के पदों पर नहीं अपने पदों पर खड़ा होकर स्वावलम्बन अपनाये हुये, सदैव शिर ऊँचा किये हुये सत्कर्म में जुटा रहता हैं। वह कभी भी, किसी से, अपने कर्त्तव्य कर्म में असावधान हुआ नहीं देखा जाता। लोक मर्यादा की शिक्षा लोग उसी से ग्रहण करते हैं।

स्वात्माभिमानी व्यक्ति निज देश, समाज, कुल और धर्म की रक्षा हेतु प्राणों तक की बाजी लगाने को हर समय तैयार रहता है। इनके सम्मान पर न तो वह स्वयं प्रहार करता हैं और न इन पर किसी के प्रहार को सहन कर सकता हैं। बस इनका गौरव व सुरक्षा ही वह अपना गौरव व सुरक्षा समझता हैं। शत्रु तक ऐसे स्वात्माभिमानी की प्रशंसा किये बिना नही रहता।

लोग इस बात को नहीं देखते कि तुम क्या कर सकते हो, वे तो केवल यह देखते हैं कि तुम क्या कर रहे हो और उसी के अनुसार तुम्हें

तुम्हारी योग्यतानुसार मान व प्रतिष्ठा का उच्चपद दिया जाता है।

"We judge ourselves by what we feel capable of doing, while others judge us by what we have already done."

एक अंग्रेज विचारक।

अर्थात् अपनी योग्यता के सम्बन्ध में हम कोई धारणा उन कार्यों के आधार पर बनाते हैं, जिन्हें हम सोचते हैं कि हम कर सकते हैं, इसके विपरीत दूसरे लोग हमारी परीक्षा उन कार्यों के आधार पर करते हैं, जिन्हें हम स्वयं करके दिखा चुके होते हैं।

सच जानिये आप, लोगों को बड़े २ व्याख्यानों से, बड़े २ आश्वासनों वायदों, दावों, दावतों व अन्य कोई चमत्कार से लोगों को भरमा कर कुछ काल तक अपनी स्वार्थसिद्धि में भले ही सफल हो जांय परन्तु अन्त में तो ढोल की पोल-सत्य और न्याय स्पष्ट सामने आ जाते हैं, जो कितना ही छिपाने पर भी छिप नहीं सकते। प्रभु के घर में देर जरूर है, परन्तु अंधेर नहीं होता।

मनुष्य की एक मात्र कसौटी उसके कार्य होते हैं। उन्हीं से उसका खरा या खोटापन जाँचा जा सकता है। अथवा उसके जीवन की सार्थकता अथवा निरर्थकता की जाँच मनुष्य के शुभकर्मों और कुकर्मों से आँकी जा सकती है।

जीवन ध्येय

खिला चन्द्र सा मुखड़ा उज्ज्वल निर्मल देह बने दिन रैन।
सबके प्रति सद्भाव प्रेम हो पाता रह सुख चैन॥
सत्कर्मों में रुचि अपना मन में रुचिर विचार।
दिल में भूल कभी अपना मत आसक्ति स्वार्थ का प्यार॥
जीव मात्र के हित चिन्तन में जीवन ध्येय बना रहे।
सब स्वस्थ सुखी बलवान्-हृदय 'सियराम' प्रेम में सना रहे॥

ओ३म् तत्सत

घूंट—१६

जीवन में सफलता प्राप्ति हेतु कतिपय साधन

कभी न भुलो कि—

कठिनाई, संकट दु:ख के बाद ही सुख जन्मता हैं। क०

तीक्ष्ण आँच कठोर प्रहार सहने के बाद ही सोना चमकता हैं। क०

बीज जो आज सूखा निस्तेज गतिहीन दिखाई पड़ता है। क०

उपयुक्त वातावरण की गोदी में वही कल उत्तम फल दाई दीखता है। क०

तीव्र प्रसव वेदना के बाद ही सुखद शिशु जन्मता हैं। क०

सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ लेने पर ही अंतिम मंजिल सफलता का पता लगता है। क०

जीवन में सफलता पाने के लिये अपनी कमर को ७ सूत्रों वाली मोटी रस्सी से कसकर बांधकर लक्ष्य की ओर बढ़ो !

सात सूत्रों वाली मोटी रस्सी—

१. हार्दिक लगन, २. उत्कट परिश्रम, ३. स्वार्थ त्याग या आत्म बलिदान, ४. चित्त की प्रसन्नता, ५. निर्भयता, ६. सबके प्रति सद्भाव व प्रेम अपनाना और ७. आत्मविश्वास।

१—हार्दिक लगन

"सियराम लगन मन मोहन पै—
बंशी पै मुग्ध रह्यो मृग ज्यों।"

जीवन में किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यक्ति में ऐसी लगन होनी चाहिये जैसे बंशी धुन सुनते सुनते उसी में मृग अपने को भूल जाता है।

कार्य जो करने उठो उसको करने में ऐसे अपने आप को लगा दो कि कार्य में अपने आप को भूल जाओ, चित्त में कार्य के सिवाय और कुछ न रहे। यदि विचार कर रहे हो तो स्वयं विचार बन जाओ। इस प्रकार यह पहिला सूत्र है।

२—उत्कट परिश्रम

उस दीपक की ओर देखिये। वह अपने प्रकाश को स्थिर रखने के लिये, निरन्तर अपनी बत्ती व तेल को जलाता जा रहा है। उसमें क्षण भर के लिये भी तो गतिरोध नहीं दिखाई देता। ठीक यही बात व्यक्ति पर भी घटती है जो व्यक्ति कार्यरत हो अपने शरीर का तेल जलाते हैं, उत्कट परिश्रम करते हैं, निश्चय ही वे सफल होते हैं।

संसार में संघर्ष ही जीवन है और अकर्मण्यता ही मृत्यु का दूसरा नाम है। जिस दिन इस जीवन में अकर्मण्यता (कर्म के प्रति उदासीनता) आ छा जाय उसी दिन मृत्यु जानो। यहाँ सत्कर्म करते रहना ही स्वर्ग सुख भोग है और कुकर्म रत रहना ही नरक दुःख भोग करना है अथवा कलियुग में निवास जानो।

उधर उस सरोवर और सरिता की ओर दृष्टि कर देखिये। एक स्थिर है तो दूसरा निरन्तर गतिशील। दोनों में बड़ा अन्तर है। एक गन्दला तो दूसरा स्वच्छ निर्मल जल युक्त। सरोवर का जल स्थिर होने से मलिन दुर्गन्ध युक्त, अस्वाद, अनाकर्षक व घृणित हो गया है, जबकि सरिता जल नित्य गतिशील होने से नवीन, आकर्षक, स्वच्छ, स्वादु और जीवों को तृप्तिकारक बना हुआ है तथा निरन्तर नवयोवन की लहरों में एक रूप से प्रवाहित हो रहा है। आज जीवन की सरिता नित्य नवीन नवयोवन की लहरों में रखते हुए ही यहाँ सुख व ताजगी का अनुभव किया जा सकता। किसी प्रकार के गतिरोध से इसमें मलिनता न आ जाय। इसलिये उत्कट परिश्रम करते हुए आगे-आगे बढ़ते रहने का हर समय ध्यान रखना चाहिये। यह सफलता का दूसरा सूत्र है।

३—आत्म बलिदान

सत्य में सफलता प्राप्त्यर्थ गौतम ने राज गद्दी को ठोकर मारकर जंगल का रास्ता अपनाया और कठोर तपस्या के बाद जब सत्य पर विजय प्राप्त करली तब महात्मा बुद्ध बनकर भूले भटके अन्धकार युक्त संसार को नई ज्योति में प्रकाशित किया और उनके बौद्ध-धर्म का लोगों ने सहर्ष अपनाया। इस प्रकार परहित के आत्म बलिदान के असंख्य उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं।

जीवन में महान सफलता प्राप्त करने के लिये हृदय में महान् स्वार्थ त्याग व आत्म बलिदान की भावना अपनानी आवश्यक है। तिल को शुद्ध तैल रूप में होने के लिये ही कोल्हू में अपने को खूब पिसाना पड़ता हैं। तेजस्वी महात्मा बनने के लिये अपने को कठोर नियन्त्रण (तपस्या) की भट्टी में फूंकना पड़ता हैं। एक बीज को एक विशाल वृक्ष बनने के लिये अपने आपको मिटना पड़ता हैं तब जाकर असंख्य फलों से युक्त होकर जीवों को बाँटकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता हैं। इस प्रकार आत्म बलिदान का परिणाम फल होता है। यह सफलता का तीसरा सूत्र हैं।

४—चित्त क़ी प्रसन्नता

"खिला चन्द्रसा मुखड़ा उज्ज्वल निर्मल देह बने दिन रैन।
सबके प्रति सद्‌भाव प्रेम रख पाता रह सुख चैन॥"

इस प्रकार जो मैंने पीछे लिखा, एकमात्र चित्त की प्रसन्नता इसी पर निर्भर है। आप अपनी प्रसन्नता के लिये ही अपनी छोटी सी वाटिका को दिन-रात मेहनत करके सजाते हैं जब यह शरीर व मन निर्दोष होता हैं तो खिले हुए पुष्प की तरह दिखाई देता है, चारों ओर आनन्द ही आनन्द बहता नजर आता हैं।

इसको स्पष्ट आप किसी महात्मा के मुख-मण्डल पर देख सकते हैं, जो सब प्रकार निर्दोंष हैं और जिसके हृदय में प्राणिमात्र के लिये सेवा-भाव व प्रेम दूसरों को देंगे तो वह कई गुना होकर हमको ही मिलेगा।

वह वृहत् प्रकाश घट-घट में व्यापक हो सबको प्रकाशित कर रहा हैं। उसी का एक अंश आप में भी है, उसको निरन्तर प्रकाशित किये रक्खो। आपके खिले हुये मुख कमल को देखकर उदास हृदय भी एक वार तो अवश्य खिल उठेगा। आप मुस्कुराते पुष्प हैं। आप मानवता के मुस्कुराते अंकुर हैं, आप प्रफुल्लता के प्रतीक हैं। मेरी कामना है कि जीवन की अन्तिम घड़ी तक आपका मुख कमल यों ही बराबर खिला रहे। कार्य के लिये कार्य कीजिये। भूत एवं भविष्यत की चिन्ता छोड़ वर्तमान जो तुम्हारे हाथ में हैं उसी में दत्तचित्त होकर कार्य करो—निरन्तर सत्कर्म में अपने जीवनरूपी यन्त्र को उष्ण व उत्साहित किये रहो। इस प्रकार की चित्त-वृत्ति आप हर समय अपनाये रक्खेंगे तो अपने जीवन में आप सफल होकर रहेंगे। यह सफलता का चौथा सूत्र हैं।

५—निर्भयता

'जो डरा सो मरा' यह कहावत सत्य हैं। इसके विषय में विस्तार घूँट १४ को देखिये। जीवन में साहस और निडरता अपनाकर ही आप कठिन से कठिन परिस्थिति पर काबू पा सकते हैं। इस प्रकार यह पांचवां सूत्र हैं।

६—सबके प्रति सद्भाव व प्रेम अपनाना

जैसे आपको अपने प्रति स्नेह व सहानुभूति अपनाने की आदत हैं, ठीक वैसे ही दूसरों के प्रति भी उनको अपनाए रक्खें, तभी जीवन सुखी व आनन्दमय बन सकता हैं। जैसा मैंने पीछे लिखा हैः—

"जीवनमात्र के हित चिन्तन...............।
सब स्वस्थ सुखी बलवान्...............॥"

जब आप किसी को स्नेह देंगे तभी दूसरा भी आप पर स्नेह लुटायगा। एक बीज बोकर आप अनेक फल प्राप्त करते हैं। यह सफलता के लिये छटा सूत्र हैं।

७—आत्म विश्वास

सारी सफलता का मूलाधार ही आत्म निर्भरता एवं आत्म विश्वास है। भगवान् उसी की सहायता करता है, जो स्वयं सहायता करता है। मानव मस्तिष्क में अपार शक्ति उसी अनन्त शक्ति के एक अंश के रूप में है जब सब साथ छोड़ देते हैं, तो आत्म विश्वास ही उसको विजयी बनाता है। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का साथ सबने छोड़ दिया, तो उस दृण आत्म विश्वासी ने अकेले ही 'नन्द वंश समूलोच्छेदन' की अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

इस प्रकार इन ७ सूत्रों को एकत्र कर एक मोटी रस्सी बना कमर में कसकर बांध कर जो अपने लक्ष्य में जुटेगा वह निश्चय ही सफल होकर रहेगा ।

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥"

मेरे विचार में जहां योगेश्वर श्री कृष्ण रूप सुसंयमित व परमार्जित बुद्धि सारथी रूप में, गाण्डीव धनुर्धारी अर्जन रूप प्रवल इच्छा शक्ति और स्वस्थ शरीर रूप रथ एकत्र विराजमान हैं, वही प्रचुर समृद्धि, सुख-सम्पदा और सफलता निश्चित है।

ओ३म् तत्सत्

———

घूंट—१७

जीवन में सुशीलता या साधुता का महत्व

"प्रभो पूरी करो विनती कि जीवन नम्रता युत हो।
न जीऊँ क्षण बिना उसके ए इच्छा सत्यता युत हो॥"

प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने बड़ा सुन्दर कहा है—जो नम्रता से ऊँचे होते हैं, पराये गुण कहकर अपने गुण प्रसिद्ध कर लेते हैं, परोपकार में दत्तचित्त होकर अपना भी हित कर लेते हैं, निन्दक दुर्जनों को भी जो अपनी क्षमा से ही दूषित कर देते हैं। ऐसे विचित्र चरित्र वाले सज्जन गण किसके पूज्य नहीं होते ?"

मनुष्य जब शास्त्रीय नियमानुसार आचरण करता है तो उसे ही विनय या नम्रता कहा जाता है।

"शीलवृत्त फलं श्रुतम्" अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन का फल ही शील है या नम्रता है। ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति नम्र हो जाता है जिस प्रकार फल आने पर वृक्ष झुक जाते हैं।

यदि बाटिका में पुष्प लतायें खिली नही हैं तो उसकी शोभा ही फीकी पड़ जाती हैं। यदि हृदयाकाश बहुत ज्ञान से भी युक्त हो, परन्तु उसमें यदि शान्ति-नम्रता की चन्द्रिका खिली न हो तो उसकी शोभा ही नहीं रह जाती।

"उस उपवन की शोभा से क्या—
जो पुष्प लता से खिली न हो।
उस ज्ञान के हृद नभ छबि से क्या—
जहँ शान्ति चन्द्रिका खिली न हो॥"

सद्गुणशील सदाचारी के लक्षण—

उदारता, शान्ति, दम्भहीनता, मृदुता, सहिष्णुता, प्रिय वादिता,

कृतज्ञता, सौम्यता, प्रेम, विनय, करुणा, सत्कर्मपरायणता और बाहर भीतर की एकरसता व सरलता देखी जाती है।

एक फारसी कवि ने विनयी या सुशील को ही भाग्यवान् कहा है और दुर्विनीति या अशिष्ट को भाग्यहीन कहा है—

"बा अदब बा नसीब, वे अदब वे नसीब"

मनुष्य का यदि सबसे बड़ा भूषण कुछ कहा जाय तो वह एकमात्र शील ही है, जिसको धारण करने से लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं।

"शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम्"

शीलवान् ठीक उस फूलदार वृक्ष के समान है जो फल आने पर झुक जाता है और झुक कर अपने फलों को दूसरों की भलाई में बाँट देता है। इसी प्रकार साधु या सुशील सदैव सबसे झुका हुआ चलता है और सत्कर्म से उपार्जित अपने फलों को निष्काम भाव से लोक हित में बाँट देता है। शील के कारण ही मनुष्य का व्यक्तित्व भारी होता है और उसके बिना वह खाली होता है।

"व्यक्तित्व वह किस काम का सद्‌गुण सुशील न जिसमें है।
रथचक्र भी वह व्यर्थ जानो बीच कील न जिसमें है॥"

लोक में बिचरते हुये, लोक जीवन की विभूतियाँ एक मात्र बिनम्रता अपना कर ही सुलभ हुआ करती है। सुनीति ने अपने पुत्र ध्रुव को सुनीति का उपदेश देते हुए कहा था—

"सुशीलोभव धर्मात्मामैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नयथायः प्रवणाः पात्रमायान्तिसम्पदः॥"

ऐ पुत्र तू सुशील, धर्मात्मा, सबका मित्र और प्राणिमात्र का हितैषी बन, क्योंकि जिस प्रकार जल स्वभावतः नीचे भूमि की ओर ढुलकता हुआ पात्र में आ जाता है। उसी प्रकार लोक सम्पतियाँ सत्पात्र मनुष्य के पास स्वतः आ ठहरती है। विद्वान होते हुए जो विनम्र नहीं वह सत्पात्र नहीं कहा जाता और जब तक सत्पात्र नहीं जब तक उसमें अन्य लोक सम्पतियाँ कैसे आ सकती हैं?

स्तुति, प्रार्थना जप ध्यान आदि साधन सब विनम्रता के ही अंग हैं। अपने से बड़े के सामने अपने को बिल्कुल छोटा व नम्र सिद्ध करना है। इसी से बड़ा प्रसन्न होकर छोटे (विनम्र) की इच्छा पूर्ण करता है। आप देखते हैं कि वह विनम्रता कितनी बड़ी चीज है कि भगवान् भी उसमें प्रसन्न होकर भक्त को मन चाहा वरदान देते हैं।

"एक तेरे सामने ही सिर झुका
सिर सभी के सामने ऊँचा रहा।"

(हरिऔध)

संसार के प्रसिद्ध दार्शनिक हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री राधाकृष्ण जी ने एकबार कहा था—"व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन के बिना हमारी स्वतन्त्रता एक स्वप्न की चीज बन कर रह जाती है।"

सुशीलता के बिना अनुशासन कोई अर्थ नही रखता। उसके बिना पारस्परिक एकता व प्रेम कैसे सम्भव है। क्रूरता से क्रूरता को ही बढ़ावा मिलता है और सहृदयता से सहृदयता को, यह संसार का नियम है।

"यदन्यै विहितं नेच्छे दात्मनः कर्मपूरुषः।
नतत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः॥"

(महाभारत)

महाभारत में भगवान् व्यास ने कहा है कि मनुष्य अपने लिये अन्य व्यक्तियों के द्वारा जिस कार्य का किया जाना नहीं चाहता, दूसरों के लिये उसे स्वयं भी वैसा कार्य नहीं करना चाहिये - बस यही सज्जनों का सनातन धर्म है शिष्टाचार से ही सौजन्यता का विकास होता है। इसी के द्वारा मनुष्य दूसरों के हृदय को जीत लेता है जिससे दूसरे लोग उस पर अपना तन मन धन न्योछावर करने को हर समय तैयार रहते हैं। महात्मा गांधी तभी तो सबके पूज्य बापू कहलाये।

परन्तु आज के भारत में विनम्रता व शिष्टता का तो नाम ही मिटता दीख रहा है। दिनों दिन क्रूरता, दुष्टता, स्वेच्छाचारिता और स्वार्थता का बोल बाला बढ़ता जा रहा है जिससे भ्रष्टाचार और अव्यवस्था का वातावरण चारों ओर छाया है। जनता दुःखी व संत्रस्त हो त्राहि

त्राहि पुकार रही हैं। आज के भारत का चित्रण मैंने २१ वर्ष पूर्व अपनी सन् १९४७ की रचना 'योवनामृत' में " भारत दशा और अववोघन" शीर्षक में किया था—

"जग के सुसज्जित भाल में भारत रहा मणि तुल्य था।
सबका प्रशंसागार जगमग रत्न वो बहुमूल्य था॥
हाहन्त ! सहसा घूल अवनति आन यह कैसे गिरी।
दुर्भाग्य की मानो पवन आरोप में जैसे फिरी॥
+ + + +
+ + + +
+ + + + "

सुशीलता के उल्लंघन से जो अमर्यादित जीवन, अशान्ति, भ्रष्टाचार नानाविध दुःख व संकट और सर्वनाश की ओर बढ़ रहा है वह प्रत्यक्ष चारों ओर देखा जा रहा है और यहाँ तक कि अन्धे व्यक्ति भी अनुभव करने लगे हैं। शिष्टाचार का स्थान भ्रष्टाचार की चादर से ढक गया है। पूज्य बाबू ने एक बार कहा था—

"मनमें जो आवेग उठे उसी के बशीभूत होकर आचरण करने लग जाना हमें पश्चिमी सभ्यता सिखाती है। हमारी सभ्यता तो मन को सुसंयत करके मर्यादित आचरण का पाठ पढ़ाती है। फैशन परस्ती, बाहरी आडम्बर में दुर्गुण हमें पश्चिमी सभ्यता से मिले हैं। इन्हें सर्वथा त्याग कर अपनी भारतीय सभ्यता का सादा रहन सहन और उच्च विचार अपनाने का जीवन ग्रहण करना होगा। तभी हमारा राष्ट्र उन्नति कर सकता है। आत्मसंयम हमारी भारतीय सभ्यता में प्रथम गिना गया है, क्योंकि उसी में भविष्य जीवन का महल हम खड़ा कर सकते हैं, बिना उसके नये भारत का निर्माण असम्भव है।"

आज बापू का नया भारत का निर्माण २१ वर्ष बाद भी स्वतन्त्र भारत में स्वप्न में भी तो अब नहीं, कहीं दिखाई दे रहा है। अब तो उसका नस्तित्व भी सन्देह ग्रस्त हुआ दीखता है। यह सब कुछ अपनी सभ्यता अपने

धर्म से विमुख होने से परिणाम रूप में राष्ट्र को भोगना पड़ रहा है। महात्मा व्यास ने कहा है:—

"शिष्टाचारा महात्मानोयेषा—धर्मः सुनिश्चितः।" जिनका धर्म निश्चित होता है, वे महात्मा शिष्टाचारी होते हैं।

"शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्य धर्ममनुव्रताः।"

और जो धर्म के अनुसार चलते हैं वे नित्य शिष्टाचारी होते हैं।"

जो निरन्तर सत्कर्मरत हैं, जितेन्द्रिय हैं वे ही सुशील भी होते हैं। ऐसे लोग देशकाल परिस्थिति के अनुसार ही आचरण करते हैं।

"देशकाल प्रमाणज्ञ युक्तिज्ञ मनहं कृतम्।
शस्ताचारमसंकीर्णं मध्यात्म प्रवणेन्द्रियम्॥"

शीलवान् कभी भी अहंकार नहीं करता। अहंकारी कभी भी शीलवान् नहीं कहा जा सकता। अहंकार मनुष्य में घोर सन्निपात की तरह ही है। सन्निपात ज्वररूपी अग्नि में वह व्यक्ति स्वयं तो जलता ही है, किन्तु सम्पर्क में आने वाले पास पड़ोसियों को भी जलाता है।

सुशील ही सहिष्णु भी होता है। वह कभी किसी बात या घटना से चिढ़ता या घबराता नहीं बल्कि धैर्य से सामना करता हुआ अपने सन्मार्ग पर आगे-आगे चलता जाता है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा है:—

"The test of good manners, is to be able to put up pleasantly with bad ones."

यह कि बुरे व्यक्तियों के साथ भी रह लेना प्रसन्नता पूर्वक (दुष्टों के बीच में रहकर सुशील को उनके बुरे आचरण सहते हुए भी हँसी खुशी से रहना पड़ता है। उनके नाना प्रकार के दुष्ट व्यवहार को भी वह प्रसन्नता पूर्वक झेल लेता है) सुशीलता या शिष्टता का प्रमाण है।

दुष्टों के बीच में, अपनी मर्यादा बनाये रखना और प्रसन्नचित्तता कायम किये रहना एकमात्र सुशील व्यक्ति का ही काम है। क्योंकि उसमें दुष्टों के बजाय कष्ट सहिष्णुता, दया, स्नेह, क्षमा आदि विशेष दैवी गुण होते है जो दुष्टता के राक्षस में भूलकर भी नहीं देखे जाते।

"मेरे विचार में तो संसार के सुन्दर पदार्थ व प्राणी, वृक्ष, लता, क्षुप, धान्य आदि जो स्वभाव से मृदु हों, क्रूरता के बजाय स्निग्धता जिनमें अधिक हो—वे ही अधिक आयु वाले, अधिक कष्ट सहनशील और अधिक जीवनीय तत्व लिये होते हैं। रोग, भय, संकट, बाधा, प्रहार आदि को वे ही आसानी से झेल सकते हैं। उनपर भीषण प्रहार होने पर भी वे मर्यादित रहते हैं। धातुओं में स्वर्ण को लीजिये वह कितना मृदु होता है और कितना ही कठोर प्रहार होने पर भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता और कितना ही पुराना होने पर भी जंक आदि से सुरक्षित रहता है। क्षुपों में बेंत को लीजिये, लताओं में गुडूची को लीजिये, तृणों में दूर्वा को देखिये वह कितनी सहनशील और दीर्घायु होती है बार-बार निर्मूल करने पर भी फिर उग आती है और बाढ़ आदि के भीषण प्रहार से ही फिर ज्यों की त्यों हो जाती है। पशुओं में गाय को लीजिये वह कितनी मृदु स्वभाव की होती है और तमाम जीवनीय तत्वों से युक्त दूध देती है इसलिये आयुर्वेद में गोदुग्ध सर्व-श्रेष्ठ और रसायन माना है। वृक्षों में वट-वृक्ष कितना कष्ट व प्रहार सहन-शील होता है भयङ्कर से भयङ्कर आँधी तूफानों में भी सुरक्षित रहता है। वट-पत्र, फल, जटा और क्षीर का आयुर्वेद में विविध रोगों पर सफल औषधि रूप में प्रयोग किया जाता है। वट-वृक्ष की आयु भी वृक्षों में सबसे बड़ी होती है। जीवों में मस्तिष्क का गूदा कितना मृदु होता है इसी से वह अपार शक्ति सम्पन्न है उसी के कारण आज मानव अन्तरिक्ष की खोज में नाना प्रकार के प्रयोगों में सफल हो रहा है।

सुन्दरता व नम्रता में ही सब शक्ति संचित है और इसीलिये उसकी इस चुम्बकीय शक्ति से बाहरी अन्य शक्तियाँ भी उसकी ओर आकर्षित होती हैं। क्या किसी सज्जन का एक क्षण का भी सत्संग मनुष्य में परिवर्तन नहीं ला देता? उसके मृदु सद्भाव से दुःखी भारी हृदय भी हलका क्या नहीं होता?

मनुष्य के दुष्ट व क्रूर व्यवहार व विचार ही उसके हृदय को भारी रूक्ष व असहिष्णु बना देते हैं, उसके अन्दर की स्निग्धता समाप्त हो जाती है जिससे वह थोड़ा सा संकट व प्रहार झेलने में असमर्थ हो जाता है याने

बर्दाश्त करने की क्षमता दुर्बल पड़ जाती है। रूक्ष लकड़ी, भाण्डा व अन्य पदार्थ जरा से प्रहार पड़ने पर तड़क जाते हैं। ठीक क्रूर हृदय की भी यही दशा होती है। मृदुता, सद्विचार व जीवनीय तत्वों की कमी से मनुष्य का हृदय रूक्ष व भारी हो जाता है और स्निग्धता समाप्त हो जाती है। जिस मशीन के पुर्जों में स्निग्धता का तैल समय पर नहीं दिया जाता वह मशीन जल्दी जबाब दे देती है। आज जो अल्पायु मृत्यु संख्या बढ़ती जा रही हैं, उसका प्रधान कारण मेरी समझ में स्निग्धता का अभाव या कमी ही है। एक प्रकार से जीवनीय तत्वों में स्निग्धता का अंश प्रधान है जो मनुष्य में रसायन का काम करता है अर्थात् रोग आक्रमण को रोकना, शरीर को स्वस्थ और दीर्घायु बनाना ही रसायन द्रव्यों व विचार का काम होता है। इसीलिये आयुर्वेद में कहा गया है:—

"घृत क्षीर परम रक्षायनानाम्।" अर्थात् रसायन द्रव्यों में घृत और दूध सर्वश्रेष्ठ हैं। यह बात नहीं कि द्रव्य ही रसायन काम देते हैं। द्रव्यों के साथ-साथ यदि सद्भाव व विचार भी अपना ले तो सोने में सुगन्धि ही जानो।

मनुष्य के लिए वास्तविक जीवन रसायन।

"सत्यवादिनम क्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसक मनायासं प्रशान्तं प्रिय वादिनम्॥
जप शौच परं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देव गो ब्राह्मणाचार्य गुरु वृद्धार्चनेरतम्॥
आनृशंस्य परं नित्यं नित्यं करुण वेदिनम्।
सम जागरण स्वप्नं नित्यं क्षीर घृताशिनम्॥
देशकाल प्रमाणज्ञ युक्तिज्ञमनहं कृतम्।
शस्ताचारमसं कीर्णमध्यात्म प्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धा ना मास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्र परं विद्यान्नर नित्य रसायनम्॥"

गुणैरेतैः समुदितं प्रयुक्ते यो रसायनम् ।
रसायन गुणान्सर्वान्यथोक्तान्सः समश्नुते ॥

इन सब बातों का प्रयोजन जीवन को सुशील या स्निग्ध बनाना है जिससे जीवन रोगसम रह कर सुखपूर्वक दीर्घायु प्राप्त कर सके । शरीर में रूक्ष द्रव्यों व भावों के अपनाने से धमनियाँ कठोर पड़ जाती हैं या धमनी काठिन्य रोग हो जाता है जो वृद्धा अवस्था को शीघ्र लाकर मनुष्य को अल्पआयु बना देता है । इसी लिए जीवन में सुशीलता स्निग्धता या मृदुता ही जीवन रक्षक के साथ साथ दीर्घायु कारक भी है । जो मशीन सदैव शुद्ध रखी जाती है, पेज पुर्जो (अंग प्रत्यंगों) को तैल (स्नेह) से स्निग्धि रखा जाता हैं, उसे दीर्घ समय तक चलते या काम करते केवल नेत्र हीन व्यक्ति ही नहीं देख सकता ।

सद्विचारों में मृदुता या स्निग्धता होने से ही वे शरीर को स्निग्ध बनाये रखते हैं ! क्रोध, अहंकार, हिंसा आदि क्रूर भावों से शरीर में धमनी काठिन्य बढ़ने के साथ साथ रक्ष में एक प्रकार का विष भी पैदा होता है, जिसके कारण कभी-कभी घातक परिणाम देखे जाते हैं । इन क्रूर विचारों के अपनाने से शरीर की स्निग्धता कम पड़कर धमनी काठिन्य हो जाता है जो वृद्धावस्था को जल्दी बुला देता हैं ।

आप देखते हैं स्वर्णस्निग्ध मृदु और सुन्दर होने से धातुओं में अधिक मूल्यवान गिना जाता है और इसीलिये आभूषणों में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है इसी प्रकार मनुष्य में स्निग्धा, मृदुता या सुशीलता आने से वह मूल्यवान बन जाता है और इसीलिए सब उसकी विशेष कदर करने लगते हैं। सुशील होते ही मनुष्य में अन्य अनेक सदगुण अपने आप ही आ जाते हैं ।

सुशीलता या साधुता विशेष होने से ही महात्मा लोग विशेष सम्मान के पात्र होने के साथ साथ विशेष ओजस्वी और दीर्घायु होते हैं ।

व्यक्ति चाहे किसी व्यवसाय को उसमें सुशीलता आने से वह नमक जाता है और मूल्यवान हो जाता है एवं अपने व्यवसाय में भी सफल होकर रहता है । लेखक में यदि मृदुता नहीं, तो न वह सुन्दर प्रभावशाली रचना

कर सकता है न वह लेखनकला में सफल ही हो सकता है। चिकित्सक में यदि यह गुण नहीं तो वह रोगियों का प्रेम भाजन कैसे बन सकता है ? और बिना प्रेम भाजन हुए व चिकित्सा में सफल भी कैसे हो सकता है ? इत्यादि। मृदुता या सुशीलता आने से कोई वस्तु मूल्यवान व सुन्दर हो सकती है।

(लेखक के मौलिक विचार)

सुशीलता की विशेषता —

बहुत पहिले की बात है। मृत्यु से पहिले एक महात्मा ने अपने शिष्य से कहा—

'देखो मेरी जीभ मुँह के भीतर है कि नहीं ?' शिष्य ने देख कर उत्तर दिया—'हां अन्दर ही है।'

महात्मा ने फिर कहा—'अब मेरे मुँह के अन्दर देख के बताओ कि मुँह के अन्दर दांत भी हैं या नहीं।'

शिष्य ने देख कर कहा—'गुरुजी दांत तो एक भी नहीं दिखाई देता।'

महात्मा ने फिर शिष्य से कहा—

'तुम बता सकते हो कि जीभ अभी तक अपने स्थान पर क्यों बनी हुई हैं, जबकि दाँत सब उखड़ गये हैं।

शिष्य ने उत्तर दिया—'गुरुजी मैं तो नहीं बता सकता ! आप ही कृपाकर बता दीजिए।' तब महात्मा मुस्कराते हुए बोले—'देखो जीभ सरस और कोमल होती है, इसीलिए अधिक समय तक टिकी हुई है, प्रत्युत दांत नीरस, क्रूर व कठोर होते हैं, इसीलिए शीघ्र उनका अस्तित्व मिट जाता है जल्दी उखड़ जाते हैं।'

इस उपरोक्त दृष्टान्त से मेरे ऊपर कथित मौलिक विचारों की सत्यता की पुष्टि होती है और सुहृद पाठकों के इस सम्बन्ध में उठा हुआ कोई भी सन्देह दूर हो जाता है।

मनुष्य के सद्भाव, सद्व्यवहार और साधुता ही उसे सुख, शान्ति और उच्चगति को प्राप्त करा सकते हैं।

"दानं दरिद्रस्य विभो क्षमत्वं,
यूनां तपो ज्ञानवतां च मौनम् ।
इच्छा निवृत्तिश्च सुखोचितनां,
दयाच भुतेषु दिवं नयन्ति ।।"

(पद्मपुराण)

दरिद्र को दान सामर्थ्यवान की क्षमा, युवकों का संयम, ज्ञानियों का मौन, सुख भोगने के योग्य पुरुषों की स्वेच्छा निवृत्ति तथा जीवमात्र पर दया—ये सद्गुण मनुष्य को स्वर्ग में ले जाते हैं ।

स्वभाव से विनम्र होने पर मनुष्य में अन्य सभी दैवी गुण—उदारता, श्रद्धा, धैर्य, शान्ति, सहिष्णुता, मृदु भाषिता, सरसता आदि स्वतः आ जाते हैं । वह अपने से छोटों के प्रति एवं दुष्टों के प्रति भी विनम्र ही रहता है और उनसे भी प्रेम व सदभाव रखता है, यहाँ तक कि अपने शत्रु के प्रति भी उसके हृदय में प्रेम और सदभावना होते हैं किसी प्रकार की द्वेष भावना नहीं होती । वह सदैव अपने व्यक्तित्व में बाहर भीतर एक रूप हो रहता है ।

"वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेश वाग्बुद्धि सारूप्यं आचरन्विचरेदिह ।।"

(मनु०)

अर्थात् आयु, क्रिया, धन, विद्या और कुल—इनके अनुरूप ही वेष-भूषा, वाणी और बुद्धि रखता हुआ संसार में चलना चाहिये ।"

साधु या सुशील कोई सम्मान पाकर भी बौखलाते नहीं, न अपमान से खिन्न ही होता है, वह सदैव एकरूप हो विचरता है । निरन्तर सत्कर्म में जुटा रहता है । वह कभी भी फलों के पीछे दौड़ता नहीं देखा जाता । जो काम उसे सोंपा जाता है उसी में वह ईमानदारी से चलना अपना कर्त्तव्य समझता है । बस ऐसे सज्जनों की ही सभ्य समाज आदर करता है ।

यह प्रायः देखा जाता है कि बहुत से लोग छोटी-छोटी बातों से भी खीज या चिढ़कर बड़ी-बड़ी बातें झाड़ने लगते हैं और शिष्टता भूल जाते हैं, इससे उनकी दुर्जनता ही प्रकट होती है । ऐसे लोग ही सामाजिक वातावरण

को दूषित व अशान्त बना देते हैं और निर्दोष लोगों को भी परेशानी में डाल देते हैं।

आज के युग में प्रतिष्ठित समाज में व्यवहार की सरसता पर विशेष जोर दिया जाता है। वास्तव में व्यावहारिक सरसता तो यह है कि मनुष्य मन वचन कर्म से किसी प्रकार की कटुता न उत्पन्न करे। मनुष्य को विनम्र रहकर निन्दा प्रशंसा से अपने को बचाये रखना जरूरी है।

मनुष्य को सदैव अपने में सद्गुणों के फल लिये हुये आम की डाली की तरह झुका रहकर ही लोक में विचरना चाहिये—

"झुका रह सदगुणों के फल—
लिये ज्यों आम की डारी।
मधुरता नम्रता जिनकी—
जवां पर सबकी हो प्यारी॥
कोई भी जीव जो आवे—
निकट, कुछ लाभ ले जावे।
खुशी में कामना दिल की—
तुम्हें सदभाव दे जावे॥
जनम अनमोल पाकर जो—
न यों इस मर्म को समझा।
रहा पशु योनि की नांई—
न मानव धर्म को समझा॥"

(लेखक)

मनुष्य को बोलने में ही नहीं लिखने में भी मधुरता, सरसता और साधुता की भावना अपनानी चाहिए। कटु व्यवहार का फल बुरा ही होता है कटुता को मधुरता से मिटाओ। कड़वी चीज खाकर मुख की कटुता को मिटाने के लिए मिठाई खानी पड़ती है।

मनुष्य की, बचन व्यवहार की सरलता व्यावहारिक जीवन को मधुर और सफल बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध होती है। सरलता अर्थ सच्चाई है।

जिस प्रकार हमरे अन्दर सच्ची आत्मा हैं वह सदैव हमें हर एक काम के लिए सच्ची सलाह देती हैं। बस उसकी सच्ची सलाह पर चल कर ही हम अपने जीवन में सच्चाई का व्यवहार कर सुखी रह सकते हैं और दूसरों को भी सुख पहुँचाने में कुछ सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यही सरलता या सच्चाई वरतना मनुष्य का धर्म हैं।

जीवन की सरलता—मन बचन कर्म से सद् व्यवहार में रत रहना या सचचाई का पालन करना ही जीवन की एक मात्र सरलता है। आपने देखा होगा कि सज्जनों का रहन सहज आकार प्रकार वाद विवाद सदैव ही सीधा सादा होता हैं, उनमें बाहर भीतर की एकरसता ओत प्रोत रहती है।

लौकिक शिष्टाचार में असावधानी हानि कारक होती हैं। सज्जन छोटे से छोटे व्यक्ति के सम्मान का भी ध्यान रखते हैं अर्थात् उनका कोई भी काम ऐसा नहीं होता जिससे एक छोटे से व्यक्ति के आत्म सम्मान को ठेस पहुँचे। सज्जन कभी भी दूसरों के काम में हस्तक्षेप नहीं करते, वे कभी भी दूसरों की गुप्त बातें जानने की कोशिश नहीं करते। एक छोटे से व्यक्ति के पत्रोत्तर देने में भी कभी प्रमाद नहीं दिखाते।

मनुष्य को बड़ा बनने के लिए छोटा तृण दूर्वा (दूब जो देवताओं पर चढ़ाई जाती हैं) बनाना जरूरी हैं और अपनी छोटी २ स्वार्थ वृत्तियों को त्यागना होता है, तभी वह बड़ा बनकर दूसरों का पूज्य हो सकता है।

Good manners are made up of petty sacrifices.

कुछ न कुछ आत्म त्याग से शिष्टाचार सम्पन्न होता है। प्राचीन भारतियों की आयु शक्ति ज्ञान और श्रेष्ठता के तुलना में आज के भारतीय की स्वेच्छा चारिता के कारण उत्पन्न पतितावस्था, रोग शोक व अल्पआयु से आपूरित देख कर स्वामी विवेकानन्द ने प्राचीन भारतीयों की शौर्य शक्ति और आधुनिक भारतियों का आत्मविनाशी दौर्बल्य स्पष्ट करते हुए एक बार कहा था—

जिस जाति की सिंह गर्जना से सातों समुद्र विचलित हो उठते थे, जिस जाति भृकुटि संकोचन से चारों दिशाएँ काँप उठती थी—उस जाति ने शक्ति

बीज ब्रह्मचर्य का परि त्याग कर आज सियारों की सी अधम और निन्दनीय जिन्दगी अख्त्यार कर ली है, यह कितनी दुःख की बात है ।

(स्वामी विवेकानन्द)

ब्रह्मचर्य व संयम से ही मनुष्य में सारी शक्ति निहित है । असली स्निग्धा या सुशीलता ब्रह्मचर्य व संयम नियम बद्धता से ही मनुष्य को प्राप्त होती है । महात्माओं के मुख कमल के चारों ओर जो ओज का मण्डल दिखाई देता है वह एक मात्र परिपक्व ब्रह्मचर्य का ही परिणाम होता है ।

भगवान धन्वन्तरि जब सम्पूर्ण आयुर्वेद का उपदेश अपने शिष्यों को दे चुके तो शिष्य मण्डली भगवान् से पूछती है—

भगवन् ! आपने सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र का हमें उपदेश दिया और प्रत्येक रोग के लिए विविध उपचार व औषधियाँ बताई परन्तु हमारी तृप्ति के लिए एक ही उपाय ऐसा बताइये जिससे मृत्यु व्यादि और जरा पर हम नियन्त्रण कर सकने में समर्थ हों ।

इस पर भगवान धन्वन्तरि कहते हैं—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षये ह्यस्य बहून्रोगान्मरणं वा नियच्छति ।।
मृत्यु व्याधि जरानाशी पीयूषं परमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के रक्षण से ही मनुष्य में शक्ति बढ़कर बलवान होकर सभी शत्रु रोग जरा और मृत्यु से रक्षित हो सकता है ।

ब्रह्मचर्य का सूक्ष्म अर्थ ब्रह्म में सब शक्तियों का चरना जिससे वह वाड़ तोड़कर विषय वासनाओं को चरने न चली जाँय । ब्रह्म में हर समय चित्त जमाने से हम ब्रह्मचर्य की रक्षा कर सकते हैं और अपने को विषय वासनाओं के उत्पात से बचाने में समर्थ हो सकते हैं । सब दैवीगुणों की खानि वही एक ब्रह्म या ईश्वर है । जो उसकी उपासना करता है खजाने की चाबी उसी के लिए खुलती हैं । अति विनम्र होकर भक्त ही भगवान् की दैवी संपत्ति को प्रार्थना द्वारा प्राप्त कर सकता है ।

शीलवान् में जो श्रद्धा भक्ति होती है उसी से वह मृदु बना रहता है। उसका चरित्र मर्यादित होता है। श्रद्धा भक्ति से भगवान की जो पूजा की जाती है, उससे उसका स्वभाव संयत और अति नम्र बन जाता है। इस प्रकार भगवान की उपासना से मनुष्य के स्वभाव की उच्छृंखलता और उद्दण्डता दूर होकर वह विशेष सुशील, विनम्र और सुसंयत हो जाता है। यही भाव व्यक्ति में अपने से बड़े गुरुजनों, आस्तिकों और वृद्धों के प्रति अपनाने से आता है। एक प्रकार से हम जिसकी भी उपासना करते हैं उसके सदृश ही सब गुण व आकार प्रकार हमारा बन जाता है।

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

अपनी भावना के अनुकूल ही मनुष्य बन भी जाता है।

उस सबको प्रकाशित करने वाले प्रभुनाम ज्योति का हम ध्यान करेंगे या उपासना करेंगे तो निश्चय हम भी प्रकाशित हो जायेंगे—

"प्रकाशित नाम ईश्वर का स्वयं को ले प्रकाशित कर।
सही बलवित्त अपनाकर हृदय की ज्योति जागृत कर॥
जगत्-सर्वत्र व्यापक जो अन्धेरा दूर करता है।
उसी सूरज को अपना तू! कहीं औ क्यों भटकता है॥
स्वयं की छोड़ कस्तूरी भटकता ढूँढता बाहर।
अरे मृग! देख तो भीतर! हृदय की दृष्टि अपना कर॥
हरेक घट तृण व कण अणु में विराजत औ सुशोभित हो—
रही 'सियाराय' की माया जहां भर में प्रकाशित हो—

ॐ तत्सत

घूंट १८

जीवन में सदाचार का महत्त्व !

An illeterate with the strength of character is far better than a thousand of M. As with normal backbone. (Shri Valre—K. Kalpataru volume 30, Devaluation of the devalued character, P. 214)

अर्थात् ऐसे हजारों डिग्री धारियों से (जो चारित्रिक मेरुदण्ड से रहित हों) एक अनपढ़ किंतु सचरित्र व्यक्ति ही अति श्रेष्ठ है।

आज असदाचार के कारण चारों ओर देश में डकैती, चोरी, धोखा-धड़ी, हत्या, लूटमार, आगजनी, चोर बाजारी, वस्तुओं मिलावट, महँगाई, दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव एवं मानव के सभी क्लेशों का लगातार विस्तार होता जा रहा है, राष्ट्रीय संपत्ति बेरहमी से नष्ट की जारही है। और जब इन अपराधों तथा जघन्य कुकृत्यों का भण्डाफोड़ होता है तो पता चलता है कि ये सब आज के शिक्षित कहे जाने वाले महानुभावों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु किये जाते हैं।

जहां हमारे यहाँ प्राचीन काल में अध्ययन व अध्यापन में सदाचार को ही प्रमुख स्थान प्राप्त था, वहाँ आज जो शिक्षा दी जाती है, उसमें सदाचार का नाम मात्र रह गया है। यह बड़े दुःख की बात है और सारे राष्ट्र के लिये आज हानि प्रद व घातक सिद्ध हो रही है। जो सदाचार जीवन रूपी विशाल गृह की बुनियाद है, वही निर्बल हो गया है तो वह विशाल गृह कैसे शक्तिशाली रह सकता है और तब वह दीर्घायु व स्वस्थ भी कैसे रह सकता है ?

आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा में विद्यार्थियों का कम से कम एक चौथाई समय शिक्षण संस्थानों में सदाचार व धार्मिक पठन-

पाठन पर खर्च किया जाता और परीक्षाओं में भी ३० प्रतिशत मार्क (नम्बर) इसी के लिये रक्खे जाते। जो विद्यार्थी इस धार्मिक व सदाचार शिक्षा परीक्षा में अनुत्तीर्ण हों उनको किसी प्रकार उत्तीर्ण न किया जाय जब तक कि वह पुन: अपने आचरण में पर्याप्त सुधार नहीं दिखाता।

राष्ट्र की वर्तमान विनाशोन्मुख दशा देख कर ही 'भारतीय राजनीतिज्ञों को सम्बोधित करते हुये एक कवि कहता है—

ऐ भारतीय राजनीतिज्ञो।

"क्या तुम जनता को रोटी देकर संतुष्ट कर सकते हो ?
या दुकानों में चावल के ढेर के ढेर रखकर;
जबकि भूख है राष्ट्र को, सुव्यवस्थित शासन और शान्ति की,

इस लिये अपने इस पागलपन को अभी छोडों अपने थोते वायदे और व्यर्थ की कौवों की सी कांव-कांव को। बच्चों की तरह न बनो, उनकी सी स्वार्थमय वृत्तियों को छोड़ो, (जैसे बच्चे केवल अपने स्वार्थ के लिये ही दूसरों से लड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार आज के राजनीतिज्ञों के व्यवहार देखे जा रहे हैं वे अपने स्वार्थ के आगे राष्ट्र हित की अन देखी कर रहे हैं।)

तुम बच्चे नहीं हो, बुद्धिमान और शिक्षित व्यक्ति की तरह आचरण करो, और राष्ट्र को विनाश से बचाओ

आज जो राष्ट्र पर यह घातक फोड़ा उठ खड़ा हुआ है, इसको सम्पूर्ण शरीर को ही नष्ट करके छोड़ेगा।

याद रखो यह घर है ! यह प्रियप्राचीन मातृभूमि Not by bread a lone can you satisfy; Or by heaping rice in the merket place, the land is hungry for order & a little peace; So quit this madness now and all these vulgar brawl Be Not like children, leave their peevish ways, But act like o man and Save the Country from chaos.

Cut this Cancer out before it spreads and Kills.
Remember This is home, this dear ancient land.

Anna thomas.

The Sunday Standard 29. X. 67

शास्त्र कहता है —

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो ।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।।
अक्रोधस्तपसः क्षमाप्रभवितु र्धर्मस्य निर्व्याजता ।
सर्वेषामपिसर्वं कारणमिदं शीलं परं भूषणम् ।।

(भर्तृहरि)

ऐश्वर्य की शोभा सज्जनता है, शूर की शोभा कम बोलना है, ज्ञान की शोभा शान्ति है, शास्त्राध्ययन की नम्रता, धन की शोभा सत्पात्र को दान देना है, तप की शोभा क्रोध न करना है, सामर्थ्य की शोभा क्षमा, धर्म की शोभा दम्भहीनता और सब की शोभासुशीलता है जो सभी सदगुणों की कारण है ।

विना नैतिक आचरण के जीवन अर्थ हीन हो जाता है । इसलिये जीवन में नैतिकता का बड़ा महत्व है । इस संसार में जन्म लेकर हमारा किसके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये, सबके साथ कैसा आचरण करना चाहिये विशेष स्थिति आ जाने पर हमें कैसा बन जाना चाहिये या कैसा व्यवहार करना चाहिये—विना इन बातों के जाने हम जीवन में भली भाँति आगे नहीं बढ़ सकते, न कहीं आदर ही पा सकते हैं और न सुख पूर्वक जीवन में आत्मसंतोष ही प्राप्त कर सकते है ।

सच्चरित्रता, सदाचारिता, सरलता, शालीनता, निरभिमानता, सुशीलता आदि शब्द नैतिकता के ही घोतक हैं ।

नैतिकता एक निरभिमान भाव—

इस भाव से सर्व व्यापक प्रभु की रची हुई सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में सदभाव अपनाना है । उस सर्वश्रेष्ठ की बनाई हुई किसी वस्तु की निन्दा

करना है प्रकारान्तर से उसी की निन्दा करना है। अतः वास्तविक प्रभुभक्त जड़ चेतन सभी की वन्दना कर उनकी सहानुभूति व अनुकूल्य प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझता है।

अपने पूज्य के प्रति आदर भाव एवं अपने प्रति निरभिमानता। अपने स्वामी का किसी भी रूप में कृपा भाजन बनने के लिये उसके सम्मुख निरभिमानी रहना जगत का एक व्यवहारिक सत्य है।

समाज में रहते हुऐ मानापमान का भाव अत्याज्य है। बिना बुलाये किसी के यहाँ जाना अपना अपमान करना है।

नैतिकता एक प्रकार से सामाजिक अनुशासन भी है जिसके बिना समाज में कोई भी कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता। विद्यार्थियों को जो किसी भी शिक्षण संस्था में पढ़ते हों, इस बात से शिक्षा मिलती है कि पाठशाला में आने एवं जाने पर अपने गुरुजनों को हाथ जोड़ कर प्रणाम अवश्य करें। नैतिकता के साथ संस्था के अनुशासन की दृष्टि से भी यह एक अत्यन्त आवश्यक नियम है, इसके पालन से संस्था की भी मान मर्यादा बढ़ती है।

नैतिकता एक सापेक्षिक गुण है। केवल छोटों का ही बड़ों के प्रति कर्तव्य है, ऐसी बात नहीं है। इसमें दोनों का कर्तव्य है। छोटों का बड़ों के और बड़ों का छोटों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और आदर प्रदर्शित करना। प्राचीन काल में राजा लोग ऋषि मुनियों का आदर करते थे तो वे भी निरभिमान भाव से पात्र के अनुसार उनका समादर करते थे।

आप देखते हैं कि जब बन में श्रीराम लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम में जाते हैं तो—

"उठे सकल जब रघुपति आये।
विश्वामित्र निकट बैठाये॥"

वैसे श्रीराम विश्वामित्र से वय में बहुत छोटे हैं, परन्तु वे राजपुत्र हैं और अयोध्या के भावी नरेश है। इसलिये मुनिजी अन्य आश्रम वासी तपस्वियों सहित उनके स्वागत के लिये उठ खड़े हुये।

बड़ों के समक्ष उनकी आज्ञा पाकर ही संकोचपूर्वक बड़ी नम्रता पूर्वक बोलना व पूछना चाहिये, इसी में नैतिकता है। बड़ों के सम्मुख भटर भटर बोलते रहना असभ्यता है।

हमारे विचार से नैतिकता किसी भी सामाजिक का वह अनिवार्य धर्म है जिसका उसे अनिवार्य व ध्यान पूर्वक पालन करना चाहिये। इस महान् गुण के विना शिक्षा व समाज व्यवस्था निकम्मी व राष्ट्र घातक हो जाती है। आज जो राष्ट्र में अनुशासन हीनता के कारण दूषित वातावरण देखने में आता है वह हमारे नैतिक पतन का द्योतक नहीं है तो और क्या है। जिसको शीघ्र न रोकने से सर्वनाश अवश्यम्भावी है। इसके लिये भारतीय शिक्षण संस्थानों में तुलसीदास, विरचित श्रीराम चरित मानस' का पठन पाठन अनिवार्य कर देना राष्ट्रहित साधन में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

मनुष्य में सदाचार ही सब कुछ है। यदि वह नहीं तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही फिर क्या है? उत्तम व्यक्तित्व, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, यश कीर्ति, विनम्रता आदि जितने भी सुन्दर गुण हैं, वे एक मात्र सदाचार के पालन से ही मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

सन् १८०१ में मिस्टर कैनिंग ने कहा था "मैं शक्ति एवं सुखशान्ति के लिये सदाचार के मार्ग पर चलेगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सदाचार के पथ पर चलने से देर में सफलता होती है, परन्तु होती अवश्य है।" भगवान् मनु कहते हैं:—

"आचारः प्रथमो धर्मः।"

लार्ड इर्सकन कहा करते थे—"शुरू जवानी में मैंने पहिले पहल, यह सीखा था कि मैं अपने भले बुरे समझने वाले अन्तः करण की आज्ञानुसार (आत्मा की आवाज समझ कर) निज कर्त्तव्य पालन करूँ और अपने कार्यों के फल को परमात्मा पर छोड़ दूँ, मैंने सर्वत्र इसी नियमानुसार काम किया और इसी से मुझे कोई लौकिक हानि नहीं हुई। बल्कि इसके अनुसार चलने से मुझे सफलता और धन की प्राप्ति और तदनुसार मैंने यही उपदेश अपने बच्चों को भी दिया। Lord Erkan.

सच्चरित्र और दुश्चरित्र का भावार्थ—जिस प्रकार हम अपनी आत्मा के साथ भला व्यवहार या बर्ताव करते हैं और अपने प्रति दूसरों से भी वैसे ही भले व्यवहार की कामना करते हैं ठीक उसी प्रकार का शुभ व्यवहार हमें दूसरों के प्रति भी अपनाना आवश्यक है, इसी को सद् व्यवहार या सदाचार कहते हैं, सच्चरित्र व सुशीलता भी इसी का नाम है। जब हम इस भाव को छोड़ कर दूसरों के साथ असद्व्यवहार करते हैं जो इसे ही दुराचार या दुष्ट व्यवहार कहते हैं और एक प्रकार से व्यभिचार भी कह सकते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि सारे मानव जीवन का ढाँचा ही सदाचार पर टिका हुआ है। इसमें सुव्यवस्थित होने पर ही मनुष्य जीवन में चहुँमुखी उन्नति कर सकता है और समाज व स्वराष्ट्र कल्याण में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

"हर एक बात जैसा हमारा कल्याण, हमारी रक्षा, हमारी सुव्यवस्था शान्ति, हमारी सन्तान व राज की उन्नति जाति की प्रतिष्ठा, प्रत्येक मनुष्य का गौरव एवं सम्पूर्ण राष्ट्र की मान प्रतिष्ठा—एक मनुष्य के चरित्र शील (Character ro Conduct) पर अवलम्बित है।......जो मनुष्य किसी अच्छे या बड़े पद पर पहुँच कर यह भूल जाता है कि मैं सज्जन हूँ, मुझे सबके साथ सद्व्यवहार करना जरूरी है, वह देश को बड़ी हानि पहुँचाता है। निर्दोष जीवन वाले दश मनुष्य देश को जितना लाभ पहुँचा सकते हैं, अकेला ही उस लाभ से कहीं अधिक हानि पहुँचाता है।"

लार्डस्टे नले।

"आचारा ल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताप्रजा :।
आचाराद्धनमक्षयमाचारों हंत्यलक्षणम्।

(मनुस्मृति)

आर्थात् सदाचार से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्ति होती है और इच्छित सुन्दर संतान की उपलब्धि होती है। सदाचार से ही मनुष्य को अक्षय धन की प्राप्ति होती है। सदाचारी में यदि किसी प्रकार की कुरूपता भी हो तो वह भी सुरूपता में बदल जाता है।

सदाचार एक प्रकार से मनुष्य में अलौकिक वस्तु की देन है। जिसके पास सदाचार है वही सब प्रकार श्रेष्ठ व गुणवान् ही माना जाता है। सदाचारी सदैव अपने आहार विहार में संयम से रहता है इसीलिये वह प्रायः स्वस्थ व वलिष्ठ भी होता है और दूसरों के साथ वह अपना जैसा व्यवहार करके सदा प्रसन्नचित्र रहता है। सदाचारी सदैव बाहर भीतर से एक रूप और सरल होता है। अभिमान व बाहरी आडम्बर से सर्वथा रहित ही सदाचारी का जीवन होता है। वह सदैव अपने कर्त्तव्य पालन में सतर्क रहता है।

ग्रीस के सम्राट सिकन्दर ने जब पंजाब के राजा पोरस को जीतकर अपनी कैद में रखदिया तो सिकन्दर ने कहा "कहो राजन्! अव तो तुम मेरी कैद में हो। बोलो तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?"

महाराज पोरस ने तुरन्त उत्तर दिया—जैसे एक राजा दूसरे राजा के साथ वरतता है।" इस गम्भीर और गौरव पूर्ण उत्तर सुनकर सिकन्दर बहुत प्रसन्न हुआ और इस खुशी में महाराज पोरस की मुक्ति के साथ सारा हथियाया हुआ राजपाट वापस कर दिया। देखिये आदर्श चरित्रवल का क्या अनुपम उदाहरण महाराज पोरस का यहां प्रदर्शित किया गया। सच्चरित्रता में कितना अपार बल होता है, यह उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

आपत्ति में सचरित्र व्यक्ति का व्यक्तित्व और तेजी से चमकता है, और जब सब साधन असफल हो जाते हैं तो मनुष्य की रक्षा करने में सदाचार ही एक मात्र समर्थ होता है। लोक में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो लोग संयम, नियम पूर्वक सदाचारी जीवन व्यतीत करते हैं, वे स्वयं या उनकी सन्तान स्वस्थ चित्र, नीरोग, तेजस्वी और अभ्युदयशील होते हैं और सारे समाज में उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम एवं आदर बढ़ जाता है।

"यद्वै किञ्चिन्मनुरवदत्तद् भेषजम्।"

अर्थात् मनु ने मानव-आचार संहिता में जो कुछ कहा है वह सब मनुष्य को निर्विकार व नीरोग बनाने के लिये औषधरूप ही जानो। (मनु०)

ऋग्वेद में भी कहा है कि देवताओं के नियम को तोड़कर कोई सौ वर्ष नहीं जी सकता।

"न देवानामति व्रतं शतात्मा च न जीवति ।"
देवताओं का नियम है धर्म, ब्रह्मचर्य,
संयम-नियम, सदाचार दैवी सम्पदाओं का संग्रह,
सदुपदेश और ज्ञान कर्म का निरन्तर अनुशीलन करना। और मेरा तो विचार है कि मनुष्यों में भी जो उक्त देव नियमों का निरन्तर पालन करते हैं वे सब भी देवता ही हैं, इस धरा पर।

"आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च"

(कौटिल्य)

अर्थात् सदाचार से आयु वृद्धि के साथ साथ कीर्ति भी बढ़ती है।

श्रीराम राज्य की एक विशेषता यह भी थी कि उस समय किसी की अल्पायु नहीं होती थी, वृद्धों को अपने पुत्रों की प्रेत क्रिया नहीं करनी पड़ती थी, सब नीरोग, स्वकर्मरत और प्रसन्नचित्त देखे जाते थे क्योंकि राज्य भर में सदाचार का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता था। सदाचार शिक्षा-शिक्षा प्रणाली की प्रधान अंग थी। चारों ओर सब प्रकार सुव्यवस्था शान्ति सुख एवं समृद्धि का बोल बाला था। दंड विधान सख्त थे। गुरु, वृद्ध एवं विद्वान् बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। स्त्रियों के प्रति पूज्य भाव था। सब प्रकार धर्माचरण की सुव्यवस्था राज्य द्वारा सर्वत्र प्रोत्साहित की जाती थी। लोक जीवन सात्त्विक धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा से सर्वत्र ही ओत प्रोत था! इस प्रकार राज्य भर में खुसहाली का वातावरण बहता रहता था और राजा प्रजा दोनों सुखी थे।

मनुष्य की आयु पर उसके कर्मों का प्रभाव भी निश्चित रूप से पड़ता है, जहाँ असद्कर्म उसकी आयु को घटाते हैं, वहां सद्या शुभकर्म आयु को बढ़ाते हैं।

एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

"He most lives, lives long, who thinks most, feels the noblest & acts the best."

(James Belley)

कि वही व्यक्ति जीवित है और अधिक आयु प्राप्त करता है, जो सद्विचार, सद्भावना और सत्कर्म से युक्त है अर्थात् जो सदाचारी है।" इस क्षण भंगुर संसार में, वास्तव में जो व्यक्ति नीरोग रहकर दीर्घ जीवन की कामना करता है, उसे धर्म नीति का पालन सतर्क होकर, करना चाहिये।

धर्मनीति—

'वृत्तं थलेन संरक्षेद वित्तमायातियाति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणोवृत्तस्ततुः हतोहतः॥"

अर्थात् मनुष्य को अपने चरित्र की रक्षा में विशेष सावधान रहना चाहिये। धन से क्षीण क्षीण नहीं कहलाता, परन्तु चरित्र नष्ट होने पर तो जीवित रहते भी मरे तुल्य ही है। ठीक यही भाव चरित्र के विषय में एक अंग्रेज विचारक के शब्दों में:—

"When wealth is lost, nothing is lost, when health is lost, some thing is lost when Character is lost every thing is lost."

अर्थात् धन नष्ट होगया तो समझो कुछ नष्ट नहीं हुआ, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कुछ नष्ट हुआ समझो, परन्तु चरित्रया आचार नष्ट हुआ है तो जानो सब कुछ ही नष्ट होगया है।"

सदाचार से मनुष्य का व्यक्तित्व एवं मनोबल बढ़ते हैं, और मनोबल ही मनुष्य में सबसे बड़ा बल है।

"On Th's beautiful earth, greatest is the man & in man, greatest is the mind."

सुन्दर पृथ्वी में सबसे बड़ा, जीवों में, मनुष्य है और मनुष्य में सबसे बड़ा मस्तिष्क या मनोबल है। जो उसे भारी से भारी संकट से भी बचा देता है, और असम्भव को भी सम्भव कर दिखाता है। मन में दृढ़ता आने से सम्पूर्ण जीवन में दृढ़ता आनी स्वाभाविक है।

"मनः सर्वमिद रामतस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते।
चिकित्सितो वै सकलो जग ज्जालमयो भवेत्॥ (योगवासिष्ठ)

हे राम ! यह सब कुछ मन ही हैं मन की अपने भीतर चिकित्सा करने से स्वयं ही सारा संसार ठीक हो जाता है।"

इस प्रकार की मान सी चिकित्सा की जैसी आवश्यकता आज है, वैसी पहिले कभी न रही होगी। आज के पीड़ित व सशंकित मानव के लिये उपयुक्त मानस चिकित्सक की आवश्यकता हैं, तभी कल्याण सम्भव है। सदाचार का पालन मनुष्य का वास्तविक जीवन धर्म है। यह एक ऐसा रथ है जिस पर बैठकर मनुष्य अपनी जीवन यात्रा को सफलता से पूर्ण कर सकता है और स्व समाज व राष्ट्र के कल्याण में सहायक सिद्ध हो सकता है।

सदाचार से ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय शक्ति और गौरव बढ़ता है तथा सुरक्षा को वल मिलता है। सदाचार से सहानुभूति, सहयोग और सद्व्यवहार का प्रचार होता है और सम्पूर्ण राष्ट्र एक परिवार के रूप में फूलता फलता है। सदाचार से ही नैतिकता एवं शान्ति से राष्ट्र की शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चल सकती है। नैतिक प्रतिष्ठा एवं शान्ति व्यवस्था से सर्व साधारण का जीवनस्तर उन्नत होता है और लोग सुख स्वस्थता और शान्ति का अनुभव करते हैं। परस्पर के विवाह न होकर जीवन प्रेम मय वन जाता है। सार रूप में, मानव जीवन सदाचार से ही विकसित वलिष्ठ एवं उन्नत होता है।

धर्म निर्धारित आचार व्यवहार से शरीर स्वस्थ एवं सुरक्षित होता है। व्रह्मचर्य पालन गृहस्थ जीवन की आवश्यकता आदि धर्म के ही अंग हैं। धर्म पालन में व्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया गया है। व्रह्मचर्य ही मृत्युञ्जय योग है—

"मरणं विन्दु पातेन—जीवनं विन्दु धारणात्।"

व्रह्मचर्य के कारण ही पितामह भीष्म की इच्छा मृत्यु हुई है। व्यास जी ने तो व्रह्मचर्य को अमृत ही कहा है—

"अमृतं व्रह्मचर्यम्।"

भिषक् श्रेष्ठ भगवान् धन्वन्तरि जब अपने शिष्यों को सम्पूर्ण आयुर्वेद का उपदेश दे चुके तो शिष्य मण्डली विनम्रतापूर्वक पूछती है—

"प्रभुवर ! आपने सम्पूर्ण आयुर्वेद का तो हमें उपदेश दिया; नाना-विधि रोगों को दूर करने के लिये असंख्य औषधि आदि उपचार भी विस्तार पूर्वक बताये परन्तु हमें अभी भी इस विषय में तृप्ति नहीं हुई ! अतः हम पर महान् अनुग्रह कर सम्पूर्ण आधि-व्याधि की एक ही अनुपम औषधि बताइये ! जिससे मानव निरोग रहकर दीर्घायु व उत्तम सन्तान वाला बन सके ।"

इस प्रश्न का भगवान यों उत्तर देते हैंः—

"आहारस्यपरंधाम शुक्रंतद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षये ह्यस्यवहून्रोगान्मरणंवानियच्छति ॥
मृत्यु व्याधि जरानाशि पीयूष परमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥"

हे शिष्यो ! मृत्यु और वृद्धावस्था तथा सम्पूर्ण रोग नाशक एक ही परमौषध ब्रह्मचर्य है, यह मैं सत्यतापूर्वक तुम्हें बताता हूँ । आहार का सार तत्त्व जो शुक्र है उसकी बड़े यत्न से रक्षा करनी जरूरी है शरीर से उसके नष्ट होने पर अनेक रोग आक्रमण कर बैठते हैं या तत्काल ही मृत्यु हो जाती है । कमजोर पर ही दुश्मनों की विजय होती है । जब शरीर शुक्र क्षीणता से कमजोर पड़ जाता है तो रोग व वृद्धावस्था शीघ्र आ दबाते हैं । इसलिये ब्रह्मचर्य द्वारा उस शुक्र की हर प्रकार रक्षा करने से ही मनुष्य का चहुँमुखी कल्याण हो सकता है ।"

उपर्युक्त समय तक ब्रह्मचर्य पालन के बाद जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता है तो मनुष्य को सुन्दर व बलिष्ठ सन्तान की उपलब्धि होती है । ब्रह्मचर्य के पालन से इस पृथ्वी पर कौन ऐसा कार्य है जो मनुष्य कर न सके ?

मानव शरीर पर धर्माचार या सदाचार का रासायनिक प्रभाव—

जीवन-शक्ति का संचय और सद्व्यय कैसा होना चाहिए, इसके लिए ही धर्माचार निर्धारित किया गया है और यही मनुष्य के सदाचार या धर्माचार द्वारा जीवन पर चलते हुए विकसित, सुरक्षित, सुखी, सुव्यवस्थित और

स्वस्थ बनाये रखता है एवं दीर्घायु को प्राप्त कराता है । इसीलिये मनु

महाज्ञानी ने कहा है कि आचार संहिता में जो कुछ लिखा गया है वह सब मनुष्य के लिये एकमात्र सर्वहितकारी औषधि रूप ही जानें।

इसके विपरीत अमानुषिक अथवा अस्वाभाविक आचार या कर्मों से, कृत्रिम उपायों से प्रकृति विकृति हो जाती है, मानवीय शक्तियों का भली भाँति विकास नहीं होता और शरीर दुःखी व माररूप लगने लगता है। उचित रीति से संचय और सद्व्यय से जैसे धन बढ़ता है वैसे ही मानव-जीवन धर्माचार से। धर्म ही मनुष्य को ईश्वरीय महान् व्यापार में साझीदार व सम्पन्न बनाता है।

इसीलिये जीवन के स्वाभाविक विकास के लिये जिन-जिन सद्गुणों और सद्वृत्तियों की आवश्यकता होती है, उन सबका संग्रह धर्म में निर्धारित किया गया है। आप देखते हैं कि सृष्टि की कोई भी वस्तु जब मर्यादा-हीन हो जाती है तो शीघ्र नष्ट हो जाती है। इसलिये मानव जीवन को मर्यादित एवं विकार मुक्त हो जीवनचर्या निभाने के लिये धर्म सापेक्ष है। इसलिये एकमात्र धर्म से ही मानव जीवन मर्यादित और सुसंस्कृत होकर विकसित हो फूलता फलता है। इस काम में प्रकृति भी उसका पोषण ठीक-ठीक करती है। और यही है योगमय जीवन। प्रकृति के साथ ठीक संयोग कर जीवन का विकसित होना ही तो योग कहलाता है। अर्थात् अपनी चित्र वृत्तियों को संयम नियम (सदाचार) द्वारा काबू में रखने का सतत अभ्यास ही योग कहलाता है। ऐसे योगाग्नि मय शरीर वाले को रोग, जरा और मृत्यु का कभी भी भय नहीं हुआ करता क्योंकि प्रभु के नियम में निरन्तर अटल विश्वास रखता है। प्रभु के सजे सजाये इस गुलजार हुये चमन को वह नित्य ही देख-देख कर आनन्द विभोर रहता है—

वह प्रेम की ज्योति जला हृदय
लख विश्व अखिल को अपने में।
सुख शान्ति का स्रोत भरा उमड़ा
तू देख! विराजत अपने में।।

बहु रंग विरंगी सूखमा का
चहुँ ओर विराजत राज रहा।
यह विश्व बना गुलजार चमन
क्या अद्भुत साज से साज रहा ॥

मानव जीवन के लिये प्राकृत भोजन और परम भोजन की व्यवस्था—

प्रकृतिस्थ रहकर ही मानव जीवन स्वस्थ होकर ही पूर्ण विकसित हो सकता है। सात्विक आहार विहार, आचार विचार जीवन की प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं। उससे जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होता है, कोई अङ्ग निर्जीव नहीं रहता। यह बात याद रखनी चाहिये कि मानव जीवन का आध्यात्मिक पक्ष उसके भौतिक पक्ष से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है और यह आध्यात्मिक पक्ष एक मात्र सदाचार धर्म के पालन से बलिष्ठ होता है। बिना आध्यात्मिक पक्ष के जीवन निरर्थक है, वह शरीर जो निर्जीव शव के समान है जिसको आत्मा ढोती फिरती है। आत्मतुष्टि के बिना पिंड तुष्टि (जो आज लोगों में अधिकतर देखी जाती है) निरर्थक है। इसीलिये धर्मशास्त्रों ने मनुष्य के लिये प्राकृत भोजन के साथ परम भोजन की व्यवस्था की है। प्राकृत भोजन तो शरीर के प्राकृतिक (पंच महाभूत—जल, तेज आदि) तत्वों का पोषण करता है और परम भोजन आत्मा को बलिष्ठ व शुद्ध बनाये रखता है। परम कहते हैं आत्मा को। सत्संग करना, धार्मिक कथा वार्ता सुनना व करना, मनन करना, सदाचार के नियमों पर चलना आदि पवित्र आचार विचार ही आत्मा का आहार है बिना इस भोजन के आत्मा बलिष्ठ नहीं हो सकती। इससे मन शुद्ध होकर जीवन धार्मिक प्रवृति की ओर बढ़ता है तभी उसका परम हित साधन निश्चित है। सदाचार धर्म से सत्य, न्याय दया, करुणा, त्याग धैर्य, आशा, उत्साह, उदारता, सहिष्णुता, श्रद्धा, प्रेम आदि उन सहज वृत्तियों का पोषण होता है, जिनसे आत्म बल बढ़ता है और यही मनुष्य के लिये प्राणदा रसायन है।

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य आदतों की एक जीती जागती मूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बार २ जिस बात को हम सोचते हैं या

करते हैं उससे हममें अभ्यास सा पड़ जाता है यही चिर अभ्यास ही आदत कहलाती है। यहाँ तक कि सदाचार भी मनुष्य में एक आदत ही है। सदाचार का निरन्तर पालन होता रहे तो यह ऐसा चिर स्थाई रूप ले लेगी कि फिर कभी इस मार्ग से मनुष्यच्युत नहीं हो सकता। जैसे कोई भी आदत अपना लेने से उसको छोड़ना कठिन सा हो जाता है।

Habit is a cable, we weave a thread of it & at last we can not break it,

आदत एक मोटी रस्सी के समान है जो हम छोटी २ रस्सियों (छोटी २ बातों) को आपस में जोड़ने से बनाते हैं और अन्त में वह इतनी मजबूत हो जाती है कि हम उसे तोड़ नहीं सकते।

इसी प्रकार छोटी २ बातों को यदि हम अपना कर अपनी आदत बनालें जो एक दिन वही आदत हममें सदाचार का रूप धारण कर लेगी फिर वह हमारे उज्जवल भविष्य के लिए एक उत्तम चीज बन जायगी जिससे हम विकट संसार पथ को सरलता से पार करने में समर्थ हो सकेंगे।

हममें शरीर सम्बन्धी आदतें हमारे बाहरी कार्यों से बनती हैं और मानसिक आदते दो प्रकार से बनती हैं—१ एक तो हमारी हार्दिक भावनाएँ भली या बुरी जैसी भी हों उन्हीं के अनुसार चलने से और दूसरी—लोक व्यवहार के अनुसार आज्ञा पालन, सत्यशीलता, निष्पक्षता विनम्रता, दयालुता, अहिंसा आदि सदभावों के अनुसार आचरण करने से।

यदि हम अहिंसा के आदी हो जांय तो हिंसा से स्वतः घृणा होने लगेगी। सत्य से प्रेम हो जाय तो झूठ से घृणा होने लग जायगी। इस मन को निरन्तर सद्विचारों से तृप्त किये रहें तो बुरे विचारों को अपनाने के लिये उसमें रिक्त स्थान उसमें रह ही नहीं जाता। यदि हम शुद्धता से प्रेम करने लग जाँय तो अशुद्धता से हममें घृणा हो जाती है और जब तक शुद्ध नहीं होते तब तक हमारा मन बैचेन बना छटपटाता रहता है कि कब शुद्ध बनूं। पवित्र सदाचार से ही अपना जीवन स्वस्थ, प्रफुल्ल और सुखी बनता है और दैवी गुणों की वृद्धि होती है।

एक रूसी विद्वान ने कहा है—

"हममें आदतें मोतियों की माला के समान है, यदि गिरह खोल दें, को सबके सब मोती के दाने बिखर जांय—सदाचार रूपी माला का भी यही हाल है ।"

हममें आत्मसम्मान (Self respect), स्वावलम्बन, सत्यता, सत्कर्म शीलता, परहित परायणता, सहृदयता, उदारता, दया आदि दैवीगुण एक मात्र आदत डालने से ही स्थाई हो सकते हैं। केवल उनकी प्रशंसा कर लेने से वे हममें स्थाई नहीं हो सकते। जब तक कि—

"अपनी जिसे तुम कर चहो, तन मन में विचरो ओर उस ।
केवल प्रशंसा मात्र से वह प्राप्त हो सकती नहीं ॥
मोती निकल सकते कहीं क्या सिन्धु के जा छोर उस ।
जब तक कि डुबकी (अ)गाघ जल मारी कि वह जाती नहीं ॥"

सदाचार धर्म से हृदय भी हलका होता है और व्यक्ति स्वस्थता अनुभव करता है। इसके विपरीत आचरण करने से व्यक्ति का हृदय भय, चिन्ता, विवाद, ग्लानि आदि दुष्ट भावों से पीड़ित होकर, भीतर ही भीतर जल भुनकर राख होने लगता है—

"बाहर घाव न दीखई, भीतर चकना चूर ।"

इन दुर्भावनाओं का प्रभाव हृदय, स्नायुमण्डल, पाचन यन्त्र (यकृत), रक्तपरिभ्रमण क्रिया पर निश्चित रूप से पड़ता है—यह वैज्ञानिक जाँच से प्रत्यक्ष देखा जाता है। प्राण शक्ति घटने लगती है, एवं शरीर की स्वाभाविक क्रियायें गड़वड़ा जाती हैं। मनुष्य का जीवन संतुलन बिगड़ जाता है। सच जानिये—काम, क्रोध, लोभ, शोक, ईष्या आदि दुर्भावनायें अन्य रोग के कारण दोष व कीटाणुओं से भी कई गुना भयंकर व घातक होते हैं ठीक विष के समान। इस प्रकार अशान्ति और अन्तर्द्वन्द्व से स्वास्थ्य की उत्तरोत्तर हानि होने लगती है और व्यक्ति निरन्तर चिन्तित व दुःखी रहने लगता है। इसके विपरीत सदाचारी उक्त मनो व्यक्तियों से मुक्त रहकर सुख शान्ति पूर्वक अपनी जीवन यात्रा में उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। सदाचार

से शुद्ध हुआ चित्त सम्पूर्ण शरीर में सुख शान्ति व आनन्द का अनुभव करता है और यही चित्त की प्रसन्नता उसके जीवन की शक्ति दायिनी रसायन बन जाती है।

इस चराचर सृष्टि में सभी चीज व घटनायें तथा रोग व निरोगता कारण बल पर आधारित हैं। यहाँ तक कि मृत्यु के पीछे भी कोई कारण अवश्य होता है। मनुष्य अपनी ही दुर्बलता के कारण रोगी व अल्पायु होता है। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

"हे मृत्यु तू स्वयं अपनी शक्ति से किसी को अपना शिकार नहीं बना सकती। मनुष्य किसी दूसरे कारण से नहीं, अपनी ही कर्मफल के कारण मारा जाता है।" इसलिये मनुष्य चाहे तो मृत्यु और व्याधि का निराकरण कर दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। और यह एक मात्र सदाचार धर्म के पालन से ही सम्भव है।

"धर्मोंहवे रक्षति धर्म चारिम्,
धर्मो सुचिण्णो सुख मावहाति।
एसा निसंसो धर्मे सुचिण्णे,
न दुर्गति गच्छति धर्मचारी॥"

धर्म धर्मचारी की रक्षा करता है, सदाचार से आचरित धर्म ही सदाचारी की रक्षा करता है और सब प्रकार सुख शान्ति देता है, यह इस धर्म का ही प्रभाव है कि धर्मचारी या सदाचारी की कभी दुर्गति नहीं होती।

महर्षि वसिष्ठ कागभुशुण्डि से पूछते हैं। 'भगवान्! आप दीर्घकाल से, इतने स्वस्थ और युवा कैसे बने हुए हैं? इसका गुप्त भेद कृपया बताइये!"

इस पर कागभुशुण्डि जी मुसकराते हुये उत्तर देते हैं—

"महर्षि श्रेष्ठ! मैं सदा आत्म भाव में स्थित रहता हूँ, व्यर्थ के मनोरथों के पीछे निज शक्ति का अपव्यय नहीं करता, अकारण चिन्ताविषाद में नहीं फंसता, जरा मृत्यु के भय से सदा युक्त रहता हूँ, हर्ष-शोक, सुख दुःख से विचलित नहीं होता, सबको अपने समान मानता हूँ, मोह प्रमाद से

दूर रहता हूँ, समर्थ होने पर भी दूसरों पर प्रहार नहीं करता, दूसरों से दुःख पाने पर भी खिन्न नहीं होता, निर्धन होने पर भी लोभ नहीं करता, बीती हुई बातों को लेकर कभी शोक ग्रस्त नहीं होता, दूसरों को सुखी देख कर सुखी और दुःखी देख दुःखी होता हूँ, जीव मात्र का सुहृद और सहायक हूँ, विपत्ति में धैर्य युक्त और संपत्ति में सरल व्यवहार युक्त रहता हूँ।

"असुर्य्या नामते लोका अन्धे न तमसावृताः।
तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येके चात्महनोजना.।।"

अर्थात् जो लोग आत्महन हैं, आत्मा की आवाज को पहिचान कर भी स्वेच्छाचारिता की ओर बढ़ते हैं और इस प्रकार आत्मा का हनन करते हैं, वे शीघ्र मर जाते हैं (अल्पायु होते हैं) और मरकर अज्ञानान्धकार से घिरे हुये असुर्य्या नामक लोक (घोर नरक) को प्राप्त होते हैं।"

सदाचारी सदैव आत्मा के अनुसार व्यवहार व आचरण करता है (आत्मवद् सर्व भूतेषु) और इसके विपरीत दुराचारी आत्मविमुख हुआ आत्मा से दूर चला जाता है (अपने भीतर आत्मा की आवाज को पहिचान कर भी अपनी दुष्टता से उसे ठुकरा कर स्वेच्छाचारी बन जाता हैं)। हित मार्ग को छोड़कर अनहित मार्ग को अपनाने से उसे पग २ पर दुःख व संकट उठाने पड़ते हैं। उसका जीवन नरक तुल्य बन जाता है जब कि सदाचारी का स्वर्ग तुल्य बन जाता है।

सदाचार एक दैवी वस्तु है। मनुष्य के अधिकार में जितने भी गुण व वस्तुएँ हैं, उनमें सर्व श्रेष्ठ सदाचार ही है। पूर्ण सदाचारी एक प्रकार से देवता ही है क्योंकि उसमें दैवीगुण की अधिकता होती है।

"विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके च धन धर्म. शीलं सर्वत्र वै धनम्।।"

अर्थात् जिसके पास विद्या है वह किसी भी देश में जाकर धन कमा सकता है। संकट पड़ने पर बुद्धि ही काम आती है। धर्म ही पुनर्जन्म में सद् गति प्रदान कराता है। परन्तु शील या सदाचार सर्वत्र व सब अवस्थाओं में धन का काम देता है या यों कहिये कि एक मात्र सदाचार ही व्यक्ति को सब परिस्थितियों में पार लगाता है।

सदाचार का शब्दार्थ भी पूरी तरह जान लेना आवश्यक है।

सद + आचार = सदाचार।

सद् का अर्थ है सत्य और आचार का अर्थ आचरण या व्यवहार। गीता में सद् शब्द का विस्तृत विवेचन—

"सद्भावे साधु भावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥"

(गीता)

अर्थात् सत् ऐसे यह (आत्मा या परमात्मा क्योंकि वही अविनाशी है) सत्य भाव में और श्रेष्ठ भाव में प्रयुक्त होता है और हे अर्जुन! उत्तम व मांगलिक कार्यों में भी सद् शब्द का प्रयोग किया जाता है।"

सृष्टि में वह सद सर्वत्र आत्मा रूप से प्रत्येक जीव में व्यापक है। हृदय उसका निवास स्थान है।

"ईश्वरः सर्वभूताना हृददेशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन सर्वभूतानि यंत्रा रूढानि मामया॥"

हे अर्जुन! वही परमात्मा (सत) अंश रूप में होकर सब हृदयों में विराजमान हो माया रूपी यंत्र के द्वारा सबको गतिमान् किये हुये हैं।

सदाचार का स्पष्टार्थ—आत्मा का विचरण या आत्म विचार अर्थात् अपने अन्दर रहने वाली आत्मा के आदेश अनुसार ही सब प्रकार के आचरण करना, कोई भी काम व विचार उसके प्रतिकूल न करना। जिस प्रकार आत्मा अपने प्रति कभी बुरा व्यवहार नहीं चाहती। आत्मरूप से सब एक है, इसलिये सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार ही सदाचार कहलाता है। अतः बुद्धिमान सदैव आत्मा की आवाज पहिचान कर सबके प्रति सद्व्यवहार करके सदाचारी कहलाते हैं।

महान् पराक्रमी वीर नेपोलियन ने युद्ध क्षेत्र में एक बार कहा था -

"सदाचार शारीरिक बल से दशगुणा अच्छा है। जातियों का बल, परिश्रम और सभ्यता सभी बातें मनुष्य के चरित्र पर निर्भर हैं। शान्ति

व्यवस्था और मान मर्यादा के आधार भूत साधन कायदे कानून भी एक मात्र सदाचार के आधार पर ही बनाये जाते हैं।"

सदाचारी की पहिचान—

इसके लिये यह देखो कि वह अपने से छोटों के प्रति कैसा व्यवहार करता है ? वह दीन दुःखी निराश्रितों के प्रति किस प्रकार का आचरण करता है ? वह स्त्री और बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करता है ? उसमें सत्यता व ईमानदारी कितनी है ? वह किसी प्रकार का अभिमान तो नहीं करता ! वह व्यसनी तो नहीं है ? वह किसी की निन्दा तो नहीं करता या सुनता ? पडोस में वह किसी की बुराई तो नहीं करता ? वह आपके सम्मुख आपकी बढ़ाई या प्रशंसा तो नहीं करता ? उसमें नम्रता कितनी है ? वह असद् कर्म में तो नहीं लगा रहता ? परहित के कार्यों में वह किस हद तक सह-योग बनाये रखता है ? अपने से बड़ों व वृद्धों के प्रति उसमें कितनी प्रतिष्ठा है ? अपने कर्त्तव्य पालन में वह किस हदतक सावधानी वरतता है ?

अन्तिम दो शब्द—

सृष्टि काल की आदि की बात है, जब मनुष्य भगवान् से विछुड़ने लगा (आत्मा परमात्मा से अलग होने लगी) तो भगवान् मनुष्य को सम्बोधित कर कहते हैं—"ऐ मानव तुम्हें मैंने जीवों में सर्वश्रेष्ठ बनाये हो, इसके लिये तुम्हें मैंने विशेष वुद्धि से सम्पन्न किया है जिससे तुम जीव मात्र में आत्मस्वरूप से मुझे समझ सको, सबसे द्वेष व हिंसा की भावना त्याग कर प्रेम से सबको अपना सको और उनका कल्याण करने में मेरा हाथ बटा सको। तुम मुझे अन्य जीवों से इसीलिये अतिप्रिय हो कि सृष्टि के इस महान् कल्याणकारी काम में तुम भी मेरी कुछ मदद कर सको। आज तुम्हें विदाई में तुम्हें सदाचार का एक अलौकिक रथ देता हूँ जिसमें सवार होकर तुम अपने कल्याण के साथ-साथ जीवमात्र का कल्याण करते हुये अपनी यात्रा सुख पूर्वक पूरी कर सकोगे—बस नमस्कार।"

"Character is a by product; it is produced in the great manufacture of daily duty." (Woodrow Wilson).

चरित्र मानव की बड़ी रचना है; जिसका निर्माण वह अपने दैनिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य पालन में करता है।"

भगवान् ने सदाचार रूपी अलौकिक रथ जो मनुष्य को विदाई में प्रदान किया है, उसमें संयम व नियमरूपी दो-दो घोड़े जुते हुये हैं। श्वेतवर्ण (सात्विकता) से यह चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान दिव्य एवं उज्ज्वल हो प्रकाशित हो रहा है। मनुष्य की आत्मा इसमें विराजमान है और बुद्धि सारथी का काम कर रही है। आत्मा के संकेतों द्वारा सारथी उस रथ को विश्वपथ निरन्तर अपने अभीष्ट की ओर बढ़ रहा है। विश्वरूपी नन्दनवन में वह सुखपूर्वक आगे आगे बढ़ता चला जारहा है। उस नन्दन वन में नाना प्रकार के सुख, ऐश्वर्य आदि भाँति भाँति की सिद्धियां व पदार्थ—मधुर व सुन्दर फलों के रूप में मिलते हैं, जो वह आहार करता है और पानार्थं प्रभु की असीम कृपा उसे उपलब्ध है ही।

इस प्रकार वह मानव उस अलौकिक रथ (सदाचार) में आरूढ़ हुआ हुआ, अतुल यश व सुख शान्ति का अनुभव करता हुआ, जीवन को सार्थकता में ढालता हुआ अन्त में उसी परमानन्द में विलीन हो जाता है, बिन्दु सिन्धु में मिलकर एक रूप हो जाता है।

बस यही है सम्पूर्ण अध्याय का सारांश, यही है सदाचार के सम्बन्ध में विशेषज्ञान, जिसको जानकर मनुष्य धर्मार्थ काम मोक्ष चारों पदार्थ सरलता से प्राप्त कर सकता है।

'पूर्णेन्दु वत् निर्मल स्वरूप पवित्र शीलहु इत्र हो।
उपकार में सब के रहें औ विश्व सारा मित्र हो॥
पल पल घड़ी सत्कर्म में जीवन महान् विचित्र हो।
चिन्तन में मन निशिदिन रहे 'सियराम' सब का मित्र हो।।"

ओ३म् तत् सत॥

घूँट १६

सार्थक जीवन के लिये परमार्थ साधन आवश्यक ।

शास्त्र कहता है कि बुद्धिमान मानव जिस उपाय से भी जिस किसी प्राणी को प्रसन्न कर दे वही ईश्वर की पूजा है और एक प्रकार से यही जनता जनार्दन की श्रेष्ठ उपासना है। जनता का एक अंग यदि निर्बल है तो सबल अंग का कर्त्तव्य है कि वह उसे सहारा दे। इस सृष्टि का सम्पूर्ण व्यापार ही आदान प्रदान से चल रहा है। भगवान् की इच्छा यही है कि जिसे जो शक्ति मिली है वह उसका सदुपयोग करे, उससे स्वयं लाभ उठाकर दूसरों के हित साधन में लगावे।

"शत हस्तं समाहर सहस्त्र हस्तं संकिर।" (ऋग्वेद)

अर्थात् सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और सहस्त्रों हाथों से बांटो। यह मानव देह ही परोपकार के लिये है:—

'परोपकाराय इदं शरीरम्।"

पेड़, लता, पुष्प, तृण, सरिता, मिट्टी, पत्थर आदि सभी तो आपको परोपकार में अर्पण कर रहे हैं, निः स्वार्थ सेवा के ये उदाहरण कहां नहीं दिखाई दे रहे हैं? मनुष्य को भी इनसे शिक्षा लेकर अपने को परोपकार के लिये अर्पण कर देना आवश्यक है और इस प्रकार लोक के रूपमें भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर सकता हैं। जीवन उसी का धन्य है जो जन्म लेकर परोपकार में निरन्तर अपने को खपा रहा है।

परोपकार से आत्मा का स्वाभाविक प्रस्फुरण और उसकी सद्वृत्तियों का पोषण होता हैं। चित्त की प्रसन्नता का यही रहस्य है।

"परोपकाराय सतां विभूतयः।"

सज्जनों की सम्पूर्ण धन सम्पत्ति परोपकार के लिये ही हुआ करती हैं। इसी कारण उनके मुखमंडल पर विशेष ओज देखा जाता है, इससे उनकी उदारता व हृदय की प्रसन्नता स्पष्ट झलकती है।

किसी भी प्रकार के लोकोपकारी कार्य से मनुष्य का आत्म बल बढ़ता है और उसकी हृदय सजीवता का परिचय मिलता है। यह बात भी याद रखनी चाहिये कि प्रत्येक मानवीय शक्ति सदुपयोग से बढ़ती है और दुरुपयोग हीन योग व अयोग से घटती है। दूसरों को आप मान प्रतिष्ठा देंगे तो आपकी मान प्रतिष्ठा भी साथ साथ बढ़ेगी। ज्ञान व विद्या देने से बढ़ते हैं। दूसरों को सुख सुविधा देंगे तो आपकी ही सुख सुविधा बढ़ेगी। यहां तक कि जो कुछ भी आप परहित में देंगे वह कई गुना होकर वापस आपको ही मिलेगा। आप एक बीज बोते हैं और उसके बदले में कई फल आपको मिलते हैं। हिन्दुओं के दान, धर्म, प्रेत क्रिया आदि में यही रहस्य हैं।

सात्विक दान से वास्तव में ऐश्वर्य मिलता है, व्यक्तित्व का विकास होता है। आप देखते हैं कि दानी और परोपकारी के मनोबल के पीछे कितनों की शुभ कामनाऐं, कितनों का आशीर्वाद व लोकबल छिपा रहता हैं जो गुप्त रूप से दानी व परोपकारी के संचित मनोबल का कारण बनता है। सचमुच दान बीर ही महाबीर कहलाता है। श्रुत्रि का वचन है:—

"परस्परं भावयन्तः—श्रेयः परमवाप्स्यथ।" कि आपस में एक दूसरे का पोषण करके ही तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे।

वास्तव में परोपकार एक महान यज्ञ है, जिससे समाज में एकता, शान्ति, सुव्यवस्था और परस्पर प्रीति स्थापित होते हैं और जनता समृद्धि को प्रास्त होता है।

तुलसी दास जी ने भी कहा है—

"परहित सदृश्य धर्म नहि भाई।"

यहाँ तक कि संसार में सभ्यता का प्रसार ही त्याग सेवा परमार्थ से होता है। इसीलिये समाज व राष्ट्र के प्रति प्रत्येक मनुष्य का कुछ कर्त्तव्य होता है, बिना उसके वह अपना व लोक का कल्याण नहीं कर सकता। मनुष्य के जीवन का निर्माण ही आपसी सहयोग का एक ज्वलन्त परिणाम है

मनुष्य को आवश्यक वस्तुओं का संग्रह उतना ही करना चाहिये, जिससे उसका काम चल सके, यदि वह उससे अधिक संग्रह कर अपने पास

भण्डार बना रखता हैं तो वह पाप व चोरी करता है जिसके लिये वह दण्ड का भागी बनता है।

"यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकयो ऽभिमन्येत सस्तेनोदण्डमर्हु ति ॥"

(भागवत)

श्रीमद् भगवत में नारद ने कहा है—जितने से अपना पेट भरता हो, उतने में ही प्रत्येक व्यक्ति का स्वत्व या अधिकार है, जो उससे अधिक संग्रह करता है वह चोर व दण्डनीय है।" इसलिये जो दान के लिये धन संचय करते हैं वह तो ठीक है क्योंकि अर्थ को दान रूप हैं धर्म संयुक्त करने से वह पुण्य होता है, व्यर्थ नहीं जाता। क्योंकि उससे लोक कल्याण होता है और सामाजिक विषमता दूर होती है। आचार्य कौटिल्य ने कहा हैं—"न दान समं वश्यम्।"

अर्थात् दान के समान वश में करने वाली कोई चीज नहीं हैं। इससे आत्मीयता बढ़ती है, नीच ऊँच का भेद घटता हैं, अहंकार के स्थान पर दया करुणा, प्रेम की महत्वपूर्ण भावनायें बढ़ती हैं और ये ही समाज व राष्ट्र के संयोजक तत्व हैं। इसीलिये दान को ही कौटिल्य ने धर्म कहा है—

"दानं धर्मः।" और यही पुण्य भी है। दानी ही अमर पद को प्राप्त होता है। बुद्धिमान भगवान् को इसीलिये भजते हैं कि उनकी सम्पूर्ण विभूतियां प्राणिमात्र के कल्याण में काम आवें। इसीलिए भगवान् को दयामय, करुणा-सागर, दीनबन्धु और मुक्ति दाता कहा गया है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी पुण्यवान् नरदेव वही माने जाते हैं जो नित्य परोपकारत हैं।

"जीवितं सफल तस्य—यः परार्थोद्यतः सदा। (ब्रह्मपुराण)

जीवन उसी का सफल समझो जो निरन्तर दूसरों के हित साधन में लगा हुआ है।

"दातारः संविभक्तारो दीनानु ग्रह कारिणः।
सर्वभूत दया वन्तस्ते शिष्टाः शिष्ट सम्मताः ॥"

(श्रीमद्भागवत)

महात्मा व्यास का मत है कि सज्जनों की सम्मति में वे ही लोग सभ्य माने जाते हैं, जो दानी, अपने आश्रितों के भाग को न्यायपूर्वक अर्पण करने वाले, दीन दुखियों पर अनुग्रह करने वाले और जीवमात्र के प्रति दयालु होते हैं।

सज्जन का लक्षण ही यह है कि वह सदा दयावान् व करुणाशील होता है। मार्कण्डेय पुराण में कहा है—"जो व्यक्ति याचकों, मित्रों तथा शत्रुओं से भी कभी विमुख नहीं होता, उसी से पिता वस्तुतः पुत्रवान् और माता वीर प्रसविनी मानी जाती है।

केवल धन से ही दान परोपकार नहीं हुआ करता। दान धर्म का अभिप्राय तो यह है कि जो भी चीज आपके पास है और दूसरे को उसकी आवश्यकता है, उससे उसका भला होता है और आपकी भी कोई हानि नहीं होती तो आप उसे देकर उसकी सहायता कर सकते हैं। दान धर्म परोपकार केवल पात्र को देखकर ही किया जाता है। यदि आपके पास देने को कुछ भी नहीं तो हृदय की सद्भावना व सहानुभूति जो है उसी को दीजिये। सबसे बड़ा दान—

"अभयः सर्वभूतानां नास्ति दान मतः परम्।"

(पद्मपुराण)

अभयदान है, जो सत्य अहिंसा का पालन करने से दिया जा सकता है।

वास्तव में सच्चाई तो यह है कि एक लखपती ने ५०० रु०, सौ वाले ने ५ रु० और किसी ने थोड़ा जल ही प्यासे को दिया तो सब बराबर हैं। इस प्रकार सात्त्विक दान की सभी चीजें अमूल्य होती हैं। यहाँ जल भी प्यासे के लिये अमूल्य हैं। महर्षि दधीचि कितने दुर्बल थे परन्तु परोपकार के लिये उनकी अस्थि ही वज्र रूप बन गई।

मनुष्य के स्वभाव में उदारता हो तो वह निर्धन होकर भी दूसरों का हित साधक बन सकता है। त्यागी महात्माओं के पास देने को क्या होता है, परन्तु उनकी वाणी में, हृदय कामना में और उनके आशीर्वाद में जादू का

सा बल होता है जो दीन दुखी जीवों को सुखी व बलशाली बना देता हैं। हृदय कामना का ही प्रभाव दान व परोपकार में महत्व रखता है। केवल लोक दिखावा के लिये किया हुआ दान व उपकार कुछ महत्व नहीं रखता।

संत तुलसी दास, सूरदास, स्वामी शंकराचार्य और महापुरुषों ने भारतीय समाज के उत्थान का जो कार्य किया वह आज तक किसी दूसरे ने भी किया है क्या ? इसी प्रकार महात्मा व्यास 'श्रीमद् भागवत' को रचकर जो महान् कल्याण कर गये उसकी कहीं उपमा मिल सकती है ? इस प्रकार लोक में वास्तविक प्रसंशा व अमर कीर्ति उन्हीं की होती है जो अल्प साधन होते हुये भी लोक कल्याण के लोकोत्तर काम कर जाते हैं।

पैसे व भारी दान दक्षिणा लेकर आशीर्वाद देने वाले महंत पुजारी, पण्डा आदि दानी नहीं कहे जाते, न उनके आशीष में ही कोई बल होता है, केवल अंधविश्वासी लोग ही ऐसे लोगों के आशीर्वाद के शिकार होते हैं। बुद्धिमान व समझदार कभी ऐसे पाखण्डी लोगों के बहकाये में नहीं आते। वेद व पुराण का मत है कि जो निष्काम भाव से किसी को दान देकर उपकार करता है वही साधु या सज्जन है। जो बदले की भावना से किसी का उपकार करता है वह निष्फल व सर्वथा निरर्थक होता है।

कर्म को उत्कृष्ट रूप में करने के लिये फल का सतत चिन्तन छोड़ कर कर्म में पूरी तरह रमने से फल के चिन्तन में लगने वाले समय की बचत होती है और मन एकाग्र हो कर्म में पूरी तरह लीन हो जाता हैं।

आप देखते हैं कमल जल में फूलता फलता विकसित होता है फिर भी वह जल से अलग है। देखिये वह रात दिन कीचड़ में अपने पैर गड़ा कर किस खूबी से निरन्तर प्रयत्न करता हुआ विकसित होता है। इसके लिये वह फल की कामना छोड़कर प्रत्येक ऋतु में अपना प्रयत्न जारी रखता है। इसमें कभी भी वह ढीला नहीं देखा जाता लेकिन एक दिन आता है जबकि वह कमल अच्छी तरह विकसित हो खिलता है, उसे सूर्य की किरण चूमती हैं, सुन्दर समीर झुलाती है, गीत सुनाती है। उसे मालूम नहीं होता कि वह पराग से, सुगन्ध से भर रहा है। परन्तु अन्त में एक दिन

भौंरा आकर उसकी बड़ी चाव से परिक्रमा करता है और कहता है "पवित्र कमल, तू खिल चुका है ! तुझमें कितनी सुगन्ध है। तेरा कैसा सुन्दर रंग है ! तुझमें कितनी मधुरता है ! तू कितना मीठा लग रहा है" — ठीक यही हाल मनुष्यों का भी है, जो अपने अन्दर संकल्प या कामना या उद्देश्य रखकर कार्य प्रारम्भ करते हैं, वे विकसित होते हैं, आगे बढ़ते हैं, अपने कार्य और यश के विस्तार का उन्हें कुछ ध्यान नहीं होता और एक दिन आता हैं जब समाजरूपी भ्रमर उनका गुणगान का गायन करता है। दूर जाने की बात नहीं; समाज के अन्याय, अत्याचार व अन्ध-विश्वास के कीचड़ में पैदा होकर, अपने मन में संकल्प धारण कर और फल की आशा से पृथक होकर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामकृष्ण परम हंस आदि ने जो विकास पाया और समाजरूपी भ्रमर ने जो गुणगान गाया वह निष्काम कर्म के ज्वलन्त उदाहरण आज हमारे सामने हैं जिनसे हमें 'न कर्म लिप्यते नरे' या संसार में रहकर निष्काम कर्म करने की प्रेरणा व शिक्षा का उच्च आदर्श प्राप्त होता है।

अपने सम्मुख यदि हम कोई संकल्प बिना रक्खे कार्य करेंगे तो हमारा कार्य नियमित रूप से नहीं चल सकेगा। अतः अपने सामने संकल्प रखकर तो कार्य करना ही चाहिये ; परन्तु कार्य करते हुए उस कार्य में लिप्त न होना चाहिये। यही निष्काम कर्म है।

"एवं त्वयि नान्य थे तोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।" (उपनिषद)

अर्थात् इस प्रकार कर्म करने से कर्म मनुष्य को बाँधने वाला नहीं होता। गीता ने भी इसी भाव को पुष्ट किया है। दोनों का भाव है कि कर्म तो अवश्य करो पर फल में अपना अधिकार मत मानो, जो कर्म करता है उसे फल का अधिकार तो अवश्य है, परन्तु उस अधिकार का ध्यान न रख कर्म करना आवश्यक है।

हमें अपने संकल्प को पूरा करने के लिये उसमें अपने को लगा देना ही निष्कामता की कुञ्जी है। महात्मा गाँधी हरिजनों की सेवा का स्वप्न

देखा करते थे। स्वामी रामतीर्थ स्वप्न में कठिन समस्याओं का समाधान निकाला करते थे।

प्राचीन शास्त्रों में मुक्ति के साधनों में 'षट्क सम्पत्ति' का वर्णन मिलता है। यह षट्क सम्पत्ति ६-६ प्रकार के कर्म ही हैं। वे कर्म हैं:— १. शम, २. दम, ३. उपरति—अर्थात् दुष्ट कर्म करने वालों से दूर रहना, ४. तितिक्षा—चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कुछ भी होता हो परन्तु हर्ष और शोक को छोड़कर मुक्ति के साधनों में सदा लगे रहना, ५. श्रद्धा, अर्थात् वेदादि जो सत्य शास्त्र है और उनके ज्ञान से पूर्ण आप्त विद्वान, सत्योपदेष्टा महात्माओं के वचनों पर विश्वास करना और ६. समाधान—अर्थात् चित्त की एकाग्रता से मुक्ति की ओर बढ़ा जा सकता है इस प्रकार ये ६ प्रकार के कर्म हैं।

गीता में कर्म शब्द का प्रयोग—

'स्वधर्म' में व्यवहृत हुआ है। आग्नेय–शक्ति प्रधान व्यक्ति सात्त्विक होते हैं और इसलिये वे अपने कर्म के फल को स्वयं छोड़ देते हैं। रजोगुणी कहता है 'लूँगा तो फल के सहित ही' और तमोगुणी कहता है 'छोड़ूँगा तो कर्म सहित ही।'

सत्त्वगुणी व्यक्ति फलाशा न रखकर कर्म करने को कहता है। जो व्यक्ति फलाशा की ओर सोचता रहता है। उसका कार्य की ओर उतना ध्यान नहीं होता फलतः असफल होने पर पश्चाताप करता है। अधिकतर उसका समय और शक्ति फल सम्बन्धी स्वप्न चिन्तन में खर्च होते हैं और कर्म इस प्रकार पूरे प्रयत्न से नहीं होता फलतः अपने प्रयास में वह निष्फल हो जाता है। परन्तु फलेच्छारहित (निष्काम) व्यक्ति का तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्म करने में लगी रहती है।

सरिता निरन्तर बहती रहती है, पवन को विश्राम कहाँ, सूर्य चन्द्र को अपने कर्म से क्षण भर का भी तो अवकाश नहीं, ऋतुओं को छुट्टी कहाँ? ठीक इसी प्रकार निष्काम कर्म कर्त्ता अपने कर्म में जुटा रहकर निरन्तर जीवन में आगे-आगे बढ़ता ही चला जाता है। उसमें उसे सफलता

मिले या नहीं उसको इसकी परवाह कहाँ ? वह तो कर्म करने में ही अपना अधिकार समझता है, जो उसके लिये निर्धारित किया गया है।

नाट्यशाला के नाटक पात्रों की ओर ध्यान कीजिये। नाटककार ने जो जो काम जिस जिस पात्र को सौंपा है, वे सब जब निष्काम भाव से (अपने को भूलकर) जब अभिनय करते हैं तभी नाटक की सुन्दरता को देखकर चारों ओर वाह वाह व तालियों की हर्ष ध्वनि गूंजने लगती है। इसी प्रकार चित्रकार जब निष्काम भाव से चित्र बनाता है तभी सुन्दर चित्र बनता है। इस प्रकार कर्म में निष्काम भाव अपनाने से उसमें सुन्दरता और महत्ता के गुण भर जाने से उसका महत्व ही बढ़ जाता है।

हमें निष्काम कर्मयोग समझने के लिए गीता के चौथे अध्याय को देखना होगा। वहाँ कर्म विकर्म और अकर्म—ये तीन महत्वपूर्ण शब्द आये हैं। गीता में 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के लिये प्रयुक्त हुआ है। खाना, पीना, चलना, फिरना इत्यादि कर्म हैं, परन्तु गीता का कर्म, स्वधर्माचरण है। यह स्वधर्माचरण उद्देश्य युक्तकर्म है। परन्तु कर्म को करके निष्कामता प्राप्त करने के लिए काम और क्रोध को जीतकर चित्त को शुद्ध करना पड़ता है और चित्त शुद्धि के लिये जो कर्म किए जाँय उन्हें गीता 'विकर्म कहती है। कर्म का अर्थ है स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया में चित को लगाना विकर्म है। श्री तुलसीदास ने रामायण लिखने का महान कर्म किया परन्तु जब उसके साथ उनके चित्त का संयोग हो गया तो यह कर्म उन्हें कर्म ही लगा, परन्तु वे अकर्म या निष्काम कर्म की स्थिति में आ गए और उन्होंने इसे 'स्वान्तः सुखाय' रचना का उद्देश्य माना। वस्तुतः निष्काम भाव से जो भी कर्म किया जाता है उसमें व्यक्ति इतना तल्लीन हो जाता है कि वह उसमें अपने आप को भूल सा जाता है, और तभी श्रेष्ठ कर्म या अकर्म (इसलिये कि उसे मालूम ही नहीं होता कि मैं क्या कर रहा हूँ) बनता है। इसी अकर्म की स्थिति में चित्रकार अपनी अति श्रेष्ठ रचना का निर्माण करता है।

इस प्रकार कर्म के साथ विकर्म का मेल होने पर वह कर्म हमें

कर्म नहीं प्रतीत होता और फिर कदाचित उसमें हमें असफलता भी मिली तो वह अखरेगी नहीं। जब वह अखरेगी नहीं तो उस दशा में न क्रोध उत्पन्न होगा और न किसी प्रकार बुद्धि की विकृति। बुद्धि की विकृति या नाश न होने से हम अपना सर्वस्व नष्ट न करेंगे।

यों समझिये कि किसी रोगी को हमने सेवा सुश्रूषा की, परन्तु उस सेवा कर्म के साथ मन में हार्दिक दया भाव न हो तो वह सेवा नीरस मालूम होगी और उससे जीव ऊब जायगा। वह एक प्रकार से भार रूप प्रतीत होगी अर्थात् मन का पूर्ण सहयोग न होने से कर्म और विकर्म का मेल न होगा और हमें अहंकार उत्पन्न होगा तथा उस दशा में कर्म करते हुए भी हम उसके बदले की भावना से भर जायेंगे। जिस प्रकार तेल और बत्ती के साथ ज्योति का मेल होने से प्रकाश की उत्पत्ति होती है ठीक उसी प्रकार कर्म के साथ विकर्म का मेल होने से अकर्म की उत्पति होती है। उस दशा में हमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमने कोई कर्म भी किया है। उस दशा में हम कर्म करके भी अकर्त्ता ही बने रहेंगे। ठीक इसी सत्य को ध्यान में रख कर गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्पष्ट कहा है

कर्मण्येवाधिका रस्ते मा फलेषु कदाचन।

हे अर्जुन ! तेरा कर्म करने मात्र में अधिकार है, फल में तेरा कोई अधिकार नहीं, मनुष्य को अपने अधिकार से बाहर नहीं जाना चाहिये। ऐसा करने से उसे दुःख व संकट उठाना पड़ता है।

आज के युग में हमें नाना प्रकार के दुःख व संकट इसीलिए घेरे हुए हैं कि हम सोचते हैं कि हम काम बहुत कम करें और फल बहुत मिले यही मूर्खता है। हम काम में प्रयत्न तो उतना करते नहीं जितना करना चाहिए प्रत्युत फल पाने की आशा में दीवाने बने फिरते हैं।

मनुष्य को जीवन में निष्कामता अपनाते हुए कर्म मार्ग पर चलना ही आनन्ददायक व सब प्रकार से श्रेयकर है। कर्म में आनन्द का अनुभव करने वाले कर्मण्य होते हैं और कर्मण्य ही सफल जीवन के अधिकारी हैं। फल की विशेष आसक्ति कर्म के साधक की वासना उत्पन्न करती है और

इसीलिये दुःख व परेशानी उठनी पड़ती है।

प्रभु की इस विशाल सृष्टि में एक दूसरे का काम निरन्तर आदान प्रदान से ही चल रहा है। इस तथ्य को समझ कर मनुष्य को विशेष उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। अंग्रेजी में एक कहावत है—

Liberality does not consist in giving much, but in giving at the right moment.

यह कि बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नहीं होती, आवश्यकता के समय सहायता देनी ही उदारता है।

परोपकार व दान में सदैव सुपात्र का ध्यान रखना आवश्यक है। जिस प्रकार वर्षा का प्रभाव समुद्र में नहीं ताल, तलैयों व अन्य भू भागों में ही देखा जाता है, ठीक इसी प्रकार दान का प्रभाव भी दीन दुःखियों में ही देखा जाता है, जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है। लोभी दीन नहीं होता वह तो सदा ही दीन बना रहता है, उसको दान देने से क्या लाभ ? दान व परोपकार के लिये सुपात्र वह है जो शारीरिक, आर्थिक अथवा सामाजिक दुर्बलताओं के कारण असमर्थ या असहाय हो, उसी की सहायता करना, शक्ति प्रदान करना या उसको ऊपर उठाना परोपकार कहलाएगा। निर्बल, अनाथ, अंगभंग व रुग्ण ही दान के पात्र होते हैं।

इस जीवन संघर्ष में अच्छे या बुरे जो भी कर्म बीज हम होते हैं उन्हीं का फल भोग हमारे साथ संस्कार बनकर सूक्ष्म शरीर के साथ जाता है उसी के हमारा भविष्य जीवन बनाता है।

आओ संघर्षों के पथ पर विजय गीत से गगन गुंजाओ।
रात तुम्हें दे स्वप्न प्रगति के दिन में आगे कदम बढ़ाओ॥

ॐ तत्सत्।

घूँट—२०

अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से एक साधारण मानव 'राम' व कृष्ण तक बना—

इस संसार में अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति का मनुष्य प्रयोग कर क्या नहीं कर सकता ? मनुष्य जैसी भावना अपनाता है उसी के अनुसार उसे सिद्धि भी उपलब्ध होती है।

याद्दशी भावना यस्य सिद्धि र्भवति ताद्दशी।

महा पराक्रमी वीर नेपोलियन का परम प्रिय सिद्धान्त था—दृढ़ निश्चय, ध्रुव संकल्प शक्ति ही सच्ची बुद्धि मानी है—

The trust wisdom is a resolute determination.

उसकी हर सफलता का रहस्य यही था कि एक बार किसी कार्य के विषय में संकल्प करके फिर तन मन धन से उसमें जुट जाता था।

यथैव भावयात्मा सततं भवति स्वयम्।
तथैवापूर्यते शक्तया शीघ्रमेव महानपि॥

(योग वासिष्ट)

मनुष्य की आत्मा जैसी भी भावना धारण करती है, वह शीघ्र वैसी ही हो जाती है और उसी प्रकार की शक्ति से भर जाती है।

शक्तिशाली वीर महात्माओं में यह भाव स्पष्ट देखा जाता है। इसी महान शक्ति को वे हृदय से अपनाकर महान शूरवीर व महापुरुष हुए। मनुष्य से देव बनने की शक्ति स्वयं मनुष्य के अन्दर मौजूद है। क्योंकि—

एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।

वह एक ही देव सबके हृदय में आत्मा रूप में विराजित हो रहा है। जो उसकी इस महान शक्ति को पहिचान कर उस जैसा बनने के दृढ़ प्रयत्न में जुट जाते हैं वे एक दिन अवश्यमेव महापुरुष बनकर रहते हैं। अन्य लोग इस तथ्य को न समझ साधारण लोग जीवन व्यतीत करने में ही सन्तुष्ट रहते हैं।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।
स्नेहाद द्वेषाम्दयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ।।

अर्थात् मनुष्य स्नेह से द्वेष से अथवा भय से जिस किसी में भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप हो जाता है

जीवन का एक सिद्धान्त, एक साध्य विषय होना चाहिए, जब एक वार निश्चित कर लिया तव उसी पूर्ति के लिए प्रबल इच्छा, प्रयत्न अनुराग अपनाकर आगे कदम बढ़ाओ जो समलत मिलने तक रुके नहीं ।

वास्तव में देखा जाता है कि लोगों में शक्ति का अभाव नहीं होता संकल्प का अभाव होता है—

"People do not lack strength they lack determination."

जिसके कारण वे कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते । बिना लगन के तो साधारण कार्य भी कठिन लगता है और लगन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है । प्रत्येक काम में जुटने से कठिनाई या भय होना स्वाभाविक ही होता है परन्तु जुट जाने पर कठिनाई सरल प्रतीत होने लगती है । कार्य में दिलचस्पी बढ़ने लगती है, मन तन्मय हो जाता है और सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित हो कार्य में लग जाती है । बस कभी है तो दृढ़ संकल्प शक्ति की ।

यदि आदि काल में ब्रह्मा दृढ़ संकल्प शक्ति इस सृष्टि की रचना में न अपनाते तो आज इन पंक्तियों का लेखक अन्य सृष्टि के साथ न जाने कहां छिपा होता । छोटे व बड़े व्यक्तियों में भेद बस इतना ही है कि छोटों के छोटे विचार होते हैं वे अपनी दुनिया छोटे कामों के करने में ही विताते हैं । जब कि छोटे कहलाने वाले ही कुछ व्यक्ति बड़े विचार अपना कर अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से बड़े कामों में जुट जाते हैं और सफलता मिलने तक उन्हें नहीं छोड़ते ।

मनुष्य छोटा या बड़ा केवल कर्म या विचार से जाना जाता है। यदि विचार या ज्ञान अधिक है तो छोटी आयु का होने पर भी बड़ी आयु

वाले अज्ञानी व हीन विचार वाले से कई गुना अच्छा है। साधारण बुद्धि वाले जो काम कई वर्षों में पूरा करते हैं विशेष बुद्धि वाले उस काम को थोड़े ही समय में सम्पन्न कर लेते हैं।

स्वामी शकराचार्य अपना लोक कल्याण का कार्य केवल ३२ वर्ष में ही सम्पन्न करके दिवंगत हो गये थे। इसी प्रकार सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता पर अपनी अनुपम ज्ञानेश्वरी टीका केवल १५ वर्ष में पूर्ण कर १९, २० वर्ष में ही अमर हो गये।

एक बार प्रसिद्ध आविष्कारक अमेरिका के श्री ऐडीसन से किसी ने पूछा आपकी आयु क्या है? उन्होंने उत्तर दिया १२५ वर्ष। इस पर प्रश्न कर्त्ता को आश्चर्य हुआ जो उन्होने कहा "यद्यपि काल गणना के अनुसार इस समय मेरी आयु ७८ वर्ष है, परन्तु इतने समय में मैंने जितना काम किया उतना अन्य साधारण व्यक्ति १५० वर्ष में भी न कर पाता।

भावार्थ यह कि अल्पायु में भी मनुष्य विशेष गुण-कर्म से महत्ता प्राप्त कर सकता है। यह भी सोचना गलत है कि योवन में कुछ न किया तो अब अधिक अ यु में क्या हो सकता है? महात्मा बुद्ध और मुहम्मद ने अपना लोक उद्धार का कार्य ४० वर्ष की आयु के बाद ही किया था। इसलिये एक अंग्रेजी कहावत ठीक ही है कि ४० चालीस वर्ष की आयु से जीवन आरम्भ होता है—

"Life begins at forty"

बहुत से लोग भाग्य को लेकर अपनी दीन हीन दशा का रोना रोते फिरते रहते हैं और कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते यही मूर्खता है। वास्तव में जिसे मनुष्य दुर्भाग्य या दुर्दशा अथवा विपत्ति समझता हैं वह उसके लिये उतनी ही उपयोगी सिद्ध होती है जितनी वृक्ष, पौदा लता आदि के लिये खाद (उस समय तो उसके भार से वे दब से जाते है, परन्तु कुछ दिन बाद उसी के पोषण से वे पुष्ट होते हैं, खिलते हैं फूलते व फलते है)। भगवान् कृष्ण ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है:—

"यस्य.नुग्रहमिच्छामि
तस्य सर्वं हराम्यहम्।"

दूसरे शब्दों में, भगवत्कृपा से ही मनुष्य निर्धन व निस्सहाय होता है। उसी दशा में वह अपना असली पौरुष-प्रताप प्रकट कर उन्नति की राह पर आगे बढ़ता है।

महापुरुषों में अधिक संख्या उन्हीं लोगों की मिलेगी, जिन पर भगवान ने इस प्रकार का अनुग्रह किया था। इसी विषय में स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—

अत्यन्त निराशा जनक स्थिति भावी अभीष्ट की जननी है। केवल पलंग पर पड़े और भोगविलासिता में पले कोई बड़ा आदमी नहीं होता। बलवान आत्माऐं प्रतिकूल परिस्थितियों में ही उन्नति करती हैं।"

(स्वामी विवेकानन्द)

कोई चाहे कितना ही निर्धन क्यों न हो यदि उसके पास कोई कला है, कोई हुनर हैं या कोई विद्या है उसी से वह प्रकाशित हो सकता है, यदि लगन, उत्साह और प्रयत्न की भावना हृदय में बनी हो। एक छोटी सी आग की पड़ी हुई चिनगारी सुलगा कर प्रचण्ड ज्वाला बन जाती है—ठीक इसी प्रकार पुरुषार्थी महत्व को प्राप्त होता है।

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—
नहि मनुष्यात् श्रेष्ठ तरं हि किञ्चित"

(म० व्यास)

यह गुप्त बात मैं तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से बढ़कर संसार में अन्य कुछ नहीं हैं।"

"अहं ब्रह्मास्मि" का भाव भी यही तो अर्थ रखता है। मनुष्य यदि चाहे तो अपने प्रयत्न से भगवान बन सकता है और जैसे राम व कृष्ण के उदाहरण सबके सामने प्रेरक हैं। संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास अनन्त ब्रह्मशक्ति मोजूद हैं। उसके लिये कोई पद, कोई वैभव, किसी भी प्रकार की सम्पदा दुर्लभ नहीं हैं। कौन ऐसा कार्य है जिसे वह कर न सकता हो ?

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो लौकिक जीवन में अलौकिक

(दिव्य) शक्तियों का उपार्जन करके असम्भव को भी सम्भव कर देता है। इसीलिये महापराक्रमी वीर नेपोलियन ने ठीक ही कहा था—"असम्भव शब्द कोष से निकाल देना चाहिये, इससे कायरों को चारा मिलता है" इस से यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य के अन्दर अविनाशी तत्व मौजूद है। वीर पुरुषार्थी इस लोक में अपना पार्ट अदाकर उत्तम लोक के पात्र बनने जाते हैं, क्योंकि योग्य पुरुषार्थियों की कहाँ आवश्यकता नहीं होती ?

"गुणी सर्वत्र पूज्यते।"

अमेरिका के अमर मनीषी श्री एमर्सन ने कहा था—"कोई भी महान् सस्था केवल एक व्यक्ति की विस्तारित प्रतिच्छाया मात्र होती है—

An institution is the lengthened Shadow of one man.

"एकेनापि हिशरेण पादा क्रान्त महीतलम्।
क्रियते भास्करेणैव स्फार स्फुरित तेजसा॥"

(नीति शतक)

जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य सारे जगत को प्रकाशमान कर देता है उसी प्रकार एक ही अकेला शूरवीर सारी पृथ्वी को जीतकर वश में कर देता है।

"उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैवपूर्वा।"

जिधर सूर्य निकलता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं। महापुरुष के विषय में भी यही बात ठीक घटती है। जिधर वह झुकता है, उधर ही सारा लोक झुक जाता है। जहाँ वह निवास करता है वह साधारण स्थान भी लोगों के लिये तीर्थ बन जाता है। जहां उसके चरण चिन्ह पड़ते हैं, वह साधारण भूमि भी स्वर्ग बन जाती है। उसकी महिमा से देश व काल की भी महिमा बढ़ जाती है।

श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य तुच्छ जीव नहीं है। उसके भीतर भगवान् का विशेष तेज, सृष्टि का सत्त्व, सिद्धि और स्रोत रहता है। वह जैसा चाहे वैसा अपने को बना सकता है; जितना ऊंचा उठना चाहे उठ सकता है; प्रत्येक दशा और प्रत्येक दिशा में अपनी उन्नति करके चमक सकता है और पास पड़ोस को चमका सकता है।

यह मनुष्य के अपने हाथ में है, यदि वह चाहें तो स्वर्ग का आनन्द भोगे या नरक के गड्ढे में पड़ा दुःखों की मार में कराहता रहे। जैसा भी वह कर्म अपनाएगा वैसा ही उसका भाग्य बन जाता है। अपने भाग्य की कुंजी उसी के हाथ में हैं, वह चाहे तो उसे खोल कर दैवी सम्पदा से भर सकता है, नहीं तो अहित कर्मफल का परिणाम पाप से।

अतः अपने से बढ़कर मनुष्य का कोई अन्य मित्र नहीं। उसके ही बल पर दृढ निश्चय कर जब वह पुरुषार्थ में आगे बढ़ता है जो क्या नहीं कर सकता? मनुष्य का सच्चा धर्म ही यह है कि वह निज आत्मा की आज्ञानुसार चलकर अपना उद्धार स्वयं करे।

"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानम वसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥"

(गीता)

अर्थात् मनुष्य अपना उद्धार आप ही करे, अपने को गिरने न दे, क्योंकि प्रत्येक स्वयं ही अपना मित्र या शत्रु है।

आप उसकी जो दशा या स्थिति इस समय देख रहे हैं, वह स्वयं ही उसने बनाई है, एक मात्र उसी की शक्ति से वह सब कुछ हुआ है।

आपने देखा होगा कि एक अत्यन्त छोटा प्राणी दीमक अपनी किले बंदी (बांबी) किस लगन और पुरुषार्थ से बनाता है कि मनुष्य को उसको समूल नष्ट करना अति कठिन हो जाता है; फिर मनुष्य इतना बड़ा प्राणी क्या कुछ आश्चर्य नहीं कर सकता?

मनुष्य को अपने पर पूर्ण भरोसा रख कर स्वावलम्बन की आदत अपनानी चाहिये, क्योंकि स्वावलम्बी ही अपना उद्धार आप कर सकता है। जो दूसरे के भरोसे बैठा रहता है, उससे कभी भी बड़ा काम नहीं हो सकता क्योंकि उसने अपनी शक्ति का उपयोग करना नहीं सीखा। जब कि उसी का भाई अपनी शक्ति का सदुपयोग कर कहीं आगे बढ़ जाता है और सुखमय जीवन का आनन्द लेता है।

जिसने अपने को पहिचान स्वावलम्बन का मार्ग अपनाया वही जीवन में आगे आगे उन्नति करता जाता है। मनुष्य-मनुष्य के लिये स्वावलम्बन का मार्ग अपनाना ही सब प्रकार श्रेयष्कर होता है।

"Welcome ever more to God & men is the self helping man."

(श्री एमर्सन)

यह कि स्वावलम्बी व्यक्ति मनुष्यों और देवताओं को भी अत्याधिक प्रिय है, अर्थात् देवता और मनुष्य दोनों एसे व्यक्ति का स्वागत करते हैं, उसके अभ्युदय की कामना करते हैं।"

स्वावलम्बी पुरुषार्थी व्यक्ति की हर एक सहायता करने को तैयार रहता है, यहाँ तक कि प्रकृति भी उसके अनुकूल हो जाती है। होनहार बचा सबको प्रिय हो जाता है, कौन उसकी मदद करने को तैयार नहीं होगा ? अपनी वाटिका में उगा पौधा जो होनहार लगता है, मनुष्य किस खूबी से उसकी सिंचाई गुडाई और देखरेख करता है और बढ़िया खाद देकर उसको बलिष्ट बनाता है।

"कौन भाग्यशाली नर होगा,
जग में उससे बढ़ के ?
परमोन्नति जो करे स्वनिर्मित—
सोपानों पर चढ़ के।"

(अंगराज)

मनुष्य का यह सौभाग्य है कि प्रभु ने उसको सबसे अधिक योग्यता आत्म-निर्माण व उन्नति के लिये दी है, जो अन्य जीवों को नहीं दी गई। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि सब प्राणियों में अधिक प्यारा प्रभु को मनुष्य ही है क्योंकि उसकी दी हुई अपार शक्ति का उपयोग केवल वही एकमात्र सदुपयोग करने में समर्थ है।

स्वर्णकार अपनी बुद्धि के अनुसार स्वर्ण-भूषण तैयार करता है, वह जितनी दक्षता व सुन्दरता से उनका निर्माण करता है, उतने ही अधिक

मूल्य में वे विकते हैं। अतः मनुष्य को अपने मस्तिष्क की अपार स्वर्ण-शक्ति को पहिचान कर उत्तम से उत्तम कर्मा भूषणों के निर्माण में उसका सदुपयोग किया जाना ही बुद्धिमानी व समझदारी है। तभी उसके व्यक्तित्व का अधिक महत्व है और तभी समाज में वह श्रेष्ठ आदर का पात्र बन सकता है। जीवन का संकल्प ही यह हो कि—

"देहं वा पातयेत् अर्थं वा साधयेत्।"

मैं जिस कार्य में जुटा हूँ उसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूरा करूँगा, चाहे यह शरीर रहे या जाय।"

"जीवन है अनमोल।" यह बहुमूल्य मानव देह बार बार नहीं मिलता। इसलिये आज जो सुयोग मिला है, वह कल रहे या न रहे, इसलिये जीवन रहते इस देह का सदुपयोग करना ही बुद्धिमानी है, और ऐसा तभी हो सकता है जब मनुष्य अपने में यह दृढ़ निश्चय करले कि मैं इस हीरे जैसे जीवन को कौड़ी के मोल नहीं बर्बाद होने दूँगा, जिस स्थिति में इस समय हूँ इससे उन्नत स्थिति होकर रहूँगा।

किसी भी परिस्थिति से भिड़ने के लिये पहिले उसके योग्य बनना आवश्यक है।

"First deserve and then desire. पहिले योग्य बनो तव उसके अनुकूल कामना करो।"

मनुष्य में बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिवल ही विशेष महत्व रखता है। दो पहलवान मल्लयुद्ध में भिड़ते हैं। एक अधिक शक्तिशाली है परन्तु मल्लयुद्ध कला में प्रवीण नहीं है, दूसरा कम शक्तिशाली तो है परन्तु मल्लयुद्ध कला में विशेष प्रवीण है। इस प्रकार दोनों की भिड़न्त में कम शक्तिशाली पहलवान अपनी विशेष कला से शक्तिशाली पहलवान को बुरी तरह हरा देता है। इस प्रकार युक्ति शारीरिक बल से अधिक बलवती होती है। युक्ति से कठिन से कठिन कार्य भी सरलता से किये जा सकते हैं। अतः बाहुबल की अपेक्षा युक्ति बल या विचार बल ही अधिक महत्व रखता है।

"Thoughts are mightier than Strength of hand."

इसीलिये कहा जाता है कि बुद्धिमान के सैकड़ों हाथ होते हैं।

"A good head has hundred hands."

मनुष्य जब अपनी आभ्यन्तरिक शक्ति को भूल जाता हैं या उसका उपयोग नहीं करता तो वह सो जाती है और वही जब स्वस्थ सचेत होकर अपने सत्त्व महत्त्व का अनुभव करने लगता है, तब वे सोई शक्तियां जाग जाती हैं।

"मैं केवल इतना ही हूँ।" इस क्षुद्र भावना को अपनाने से जो विशालरूप विभु भी लघुरूप हो जाता है। मनुष्य तो मनोमय है, जैसा वह सोचता हैं, वैसा ही बन भी जाता है। अपने को मिट्टी का पुतला मानने से उसमें जड़ता आ जाती है, उसकी जागी हुई शक्ति भी जड़ता को प्राप्त होकर मनुष्य अकर्मण्य बन जाता है। इसके विपरीत जब वह अपने दिव्यरूप का ध्यान करता है तो उसके स्वभाव व चरित्र दिव्यरूप धारण कर लेते हैं और वह अतुल आत्मबल की अनुभूति अनुभव करने लगता है।

प्रत्येक मनुष्य की बनावट दो प्रकार की होती है—१ दिव्य और २ पार्थिव। प्राय: लोग अपने पार्थिव पक्ष का ही अधिकार ध्यान करते हैं और उसी के अनुसार अपनी दुनियां बसाने में लग जाते हैं दिव्य पक्ष की ओर झुकाव केवल थोड़े लोगों का ही होता है। और इसी पक्ष को अपनाने वाले उत्तम कोटि के कलाकार, पुरुषार्थी व पराक्रमी होते हैं।

मनुष्य का असली कर्त्तव्य यह है कि वह अपने में विशाल रूप ब्रह्म शक्ति को देखे, अनुभव करे और उसी में अडिग विश्वास रख जीवन में आगे आगे बढ़े।

आज के युग में अधिकतर लोग नौकरी कर कमाई करके जीवन यापन का धन्धा समझ बैठे हैं और उनकी सारी लिखाई पढ़ाई भी इसी के लिये होती है। परन्तु यही तो जीवन की प्रगति नहीं। पढ़ाई लिखाई का धन्धा केवल उदर पूर्ति का साधन बनके रह जाय तो, यह तो पाशविक जीवन हुआ।

"He only is advancing in life, whose heart is getting softer, whose blood warmer, whose brain quicker, whose Spirit is entering in to living peace."

(दार्शनिक रस्किन)

केवल उसी का जीवन प्रगति की ओर बढ़ रहा है, जिसका हृदय दिन व दिन मुलायम तर होता जा रहा है, जिसके रक्त की ऊष्मा बढ़ती जा रही है, जिसका मस्तिष्क दिन प्रतिदिन तीव्र होता जा रहा है और जिसकी आत्मा स्थाई शान्ति की दिशा में प्रवेश करती जा रही है।

संसार भर की पुस्तकें पढ़ लेने से क्या यदि आत्मविचार की सद्-भावना अपना कर जीव मात्र में निवास करता हुआ आत्म प्रेम नही देखा तो ?

"पोथी लिख पढ़ क्या हुआ–
किया न आत्म विचार।
जीव मात्र में वसत है—
आत्म प्रेम का सार॥"

आज के युग में जिस प्रकार की शिक्षा का प्रचार व प्रसार हो रहा हैं, क्या उससे अज्ञानान्धकार दूर हो जायगा ? मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास हो जायगा ? इस समस्या को महान् दार्शनिक रस्किन ने गम्भीरता से सोच कर कहा था—

"You might read all the books in the British Museum & remain an utterly 'illiterate.' uneducated person, but if you read ten pages of a good book, letter by letter...... that is to say, with real accuracy.........you are forever more in some measure an educated person."

अर्थात् वृटिश म्यूजियम की सारी पुस्तकें पढ़ कर भी 'आप' अशिक्षित मनुष्य बने रह सकते हैं और किसी अच्छी पुस्तक के केवल १० दस पन्ने पढ़

कर भी आप किसी हद तक 'शिक्षित' बन सकते हैं. वशर्ते कि आप पढ़ें ठीक से, प्रमाणिकता से।'

यहाँ ठीक से पढ़ना क्या अर्थ रखता है ? इसका अर्थ है पढ़ने के बाद गुनना। पढ़ना और गुनना ये दो शब्द आपस में बड़े भेद से भरे हैं। आज के युग में पढ़े लिखे तो करोड़ों में मिल जायेंगे पर गुने हुए तो केवल अंगुलियों पर गिनने लायक ही मुश्किल से मिलेंगे।

"इल्म चन्दां कि वे शतर ख्वानी।
यूं अमल दर तो नेस्त नादानी"

तू चाहे जितनी विद्या पढ़ जाय, यदि उस पर अमल नहीं है, तो सिर्फ नादानी है।"

बस इसी का नाम है पढ़ना और गुनना।
शिक्षा का लक्ष्य है—मुक्ति।

"सा विद्या या विमुक्तये।"

यदि हम नाना प्रकार के आपसी द्वेष भाव व कलह आदि से मुक्त न हुये, मानव मानव के बीच में फैली हुई विरोधी भावना को दूर न कर सके तो धिक्कार है हमारी शिक्षा पर, धिक्कार है हमामी विद्या प्राप्ति पर।

इसीलिये हमारे यहां कहा है—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जगमुआ—
पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर 'प्रेम' के—
पढ़े सो पण्डित होय॥"

मानव मानव से प्रेम। पशु-पक्षी से प्रेम। कीट-पतंग-जीव मात्र से प्रेम। पेड़ पौधों से प्रेम। चर-अचर सृष्टि से प्रेम। सृष्टि कर्त्ता से प्रेम। बस सारे जीवन की सार्थकता इसी में सापूरित है।

विश्व प्रेम के लिये हमें अन्तर्दृष्टि कर अन्तर्ज्ञान की ओर जाना होगा, अपने को पहिचानना होगा।

आत्मज्ञान (अन्तर्ज्ञान)

इसका सीधा अर्थ हैं, अपने को जानना, अपनी सोई अपार शक्ति को को जगाना। अपनी मनुष्यता, विलक्षणता व पूर्णता को जानकर उसके अनुसार ही आचरण करना। लोक में प्रायः देखा जाता है कि जब तक किसी चीज वस्तु व विषय को भली भांति न जाना जाय या समझा जाय तब तक उसके विषय में भय व शंका बनी रहना स्वाभाविक ही है, इसी से तब तक उसका उपयोग भी ठीक तरह नहीं किया जाता। ठीक जान लेने पर ही उसका सदुपयोग कर लाभ उठाया जा सकता है।

हमारे पुरखा घर में धन से भरे कलस गाढ़ कर रख गये थे, परन्तु जब तक हमें उसका ठीक ठीक पता नहीं, वह सब हमारे लिए मिट्टी ही है। इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर जो दिव्य शक्ति का खजाना भरा पड़ा है, उससे यदि वह अपरचित है, तो सब व्यर्थ है।

आत्म ज्ञान का सबसे सुगम मार्ग यही है कि हम जैसे अपने प्रति दूसरों से उत्तम व्यवहार या आचरण चाहते हैं, ठीक वैसा ही हम दूसरों के प्रति भी बरतें। प्रत्येक कर्म में प्रवृत्त होने से पहिले भीतर की आवाज व संदेश (आत्म संदेश व आत्मध्वनि) को सुन व समझ कर ही आचरण करें, जिस काम को करने को हमारी आत्मा आज्ञा दे उसी को करें, आज्ञा न मिलने पर न करें।

इस प्रकार के आचरण से ही सोई हुई सद्वृत्तियां जाग उठती हैं। सद्विचारों का स्रोत फूट पड़ता है। सुख, प्रेम व आनन्द का अधिकाधिक अनुभव होने लगता है। मनुष्य जीवमात्र में अपनी आत्मा का अनुभव करने लगता है। संकुचित प्रेम का दायरा विस्तृत होने लगता है। लघुरूप की अनुभूति विशाल रूप में बदलने लगती है तब तो दिनों दिन आनन्द के दरिया में स्नान होने लगता है। वास्तविकता को पहिचानने लगता है।

वास्तविकता का ज्ञान होने से आत्मतृप्ति के साथ आत्मस्फूर्ति का भी अनुभव होने लगता है। सृष्टि का स्वभाव ही सत्य की ओर बढ़ने का

होता है, क्योंकि वह भी तो सत्य (आत्मा) से निकलती है। नदी का प्रवाह सदैव अपने अथाह भन्डार समुद्र को ओर ही हुआ करता है।

"तत्त्वपक्ष पातोहि धियो स्वभावः।"

बुद्धि का स्वभाव ही आत्मतत्व (आत्मज्ञान) की ओर बढ़ना है। भ्रम, शंका, इसके मार्ग में बाधाएं हैं, इनसे असन्तोष का जन्म हो जाता है जिससे आत्मबल का ह्रास होता है और मनुष्य को हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान आत्मिक स्वस्थता के लिये नितान्तावश्यक है।

आत्मा में जन्म जन्मान्तर के अनुभव

मनुष्य शिशु रूप से कौमार, कौमार से युवा और वृद्धत्व प्राप्त होने तक जीवन में अनगिनत ठोकरें खाता है, इनसे अनेकों शिक्षा व अनुभव प्राप्त करता है और इस प्रकार उमर बढ़ने के साथ साथ अपने अनुभव व ज्ञान तथा जानकारी में उत्तरोत्तर परिपक्व होता चलता है। यह सब कुछ उसमें वर्षों के परिश्रम का फल ही है।

वर्तमान में मनुष्य के अन्दर जो आत्मा है, वह भी अनेकों जन्मों परिश्रमों व अनुभवों के ज्ञान से परिपक्व होती है। इस प्रकार का आत्मा में जो विशेष ज्ञान व अनेक पूर्व जन्मों के संचित गुण होते हैं, उन सबका उपयोग केवल आत्मज्ञान होने पर ही प्राप्त करना सम्भव है और वह एकमात्र सद्-वृत्ति अपनाने से ही।

आप देखते हैं कि बचपन में कई बच्चे विशेष प्रतिभा के होते हैं। वह उनमें एक मात्र पूर्व जन्म के अनुभव का प्रकाश ही हैं। कई बच्चे तीक्ष्ण बुद्धि के होते हैं, जो जरा संकेत मिलने पर ही विषय व बात का सब भाव जान जाते हैं, यह भी उसके पूर्व जन्म का विशेष अनुभव का ही द्योतक हैं। आत्मा में अनेकों जन्मों के संस्कार व गुण बीज में मौजूद रहते हैं, जो जरा से उधर ध्यान जाने से सारा ज्ञान स्रोत फूट पड़ता है। आत्मा में निरन्तर चिन्तन व मनन करने से दिव्य विचारों की सरिता फूट पड़ती हैं और तब

मन नित्य उसमें स्नान करता हुआ भी नहीं अघाता; यहाँ तक कि अभ्यास परिपक्व होने पर कई सिद्धियों पीछे पीछे फिरने लगती हैं।

वैदान्त हमें यही शिक्षा देता है कि संसार में रहते हुये अपने दैनिक कर्म करते हुये उस सर्वव्यापी विभु को न भूलो। तभी जीवन का सौन्दर्य है। इसीलिये महाराज जनक ने इस प्रकार के जीवन को अपनाया था। अपने दैनिक राजकाज के काम को करते हुये भी वे प्रभु को न भूले। आत्मैकत्व के दर्शन का यही मार्ग है, जो सब प्रकार अनन्द मय व जीवनोद्धारक है। इस प्रकार मनुष्य जब उस सर्वेश्वर को भजने लगता है तो दिनों दिन उसकी श्रद्धा भक्ति उस मार्ग में बढ़ने लगती है, फिर तो बिना उनके प्रसंग की कोई बात व कथा उसे अच्छी ही नहीं लगती और उत्तरोत्तर उसकी रुचि भगवद विषयक चर्चा श्रवण आदि में बढ़ते बढ़ते फिर रहस्य स्वयं खुलने लगते हैं माया ममता, मोह का पर्दा दूर होकर वास्तविक ध्येय वस्तु सामने देख आनन्द विभोर रहने लगता है। जिस प्रकार काजल को नेत्रों में आँजने से रूह स्पष्ट दीखने लगते हैं।

आप कहेंगे कि भगवद् भक्त को रहस्य कैसे प्रगट होने लगते हैं ? बच्चा जब पिता को आयन्त प्रिय हो जाता है तो अपना छिपा हुआ खजाना पिता उसके लिये खोल देता है ठीक इसी प्रकार भगवान भी अपने रहस्यों का पिटारा अपने भक्त के लिये खोल देता है जिससे वह गुप्त बातों व समस्याओं को सरलता से जानने लगता है।

इस दुःख भरे संसार में रहते हुये भी आनन्द मय जीवन बिताने का सिद्धान्त हरएक आसानी से मानने को तैय्यार नहीं होगा। इसके लिये कोई ठोस प्रमाण देना यहाँ आवश्यक है।

आप रामलीला देखते हुये वहां पर देखते हैं कि दुष्ट रावण माता सीता को नाना प्रकार से डरा धमका रहा है। आप रावण के इस क्रूर व्यवहार पर भी कुछ नहीं करते व कहते क्योंकि आपको मालूम है कि यह नाटक है आप नाटक का आनन्द ले रहे हैं और अत्याचारी के खिलाफ एक आवाज तक नहीं निकालते। अब आप प्रत्यक्ष रूप में सड़क पर जाते हुये

देखते हैं कि एक गुड़ा एक नौजवान स्त्री से छेड़ खानी करता हुआ उसे परेशान कर रहा है। आप झट उस पर टूट पड़ते है और उसे उसके इस दुष्ट व्यवहार के लिये खूब फटकारते हैं, और उस नौजवान स्त्री की लाज बचा डालते हैं।

अब इसमें विचार का भेद देखिये। नाटक में जगन्माता सीता पर अत्याचार होते हुये भी आप कुछ न बोले और एक अनजान स्त्री पर एक गुड़े के अत्याचार पर आप आग बबूला होकर उस पर टूट पड़े और अबला की रक्षा करने में समर्थ हुये। यहां आपने नाटक के दृश्य को देखकर काल्पनिक होने से कुछ न कहा। इस दृष्टान्त से द्वैती और आद्वैती का भाव आसानी से समझा जा सकता है। दोनों द्वैती और अद्वैती अपनी इन्द्रियों से समान अनुभव करते है, पर द्वैती (परमात्मा और संसार दोनों को सत्य मानने वाला) संसार में होने वाले सुख दुःख को वास्तविक मान लेता है तथा निराशा और दुःखों का शिकार हो जाता है, जब कि अद्वैती समझता है कि सब यह सांसारिक सुख दुःख कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं; (नाटक में सीता और रावण के दृश्य के समान) इनसे प्रभावित न होकर तटस्थ बना रहता है।

निरन्तर सत्कर्मों में रत रहने से मनुष्य अपनी वास्तविकता की ओर बढ़ता जाता है और आत्मज्ञान का अनुभव करने लगता है। आत्म ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति के लिये आत्मा का पोषण आवश्यक है और आत्मा का पोषण एक मात्र सद्भावनाओं या दैवी गुणों के अपनाने से ही सम्भव है। इसके लिये हृदय की सहज वृत्तियाँ, सत्य, विश्वास, श्रद्धा, उदारता, प्रेम, न्याय, धैर्य, आशा, उत्साह, दया, करुणा, त्याग, अहिंसा और निर्भयता आदि को अपनाना जरूरी है। इनके द्वारा संस्कारित हृदय के अन्दर सहज ही प्रसन्नता, स्फूर्ति और शान्ति का जागरण होता है। इस प्रकार सुसंस्कृत हृदय होने से ही व्यक्ति का आत्मबल व आनन्द बढ़ता है।

"स्वर्गः सत्वगुणोदयः।"

(श्रीमद् भागवत)

हृदय में जब सात्विक गुणों का उदय होता है तो वही मनुष्य के लिये स्वर्ग या ऐश्वर्य है। मनुष्य को स्वर्ग या नरक में ले जाने के लिये उसके भले या बुरे विचार ही एक मात्र कारण होते हैं। जो निरन्तर सद्-विचार रत रहा है। वह स्वर्ग भोग कर रहा है और असद् विचारों का धारण करने वाला नरक भोग रहता है, यों समझना चाहिये। अतः स्वर्ग पर आशा बांधने से निश्चय ही स्वर्ग और निराशावादी विचार अपनाने से नरक की प्राप्ति होती है। बस इसी आशा व निराशा पर मनुष्य का भाग्य बनता या बिगड़ता है।

आशा या निराशा से ही पता चल जाता है किसी व्यक्ति का जीवन शक्ति सम्पन्न है या शक्तिहीन, वह सफल होगा या विफल। आशावादी प्रत्येक वस्तु का वास्तविक रूप देखता है और उसकी पूर्णता में विश्वास रखता है। जबकि निराशावादी एकाकी दृष्टि कोण अपना कर खण्डित रूप में देखता है। आशावादी बुद्धि से विचार करता है और ठीक उसी के अनु-सार आगे बढ़ता है। जबकि निराशावादी जड़ता के अन्धकार में पग पग पर ठोकरें खाता फिरता है। आशावादी अपने संसार को सुखमय, शान्तिमय एवं स्वर्गीय बनाने की चेष्टा करता है। उधर निराशावादी नरक कुण्ड में स्वयं जो गिरता ही है परन्तु अपने साथ औरों को भी ले जाता है।

आशावादी अपने प्रयास में कभी भी हताश नहीं होता। एक अंग्रेजी दार्शनिक कहता है—

"Never despair; but if you do work on in despair. कि कभी हताश न हो, लेकिन यदि निराशा का अवसर आ ही जाय तो निराशा में भी काम करना न छोड़ो।" आशा में धैर्य व उत्साह जुड़े रहते हैं और इसी से काम की गति में तेजी आ जाती है। धैर्य ओर उत्साह ही आशा को फलीभूत करते हैं।

जिस हृदय में धैर्य व उत्साह के साथ आशा की ज्योति ज़ल रही है, वह वृद्ध शरीर में रहते हुये भी नौजवान ही है, क्योंकि यही तो असली

प्राशशक्ति है। जिसमें यह प्राणशक्ति नहीं वह चाहे नौजवान ही क्यों न हो वह प्राणशक्ति से हीन निरर्थक जीवन यापन कर रहा है।

आशावादी में ही आत्म बल होता है, क्योंकि उसका अपने पर पूरा नियन्त्रण होता है, और वह सदाचारी होता है। एक अंग्रेजी विचारक ने कहा है—

"Most powerful is he, who has himself in his power. यह कि सबसे शक्तिशाली वह है, जो अपने आपको अपने नियन्त्रण में रक्खे रहता है।" क्योंकि एकमात्र आत्मनियन्त्रण (संयम) से ही आत्मबल, मनोबल, शारीरिक बल, बढ़ते हैं और अन्तर्द्वन्द्व मिटता है। मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है एवं चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

"Concentration of mind is the Key of all successes." अर्थात् चित्त की एकाग्रता ही सब सफलताओं की जननी है।

जीवन में निराशा के अन्धकार को आशा की ज्योति जलाकर ही मिटाया जा सकता है।

"हटा तामस निराशा का जला आशा की ज्योती को।
अंधेरा दूर होता है, जला दीपक की ज्योती को॥

महाकवि गेटे ने कहा है—

"Freedom alone he learns as well as Life;
Who day by day must conquer them a new."

अर्थात् स्वाधीनता और सजीवता केवल उसी को उपलब्ध होते हैं, जो दिन व दिन उनका उपार्जन करता जाता है।" इसलिये निरन्तर कर्म में लगे रहने पर ही जीवन की सार्थकता व सजीवता है। क्योंकि कर्म की महत्ता से ही मनुष्य की महत्ता जानी जाती है। स्वामी रामतीर्थ ने एकबार कहा था—"तुम जो कुछ भी करते हो उसमें पूर्णरूप से दिखाई पड़ो; बस तन मन धन से जुट जाओ।

"Be all you are in all you do."

भाव यह कि मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य पर अपने व्यक्तित्व की छाप, योग्यता की मोहर लगा देनी चाहिये। वैसे सृष्टि से ईश्वर की, कविता से कवि की और वृक्ष से बीज की महिमा प्रगट होती है।

मनुष्य नव जीवन का अनुभव अधिक से अधिक सम्पर्क स्थापित कर लेने से कर सकता है—आप वृक्ष व लताओं की ओर दृष्टि कर देखिये। जितनी अधिक जड़ें वे भूमि पर फैलती हैं, उतने ही अधिक पोषक तत्त्व वे प्रकृति से अपने लिये खींचते हैं, जिससे वे खूब पुष्ट होते जाते हैं। उस छोटी सी दूर्वा (दूब) को देखिये, कितनी असंख्य जड़ें वह भूमि पर फैलाती हैं और सदैव ही ताजी व हरी भरी बनी रहती है, नित नये यौवन में इठलाती फिरती है मानो नित नया योवन ही वह अपने भाग्य में लिखकर लाई हो। इसी प्रकार मनुष्य भी नव जीवन का अनुभव अधिक से अधिक सम्पर्क स्थापित करने से कर सकता है। इसके लिये नई २ बात व विषय या कला सीखने के लिये उसमें नित नया उत्साह या उमङ्ग होनी जरूरी है।

एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है—"होने का अर्थ है, दूसरे पदार्थों के साथ और और सम्बन्ध जोड़ना....एक चेतन पदार्थ जितनी अधिक चीजों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है, उतना ही अधिक वह सजीव है। खूब जीने का अर्थ अपने सम्बन्धों के क्षेत्र और प्रगाढ़ता को बढ़ाने के सिवाय कुछ नहीं। यदि आप अपने नियमित व्यवसाय में ही दिलचस्पी रखते हैं तो आप उसी सीमा तक जीते हैं, अन्य विषयों से मुर्दा हैं। नये मित्रों और नये सम्बन्धों से हम नया जीवन प्राप्त करते हैं। इस जीवन क्षेत्र को संकुचित व सीमित होने से बचाना चाहिये। जिससे कि उसमें नित नये गुणों की वृद्धि हो, नये नये अनुभव प्राप्त हों। कर्म करने के लिये नित नई स्फूर्ति बनी रहे और इस प्रकार जीवन शक्ति अधिक से अधिक बढ़ती रहे। इस प्रकार जीवन नवीन व व्यापक बनता जाता है।"

मनुष्य को यह समझना चाहिये कि वह एक अनन्त वृहत् ज्योति का ही अंश है जैसे जल के एक बूंद में भी अथाह सिन्धु का जल है। यह

ज्योति जितनी अधिक विकसित व प्रकाशित हो उसी में मानव जीवन की अधिक सार्थकता है।

स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था—

"अपनी दुनिया को छोटी मत होने दो, उसकी संकीर्णता एव लक्ष्य हीनता से जीवन नीरस और अस्त व्यस्त हो जाता है। उसके क्षेत्र को बढ़ाते रहने से जीवन में सरसता और नित्य नवीन स्फूर्ति उत्पन्न होती है—और यही नवजीवन है।"

इस संसार में धन्य वही जीवन है जो निरन्तर यशोपार्जन में लगा हुआ है। महाकवि गेटे ने कहा था—"इस स्थूल शरीर के नाश के बाद भी युग युगों तक जीवित रहने में ही गौरव है।"

मनुष्य अपने उज्ज्वल चरित्र और महान् गुणों से ही यशस्वी होता है। एक उर्दू के कवि ने खूब ही कहा है:—

"हंस के दुनिया में मरा कोई, कोई रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर, उसने जो कुछ होके मरा।"

कुछ होके मरा का अर्थ है—मरने के बाद भी जो जीवित रहता है।

उचित कर्म में कभी देरी नहीं होनी चाहिये "शुभस्य शीघ्रम्"—उसको जितना शीघ्र हो आरम्भ कर देना चाहिये। महाकवि गेटे ने भी कहा है—

"What you can do or think you can begin it
Boldness hath genius power & magicinit,
Only engage & then the mind gets heated.
Begin and soon your task will be completed.

"यह कि जो कुछ भी तुम कर सकते हो, या सोचते हो कि तुम कर सकते हो— शुरू कर दो; अध्यवसाय में एक ऐसा बल होता है कि समस्त प्रतिभा और योग्यता जादू की तरह काम करने लगती है। बस कर्म की भट्टी में अपने को झोंक दो; इस प्रकार लगा देने से ही तुम्हारी बुद्धि में एक प्रकार की उष्णता आजायगी। इसलिये शुरू कर दो और तुरन्त देखोगे

कि तुम्हारा चिन्तित कार्य पूरा होते देर न लगी—बात की बात में वह पूरा होगया।"

अपनी शक्ति को समझकर उचित कार्य को करने का निश्चय कर उसमें तुरन्त पूरी शक्ति से जुट जाने से ही सफलता पकड़ी जाती है। जो व्यक्ति समय को यों ही वर्बाद करता है, उसके जीवन को समय भी नष्ट कर देता है। महाकवि शेक्सपियर ने अपने एक पात्र के मुख से कहलवाया—

"I wasted time & now doth time wastes me." कि पहिले मैंने समय को वर्बाद किया, और अब समय मुझे वर्बाद कर रहा है।"

प्रसिद्ध कवि कौले ने कहा है—

"To morrow I will live—
The fool doth say.
To day it self is too late,
The wise men lived yesterday."

—(Cowley)

वह मूर्ख है जो कहता है कि मैं आगामी दिन से अपना कार्य आरम्भ करूँगा। आज तो बहुत बिलम्ब होगया है; बुद्धि मान लोग तो कल ही अपना कार्य समाप्त कर चुके है।" बुद्धि मान भविष्य के भरोशे नहीं बैठता, वर्तमान में जो भी अवसर उसे उपलब्ध है, उसी को वह सदुपयोग में लगाता है। मनुष्य को इसे अपने हृदय पटल पर लिख लेना चाहिये कि प्रत्येक दिन साल का सबसे उत्तम दिन है—

"Write it on your heart that every day is the best day in the year."

मूर्ख ही यह कहा करते हैं कि हमारे पास न समय है न साधन। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

"ये शूराः ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन्वद दैवं प्रतीस्यन्ते ॥"

कि जो लोग शूर हैं, उन्नति करने वाले हैं (पुरुषार्थी हैं, बुद्धिमान

हैं, ज्ञानी हैं—बतलाओ उनमें से कौन इस संसार में भाग्य की प्रतीक्षा करता है ? केवल मूर्ख ही अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं।

उद्योगी के लिये प्रत्येक मुहूर्त्त नया भाग्य लेकर आता है, क्योंकि अपने उद्योग से ही वह अपने भाग्य का निर्माण करता है। मूर्ख और बुद्धि मान में भेद यही है कि मूर्ख भाग्य के सहारे बैठा रहता है जब कि बुद्धिमान निरन्तर पुरुषार्थ से अपना भाग्य स्वयं बनाता है। ज्योतिषियों के पास वर्ष फल व जन्मपत्रा दिखाते फिरना केवल अकर्मण्य व मूर्खों का ही काम होता है।

बुद्धिमान व वीर अपने पराक्रम से ही आगे बढ़ते हैं, वे दूसरों की सहायता की प्रतीक्षा में कभी भी अपनी प्रगति में ढील नहीं आने देते। दूसरों की सहायता पर वे भरोशा नहीं रखते वे अपने पराक्रम पर भरोशा नहीं रखते वे अपने पराक्रम पर भरोसा रखकर कर ही अपने लक्षित कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को बुद्धि शूर चाणक्य की भांति युक्ति बल के आश्रय से सामर्थ्यवान् होने का अपना कार्य पूर्ण करने का संकल्प करना चाहिये। 'मुद्राराक्षस' में लिखा है कि जिस समय लोगों के मुख से चाणक्य ने सुना कि कई प्रभावशाली व्यक्ति उसका साथ छोड़कर विपक्षियों से जा मिले हैं, उस समय उस बुद्धि गर्भ ने उच्च स्वर से स्वाभिमान में कहा—"जो चले गये हैं, वे तो चले ही गये हैं, जो शेष हैं वे भी जाना चाहें तो खुशी से। नन्द वंश का विनाश करने में अपने पराक्रम की महिमा दिखाने वाली और कार्य सिद्ध करने में सैकड़ों सेनाओं से भी बढ़कर अधिक बलवती केवल एक मेरी बुद्धि तो मेरे साथ है।"

मनुष्य एक बुद्धिप्रधान जीव है। मनुष्य के शिर को इसीलिये देव कोष माना है। 'वह शिर भली प्रकार मुंदा हुआ देवों का कोष है। प्राण, मन और आहार उसकी रक्षा करते हैं।" (अथर्ववेद)

मनुष्य का दैवीबल इसीलिये उसके मस्तिष्क से प्रगट होता है। इसी से दिव्यचक्षु उसका मस्तिष्क में बताया गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

जब मनुष्य सोता है और आँखें वन्द रहती हैं तो स्वप्न में जो कुछ दीखता है, वह एक मात्र दिव्य चक्षु का ही काम है। यह भीतरी नेत्र ही बुद्धि का नेत्र है। इसी आशय की एक अंग्रेजी कहावत भी है—

"The wise man's eyes are in his head." इस दिव्य चक्षु के स्पष्ट, स्वच्छ व वलवान् होने पर मनुष्य अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष देखता है। योगियों में यह दिव्य चक्षु स्पष्ट होने से ही वे त्रिकालदर्शी कहलाते हैं। जिनमें यह दिव्य चक्षु अधिक वलवान् होता है, वे कार्य करने से पहिले ही कार्य के भावी परिणाम को पूर्व ही जान लेते हैं और तब नि:संकोच कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

मनुष्य का दिव्य चक्षु (बुद्धि नेत्र) केवल आत्म संयम, तपस्या और सतत अभ्यास से ही स्पष्ट, परिवर्द्धित और विकसित होता है। प्रबल आत्म शक्ति के वल से दिव्य चक्षु का खुलना सम्भव है। और प्रबल आत्मशक्ति एक मात्र तपस्या (कठोर आत्म नियंत्रण) से ही प्राप्त की जा सकती है।

"यद् दुष्करं यद् दुण्यं यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम्।
सर्वं तत् तपस्पसाध्यं तपो हिदुरति क्रमः ।।

(मनु०)

तप से कोई सिद्धि, कोई सुख, कोई पद, कोई भी सांसारिक वैभव, दुर्लभ से दुर्लभ भी प्राप्त किया जा सकता है।" महात्मा व योगियों में जो चमत्कारक सिद्धियों दिखाई देती हैं उनके पीछे उनकी कठिन तपस्या ही एक मात्र कारण है। आज के वैज्ञानिक युग में भी इसी तप के कारण मानव अन्तरिक्ष की सैर करने में सफल हुआ है और वह दिन दूर नहीं जब मानव यान चन्द्रमा आदि में सफलता पूर्वक उतरेगा। आज भी विज्ञान के जो चमत्कार देखे जा रहे हैं, वे भी तो एक मात्र तप की ही उपज हैं। कई असम्भव लगने वाले काम आज भी तप के ही द्वारा सम्भव होते देखे गये। कठोर परिश्रम से ही महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं। इस सृष्टि की रचना भी भगवान् ने कठोर तप करके ही की है। तप से ही कारीगर की कला की सुन्दरता आंकी जाती है। साहित्यकार की महत्वपूर्ण रचना को पढ़कर

मालूम हो जाता है कि उसने कितना कठोर तप की आहुति इसमें लगाई है। वाटिका की सजावट व सुन्दरता से पता चलता है कि उसके माली ने इसमें कितना कठोर परिश्रम (तप) किया। तपस्या का सुगम अर्थ है कि संयम-नियम के साथ कष्ट भोगते हुये निरन्तर अपने ध्येय की साधना में दत्तचित्त रहना। तपस्या एक प्रकार का दीर्घकालीन नियम बद्ध अभ्यास है। अभ्यास से ही किसी कठिन काम में परिपूर्णता आती है। किसी काम में दक्ष बनने के लिये सतत अभ्यास नितान्तावश्यक हैं—"Pract.ce alone, makes a man perfect."

मनुष्य को सदुद्देश्त की सिद्धि के लिये सात्विक श्रम, साधना, अभ्यास, मनोयोग, योगाभ्यास, प्राणायाम, शीर्षासन, व्यायाम आदि आवश्यक हैं। मनुष्य जब शारीरिक व्यायाम करता है तभी उसके अंग-प्रत्यंग सुसंगठित, परिपुष्ट और स्वस्थ रहते हैं और कोई भी रोग अचानक आक्रमण नहीं करने पाता, साथ ही देह में नई स्फूर्ति व तेज की रौनक आकर उन्नत स्वास्थ्य का लाभ होता है। इससे आत्मिक सद्वृत्तियों जागती हैं और मनुष्य को सदाचार की राह पर चलना विशेष सुखमय प्रतीत होने लगता है।

महान् सन्त तुकाराम ने एक बार कहा था "असाध्य को साध्य करने का बस एक ही उपाय है—निरन्तर अभ्यास।" एक बार एक मूर्तिकार को किसी ने पूछा कि इस मूर्ति के निर्माण में आपका कितना समय लगा है। मूर्तिकार ने उत्तर दिया "इसको १० दिन में बनाने के लिये मुझे ३० वर्ष की कठिन तपस्या करनी पड़ी। अर्थात् यह मेरे ३० वर्ष के सतत अभ्यास का ही परिणाम है, जो मैंने इसे केवल १० दिन में ही बना दिया है।" अतः विना कष्ट भोगे न विद्या आती है, न दक्षता मिलती है, न सफलता और न सिद्धि।

"बिना चढ़े कमान के कैसे लागे तीर ?"

किसी काम को परिश्रम से बार २ करना ही अभ्यास कहलाता है, इसी को पुरुषार्थ भी कहते हैं, बिना उसके जीवन में किसी प्रकार की उन्नति व सुख नहीं है। अपनी व दूसरों की उन्नति के हेतु मनुष्य को साधु बनना

आवश्यक है। साधु वह है जो सतत सत्कर्म में जुटा हुआ उन्नति राह का पथिक हुआ है। जो किसी के दोष को मुख पर नहीं लाता, चुपचाप उपेक्षा कर देता है या सहन कर देता है। जैसे शिव ने विष को पचा लिया। कभी उसे प्रगट नहीं किया, साधु व्यक्ति न किसी के दोष देखता है न सुनता ही है। उसके पास व्यर्थ समय नहीं होता। उसका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् होता है। साधु अपने दोष व त्रुटियों को स्वयं ही दूर करता रहता है, जिससे उनका कुप्रभाव अन्य लोगों पर न पड़ने पावे।

"यथाहि निपुणः सम्यक् पर दोषे क्षणं प्रति।
तथा चोन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत् बन्धनात् ॥"

अर्थात् जैसे पुरुष पर दोषों का निरूपण करने में अति कुशल है, य दि वैसे ही अपने दोषों को देखने में हों तो ऐसा कौन है, जो संसार में कठोर बन्धनों से मुक्त न हो जाय।

महान् बनने के लिये आत्म शुद्धि का मार्ग अपनाना जरूरी है। अतः अपने से दोषों को चुन-चुन कर फेंको। इसमें अपने साथ किसी प्रकार की रिआयत न वरतो।

"अत्रा जहीत ये असन्न शिवाः।"

(अथर्व वेद)

हे साधको ! श्रेष्ठ बनने के लिये, अपनी उन्नति के लिये और आगे बढ़ने के लिये अपने दोषों और दुर्गुणों का पूर्णतः त्याग करो। हृदय में सद्भाव को अपनाओ।"

साधु के स्पष्ट लक्षण—

अपने परिश्रम से जो भी उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहने वाला, मृदु-मधुर स्वभाव वाला, समानचित्त, जितेन्द्रिय, अनिन्दक, निर्वैर, दयालु, शान्ति, निश्छल, निरपेक्ष, निरंहकार, बीतराग, मननशील, लोभ क्रोध, मोह, मद काम आदि दुर्गुणों से रहित, सहिष्णु, परहित परायण और विवेकी व्यक्ति साधु कहा जाता है।

(पद्मपुराण)

महाभारत में भी साधु के विषय में कहा है—

"अद्वैष्टा सर्वभूतानाँ मैत्रः करुण एव च ।"

"आत्मवत् सर्वं भूतेषु ।"

अपने जैसा समझो, यह बात हमारे यहाँ सबको बार बार कही जाता है। किसी को कष्ट न दो। मन वाणी कर्म से किसी का अहित न करो। सबकी भलाई में साझीदार बनो। वेदों में भी कहा है कि ऐ मनुष्यो श्रेष्ठता प्राप्त करते हुये सब हृदय से मिल जुल कर रहो। एक दूसरे की सहायता करते हुये निरन्तर आगे आगे बढ़ते रहो। परस्पर मृदु भाषण करते हुये निरन्तर सत्कर्मों में अनुरक्त रह अपने भाग्यों को बढ़ाओ। यह बात कभी न भूलो कि परोपकार से पुण्य होता है और पर पीडन से पाप।

"परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीडनम् ।"

(व्यास)

जो अपने लिये अहितकर जंचे उसे दूसरे के लिये भी अहित कर समझ कभी न करो ।

हमार सनातन धर्म में भूत शब्द भी तो बहु व्यापी हैं। इसमें मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, पौधे सभी आ जाते हैं। इन सबको समान समझ कर ही सबके कल्याण की भावना से ही नित्य करणीय 'भूत यज्ञ' की जीव सृष्टि—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज, सम्मिलित है। इन सब भूतों के कल्याण के लिये मनुष्य को ही धर्माधिकार दिया गया है कि वह प्रतिदिन अपने आहार करने के साथ-साथ इन भूतों को भी कुछ दाना चारा देवे जिससे वे भी भूखे न रहे। इसके लिये ही त्याग के महत्व को दर्शाया गया है। त्याग के लिये भोग से विरत होना आवश्यक है। इसीलिये गृहस्थ में रहते हुये भी हम त्याग व भोग दोनों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं। समन्वय किये विना हम इस भावना की पूर्णता तक नहीं पहुँच सकते। इसी से वह विदेह स्थिति प्राप्त हो सकती है, जिसके कारण सब राज काज करते हुये भी राजा जनक विदेह कहलाए। राजा थे परन्तु भोक्ता नहीं। यही भोग व त्याग का समन्वय है। यही निर्लेप स्थिति है। जैसे कमल जलमें रहते हुये भी जल से निर्लिप्त है।

भोग के त्याग से स्वतः सुख उत्पन्न होता है। जिन भोगों में हम सुख देखते हैं, वास्तव में उनमें सुख नहीं। यदि उनमें सुख होता बड़े २ धनिकों की नींद क्यों हराम होती, वे क्यों दुःखी जोवन व्यतीत करते। वास्तव में जिस सुख को मनुष्य बाहर ढूँढता फिरता है वह तो उसके भीतर ही है और वह अपने में उठने वाली वासना की शन्ति में है।

फूट बाल में जब तक वह संकुचित व सिकुड़ा रहता है अपने विशाल पन को प्राप्त नहीं होता जब हवा भर दी जाती है जो विशालता को प्राप्त हो अपने आप भी हर्ष से फूला नहीं समाता और दूसरों को भी प्रसन्न करता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य से जब वासनाओं की क्षुद्रता दूर हो जाती है विशालता की शान्ति आ छाती है तो उसका व्यक्तित्व फैलता है। बस अपने क्षुद्रत्व या अल्पत्व को दूर कर विशालता के बढ़ाने में ही वास्तविक सुख है। परन्तु यह हृदय की विशालता सबको अपना ही रूप समझने में आयगी तभी हम कह सकेंगे—

"अयंनिजः परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानाँ तु वसुधैव कुटुम्वकम् ॥"

कि यह मेरा यह तेरा—यह विचार संकुचित व्यक्तित्व वालों का होता है। विशाल व्यक्तित्व वालों की दृष्टि में तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही उनका कुटुम्व होता है।"

मनुष्य जब अपने आप को शरीर मात्र समझ बैठता है तो उसका व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है। तब वह अपने शरीर मात्रा की तुष्टि या उसके लिये सुख के साधनों को परम तत्व मान कर उनके संवर्धन, पोषण तथा रक्षण में ही तल्लीन रहता है। 'मैं और मेरा' इस जेल में वह अपने को बन्द कर विशालता से अपने को अलग कर देता है। अतः विशालता प्राप्ति के लिये उस बन्द जेल से बाहर निकल आना, उससे दूर चला जाना, उसे भूल जाना अति आवश्यक है। इसके विना न संकोच (क्षुद्रत्व) दूर होगा न सुख ही प्राप्त हो सकेगा।

इसके लिए उसे अपने प्रेम के दायरे को बढ़ाना होगा। 'आत्मवत्

'सर्वभूतेषु' का महान् विचार अपनाना होगा। अपने प्रेम की सीमा को निरन्तर विस्तार करना होगा। प्रेम ठीक रबड़ के समान होता है, जो विस्तार से निरन्तर फैलता है, टूटता नहीं। इस प्रेम के प्रवाह में जितना अधिक तैर सकोगे उतना ही अधिक सुख व शान्ति की लहरों में अपने को आनन्दित पाओगे।

विश्वबन्धुत्व का भाव भी इसी विस्तार में आधारित है। इसके लिये सबको अपने जैसा समझने का मार्ग तो यही है कि अपने कुटुम्ब से सीमा का सार्वभौम प्रसार बढ़ते बढ़ते विश्वभर में फैल जाय। बिना इसके विश्व बन्धुत्व कैसे ?

वास्तव में, आये दिन जो संकट, बेचैनी, परस्पर नाना प्रकार के विचार जो विश्व के विवाद जो विश्व के राष्ट्रों में फैलकर जीवन को दुःख व परेशान किये हुये हैं, वह एक मात्र 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के शुद्ध विचार को न अपनाने से ही है।

व्यक्ति के निर्माण से ही समाज का निर्माण होता है। समाज के निर्माण पर ही विश्व कल्याण आधारित है। एक व्यक्ति का प्रभाव अनेकों पर पड़ता हैं, यदि वह शुद्ध चित्त से अपने लक्ष्य की प्राप्ति का इच्छुक हो। एक व्यक्ति क्या कुछ कर सकता है, इसके लिये शक्ति का एक कण ऐटम को देखिये। मानव ने उसकी शक्ति को ढूँढा। उससे जहाँ संरक्षण हो सकता है, भारी विनाश भी। इसीलिये हमारी संस्कृति में जोर दिया गया है कि संकल्प शुद्ध रक्खा जाय। जहाँ दुष्टों की शक्ति दानव बनकर तबाही मचा सकती है, सज्जनों की वही शक्ति संकल्प की शुद्धता से विश्व में कल्याण का कारण बनती है।

एक मनुष्य के कर्म का प्रभाव उस तक ही सीमित नहीं रहता, वह बहुत दूर तक फैलता है। यहां तक कि ब्रह्माण्ड भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अतः मनुष्य यदि शुभ संकल्प से कर्म करेगा तो उसका प्रभाव शुभ और अशुभ से करेगा तो अशुभ पड़ेगा। इसलिये शुभ कर्म करना ही सब प्रकार कल्याणकारी है।

मनुष्य सदा सुख की ढूंढ़ में लगा रहता है। इसके लिये वह क्या कुछ नही करता ? उसकी हर चेष्टा होती है कि दुःख व संकट से बचा रहूँ। इसी के लिये उसके सब कर्म व संकल्प होते हैं। ऋग्वेद के संज्ञान सूत्र में कहा है—

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानिवः।
समानुमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥"

अर्थात् हम सब की चेष्टा समान हो, सबके निश्चय समान हों। सब के हृदय एक हों, कहीं विषमता न हो। अन्तः करणों की उदारता भी समान हो। सब लोग परस्पर मिल जुल कर साकार समता के समान साथ रहे।"

"दो दिन की जीवन वस्ती—
अस्थाई मिल जोल।
हंसी खुशी सद्‌प्रेम से मिलले—
सबसे ही दिल खोल ॥ मुसा०

जितने दिन भी यहाँ बसेरा है, सब मिल जुल हंसी खुशी में दिन कटें व बीतें तभी आनन्द है। इस आनन्द व सुख की प्राप्ति के लिये ही हमारे शास्त्रों और दर्शनों ने भिन्न भिन्न मार्ग अपनाने को कहा है। परन्तु ध्येय सब का एक है—

"मिलकतें रस्तों के हैं— सब हेर फेर,
सब जहाजों का है लंगर—एक घाट।

आखिर तो मंजिल सबकी एक ही है। किसी में मनन व चिन्तन प्रधान है, किसी में शरीर कष्ट का तप का योग है, किसी में दोनों हैं। उसके बाद परम सुख की जो प्राप्ति होनी बताई गई है, वह परलोक से सम्बद्ध—आधुनिक विश्वास और तर्क की कसोटी पर न उतरने वाला है। वर्तमान में नाना झंझटो व दुःखों में फंसे मनुष्य को इतना समय भी नहीं कि वह पूर्ण शास्त्रावलोकन कर किसी वास्तविक निर्णय पर पहुँच सरल सुख की राह ढूढ निकालें।

सबसे सरल मार्ग या उत्तम औषधि

'आत्मवत् सर्वं भूतेषु' की भावना अपनाना ही सबसे सुलभ मार्ग है, जो प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी कष्ट के सरलता से अपना सकता है। इसमें न तो बहुत मनन की आवश्यकता है, न शरीर को ही कुछ कष्ट होता है, न यज्ञ-अनुष्ठानादिकी तरह यह अर्थ परवश है। केवल भावना मात्र से अपने संकुचित व्यक्तित्व को विशाल बना कर प्रेम का दायरा सबके प्रति बढ़ाना है। यह योग साधन संसार में रहते अपने दैनिक कर्म करते हुये प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिये कितना अनुपम हैं। वर्तमान में फैले अनाचार, बेचैनी और अव्यवस्था दूर करने के लिये इससे बढ़कर महौषधि और क्या हो सकती है जिसकी मीठी घूंट पीकर सभी मानव सुख, चैन और शान्ति का अनुभव कर साथ साथ मिल जुल कर जीवन की सार्थकता सफलता पूर्व प्राप्त कर सकते हैं।

इस सरल साधन को सब अपनाकर लाभ उठा सकते हैं। यह किसी वर्ण, जाती या देश के सब लोगों तक ही सीमिति नहीं है। इसकी सिद्धि के सब लोग समानरूप से अधिकारी हैं। विश्व भर में फैले अनाचार व भ्रष्टाचार तथा विषमता को दूर करने के लिये आज के युग में इतना सरल और बेमोल उपाय और क्या हो सकता है ?

अतः ऐसी उत्तम सिद्धि के साधनों में हम सबको निर्भय हो, निःशङ्क चित्त से अविलम्ब लग जाना चाहिये। जिससे कालान्तर में इसके कारण संसार भर में स्थाई शान्ति, सुख का साम्राज्य स्थापित हो सके। मानव भी सच्चा सुख प्राप्त कर भोग और त्याग का समन्वय कर सके। तब न किसी को किसी राष्ट्र को जीतकर दास बनाने की आशंका होगी, न किसी वस्तु का एकाधिकार प्राप्त करने की स्पृहा। सारा वातावरण ही समानता की शुद्ध बयार से लहरायगा, और तब सम्पूर्ण भू मण्डल ही उस सुख समृद्धि से भरे प्राचीन भारत जैसा हो जायगा—जब घरों में किसी प्रकार ताले न लगते थे, न कहीं चोर थे न चोरी होती थी, न किसी में लोभ था न आडम्बर, वास्तविक राम राज्य का आनन्द अनुभव करते सभी प्रसन्न चित्त और खुश हाल थे।

शिक्षा सोपान लगा मानव तू ज्ञान वृक्ष फल लेने को।
चढ़ ऊपर चख, झोली भर उतर सभी को देने को ।।
समान रूप से सुन्दर फल तेरे श्रम से सब पावें।
समानता का पाठ एक हो मिल जुल कर सव अपनावें ।।
तामस विद्वेष कलह के बादल हृदनभ छाये फट जावें।
सदभाव चन्द्रका शुद्ध खिले सुख प्रेम की नदियाँ बढ़ जावे ।।
मानव मानव को पहिचाने धरा धाम को स्वर्ग बनावे।
आपस के सियराम प्रेम जल हृदसरोज विकसे लहरावे ।।
मानव पहिचाने अपने को राम-कृष्ण सियराम स्वरूप।

संसार में तीन प्रकार के पुष्प होते हैं। एक जो पुष्पित होते हैं वे या तो पशुओं द्वारा चरे जाते हैं या स्वयं समय पर सूख जाते हैं। दूसरे प्रकार वे होते हैं, जिन्हें ढूँढ कर लोग स्वागत समारोहों में हार व माला बनाते हैं, विवाहों में व अन्य उत्सवों पर गुलदस्ते तैयार करते हैं या अपने देवी देवताओं पर चढ़ाते हैं। तीसरे प्रकार के—जिन्हें कौल (भूमिकमल) कहते हैं। ये अधिकतर लोक पाल (हेमकुण्ड) जो लगभग चौदह हजार फीट की ऊँचाई पर है, उसकी बर्फीली पर्वत श्रृंखलाओं और केदारनाथ की हिमाच्छादित पर्वत मालाओं पर अधिकायत से पाये जाते हैं। एक कौल पुष्प, मानो ७, ८ श्वेत गुलाब पुष्प मिलाये गुलदस्ते के बराबर होता है। पुष्प चाँदनी की तरह स्वच्छ व श्वेत होता है। उसमें सुगन्धित इतनी तीव्र होती है कि एक पुष्प मकान के एक कमरे में रखा हो तो सारा भवन ही सुगन्धि से भर जाता है। ये पुष्प जब पहाड़ियों पर से जब अप्रेल मई में वर्फ गल जाता है तब दिखाई देते हैं और लगभग सितम्बर तक रहते हैं। फिर अक्टूबर से पहाड़ियाँ बर्फ से ढक जाती है, तब वे पुष्प अप्राप्य हो जाते हैं। ये कौल पुष्प प्रायः बदरी व केदार की देव मूर्तियों में हार व माला के रूप में चढ़ाये जाते हैं। इनसे वे प्रसिद्ध तीर्थ हर समय सुगन्ध से भरपूर रहते हैं। अनुभव से देखा गया है कौल पुष्प बीज का उपयोग न० १ गर्भ स्थापर है। मृतवत्सा स्त्रियाँ इसका बीज चूर्ण का प्रयोग गो दुग्ध के साथ

३ सप्ताह तक प्रयोग कर लाभ उठा सकती हैं। इसके प्रयोग से मृतवत्सा स्त्री का हृष्ट पुष्ट बच्चा पैदा होता है।

उपरोक्त जो तीन प्रकार के पुष्प दर्शाये गए हैं। ठीक इसी प्रकार तीन प्रकार की मानव श्रेणी संसार में होती हैं। पहिले प्रकार के मनुष्य ठीक पहिले पुष्प क्रम के अनुसार ही होते हैं। इनमें तमोगुण की अधिकता होती है, पशुओं की तरह ही इसका जीवन होता है, ज्ञान का अभाव होता है। छोटे विचार के होते हैं। केवल यही समझते हैं कि हम यहां खाने पीने व बच्चे पैदा करने और अन्त में मर जाने के लिए ही आए हैं। अधिकतर महिनत मजदूरी कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

द्वितीय श्रेणी के मानव रजोगुण प्रधान होते हैं। वे परिश्रम से जीविका कमाते हैं। उद्योगों में दिलचस्पी रखते है। धन दौलत आदि जायदाद बढ़ाते हैं। समाज के कार्यों में अपना सहयोग जुटाते हैं। समाज भी उनका आदर करता है। अपने पीछे बड़ा परिवार छोड़ जाते हैं।

तृतीय श्रेणी के मानव सत्वगुण प्रधान होते हैं। उस श्वेत कौंल की तरह उनका सात्विक जीवन होता है। लोक पाल के कौल की तरह कठोर संयम व तपस्या से उनका जीवन विकसित होता है, (जिस प्रकार अति शीत बरफ के अन्दर चन्द्रवदत कौंल निकलता है फूलता व फलता है उसी प्रकार कठोर तप-संयम-नियम व योग साधन से इनका जीवन चमक उठता है) बस ये ही महापुरुष या नर के वेष में नारायण कहलाते हैं। दूसरों के कल्याण के लिये ही अवतरित होते हैं। जिस प्रकार वह कौल अपने को देव पूजा के लिए अर्पित व बलिदान कर देता है, इसी प्रकार ये महापुरुष भी अपने को जनता जनार्दन की सेवा के लिये अर्पित कर देते हैं। ज्योंही उनका इह लोक में लोक कल्याण का कार्य पूरा हुआ कि वे यहाँ से दिवंगत हो जाते हैं परन्तु यहां अपनी अमर कीर्ति छोड़ जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द, स्वामी शंकराचार्य, आदि अनेक महापुरुष हो गये हैं जो यहां सदा के लिए अपना नाम अमर कर गये। चारों धाम की स्थापना स्वामी शंकराचार्य की अमरता की याद हर एक को आज भी दिला

रहे हैं कि संसार में अमर बनने के लिये और मानव से राम कृष्ण बनने के लिये अपने को परहित में बलिदान कर दो तभी यह मानव देह धन्य है।

उपरोक्त जैसे अनेको महापुरुष इस धरा को अनेकों बार पाप ताप से मुक्त कर गये और अपनी अपार आत्म शक्ति को पहिचान कर विश्व का कल्याण कर गये। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को जिन्होंने अपने तपोबल के द्वारा पहिचाना उनकी घटनाएं समय २ पर घटती रहती हैं। एक अंग्रेज साहित्कार ने लिखा है—नक्षत्र चाहें लुप्त हो जांय, सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ जाय, परन्तु मनुष्य की आत्मा सदा तेजस्वनी ही रहेगी, उस तक काल का हाथ कभी भी न पहुंच सकेगा।

मनु महाराज ने कहा है—'ऐ पुरुष! तेरे हृदय में भी अन्तर्यामी आत्मदेव निवास करते हैं, उसकी शक्ति को पहिचान कर ऊपर उठ!

मनुष्य यह समझ कर कि जो बाहर दुनिया दिखाई दे रही है वही सब कुछ है—अपने आत्म ज्ञान को संकुचित दायरे में बांध देता है और इस प्रकार वह अपने पूर्ण विकास से बंचित रह जाता है। उसकी एक बड़ी दुनियां है और वह है एक अतः करण की दुनियां। आत्मा, मन और बुद्धि की यह दुनियाँ काल और देश के प्रतिबन्धों से मुक्त है। यदि इस आन्तरिक जगत में मनुष्य की आत्मा, शुद्ध, पवित्र. संकल्प, दृढ़, और सुस्थिर तथा प्रबल व अगाध अभिलाषा हो तो बाह्य जगत को भी अपने आधीन कर सकता है। यह बात याद रखो कि—

जब किसी व्यक्ति का मन मानव मात्र से एकात्मा का बोध प्राप्त कर लेता है तब वह किसी भी मन से चाहे वह अपरचित ही हो, अपनी इच्छा की पूर्ति करा लेता है।'

अपने में आत्म शक्ति की प्रबलता जाग जाने पर मनुष्य क्या नहीं कर सकता? पड़ी हुई छोटी सी आग की चिनगारी सुलगाये जाने पर दावानल बन कर क्या भस्म नहीं कर देती?

आत्म शक्ति को पहिचान कर अमर हुए महापुरुषों में महात्मा सुकरात भी थे। सुकरात को सत्य का प्रचार और अन्याय के विरुद्ध काम

करने के लिये पहिले तो कई बार मना किया गया परन्तु जब वे अपने लोक कल्याणकारी पुण्य काम करने से रुके नहीं और करते ही गए तो उन्हें मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी गई। उस समय की प्रथा के अनुसार विष का प्याला जल्लाद ने उसके सामने ला रखा। महात्मा के विश्वासी अनेकों प्रेमी भक्त अपार भीड़ में जमा हो गए और फूट फूट कर रोने चिल्लाने लगे। एक तरफ नव युवकों की भक्त मण्डली भी बैठ कर सिसक सिसक कर रो रही थी थोड़ी ही देर में ज्ञान व न्याय का सूर अस्त हो गया—यूनान का वे ताज का असली सम्राट हमेशा के लिये छिप जायगा - इन्हीं सब बातों को याद कर अपार जन समूह शिष्य मण्डली के साथ अनेक रूप से करुणाक्रदन कर रहा था। यह हालत देखकर सुकरात मुस्कराते हुये बोले - मूर्खों ! जीवन भर तुम मेरे उपदेशों का यही अर्थ समझे कि इस प्रकार तुम मेरे लिये पश्चाताप करोगे। इस बात को न भूलो की संसार की कोई शक्ति सुकरात को मार नहीं सकती। जो नाशवान है उसका तो नाश अब हो कल हो या कभी हो। यह बाहर दीखने वाला सुकरात मर जायगा परन्तु उसके अन्दर जो आत्मा है उसे कौन मार सकता है ? आग भी उसे जला नहीं सकती। तुम उस आत्मा को अपने में देखो और सत्य को समझो। बस यह कह कर सुकरात ने जल्लाद के हाथ से जहर का प्याला लिया और हंसते २ सदा के लिए अमर हो गए। इस प्रकार आत्मा की शक्ति को पहिचान कर ही एक साधारण मानव भी सुकरात, राम, कृष्ण तक बन कर सदा के लिए अमर हो सकता है।

लोक पाल का कौल बना तू धरा लोक को कर आलोकित।
तीरथ बद्री अरु केदार नये सिरे से हों आलोकित ।।
शंकर की इच्छा पूरी हो मिटें दुःख अरु पाप।
हृदय कमल विकसें विवेक से धुलें धूलि तप ताप ।।
सुख वैभव अरु प्रेम की धारा बहे धरा पै अविरल रूप।
मानव पहिचाने अपने को राम, कृष्ण, 'सियराम' स्वरूप ।।

ॐ तत्सत।

घूंट—२१

मानव जीवन, जीवात्मा, परमात्मा, योनियाँ, आत्मतत्व का अमर सन्देश और

'सिय।राम जीवन का प्यारा गीत'

'सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्यदुर्लभम् ।
तथोत्थानं समाधत्स्व भ्रंश्यसे न पुनर्यथा ॥"

यह न भूलो कि यह सुर दुर्लभ मनुष्य शरीर, जो बड़े पुण्यों से प्राप्त होता है, स्वर्ग प्राप्ति का सरल सोपान (मार्ग) है। इसे शुभ कर्मों में ही लगाना चाहिये जिससे कि वह अवनति, पथ-भ्रष्टता और नैतिक पतन की ओर बढ़ सके।

यहाँ जो सुर दुर्लभ मानव देह कहा है, उसके विषय में भी प्रकाश डाला जायगा। ८४ लाख योनियों में विचार प्रधान होने से मनुष्य ही श्रेष्ठ माना गया है। यह वही शरीर है जिसमें पुण्य कर्म करने से देव योनि तक पहुँचा जा सकता है और अशुभ कर्म करने से पत्थर की योनि तक अवरोहण कर सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इसी योनि में विदेह मुक्ति भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

जो मानव शरीर इतना बहुमूल्य है, उसका जो रचयिता होगा उसका कितना महत्व होगा। कारीगरी से कारीगर बड़ा होता है।

वह जो सबसे बड़ा कारीगर है, जिसकी कारीगरी हमें अपने विश्व में भी भिन्न २ रूपों में दिखाई दे रही है। यह सब उसने क्यों रचा? कैसे रचा? भिन्न २ योनियाँ कैसे बनीं। इस रचना के निर्माण में उस नाटक-कार का क्या लक्ष्य था? मकड़ी बड़ा खूबसूरत जाल बनाती है और अपना मन चाहा खेल-खेल कर सारे को अपने में समेट लेती है या सारे ताने-बाने को स्वयं में निगल लेती है। क्या उस महान् कारीगर ने भी ऐसा ही तो

करने के लिये पहिले तो कई बार मना किया गया परन्तु जब वे अपने लोक कल्याणकारी पुण्य काम करने से रुके नहीं और करते ही गए तो उन्हें मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी गई। उस समय की प्रथा के अनुसार विष का प्याला जल्लाद ने उसके सामने ला रखा। महात्मा के विश्वासी अनेकों प्रेमी भक्त अपार भीड़ में जमा हो गए और फूट फूट कर रोने चिल्लाने लगे। एक तरफ नव युवकों की भक्त मण्डली भी बैठ कर सिसक सिसक कर रो रही थी थोड़ी ही देर में ज्ञान व न्याय का सूर अस्त हो गया—यूनान का वे ताज का असली सम्राट हमेशा के लिये छिप जायगा - इन्हीं सब बातों को याद कर अपार जन समूह शिष्य मण्डली के साथ अनेक रूप से करुणाक्रदन कर रहा था। यह हालत देखकर सुकरात मुस्कराते हुये बोले —मूर्खों ! जीवन भर तुम मेरे उपदेशों का यही अर्थ समझे कि इस प्रकार तुम मेरे लिये पश्चाताप करोगे। इस बात को न भूलो की संसार की कोई शक्ति सुकरात को मार नहीं सकती। जो नाशवान है उसका तो नाश अब हो कल हो या कभी हो। यह बाहर दीखने वाला सुकरात मर जायगा परन्तु उसके अन्दर जो आत्मा है उसे कौन मार सकता है ? आग भी उसे जला नहीं सकती। तुम उस आत्मा को अपने में देखो और सत्य को समझो। बस यह कह कर सुकरात ने जल्लाद के हाथ से जहर का प्याला लिया और हंसते २ सदा के लिए अमर हो गए। इस प्रकार आत्मा की शक्ति को पहिचान कर ही एक साधारण मानव भी सुकरात, राम, कृष्ण तक बन कर सदा के लिए अमर हो सकता है।

लोक पाल का कौंल बना तू धरा लोक को कर आलोकित।
तीरथ बद्री अरु केदार नये सिरे से हों आलोकित ।।
शंकर की इच्छा पूरी हो मिटें दुःख अरु पाप।
हृदय कमल विकसें विवेक से धुलें धूलि तप ताप ।।
सुख वैभव अरु प्रेम की धारा बहे धरा पै अविरल रूप।
मानव पहिचाने अपने को राम, कृष्ण, 'सियराम' स्वरूप ।।

ॐ तत्सत।

घूंट—२१

मानव जीवन, जीवात्मा, परमात्मा, योनियाँ, आत्मतत्व का अमर सन्देश और

'सियाराम जीवन का प्यारा गीत'

'सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्यदुर्लभम् ।
तथोत्थानं समाधत्स्व भ्रंश्यसे न पुनर्यथा ॥"

यह न भूलो कि यह सुर दुर्लभ मनुष्य शरीर, जो बड़े पुण्यों से प्राप्त होता है, स्वर्ग प्राप्ति का सरल सोपान (मार्ग) है । इसे शुभ कर्मों में ही लगाना चाहिये जिससे कि वह अवनति, पथ-भ्रष्टता और नैतिक पतन की ओर बढ़ सके ।

यहाँ जो सुर दुर्लभ मानव देह कहा है, उसके विषय में भी प्रकाश डाला जायगा । ८४ लाख योनियों में विचार प्रधान होने से मनुष्य ही श्रेष्ठ माना गया है । यह वही शरीर है जिसमें पुण्य कर्म करने से देव योनि तक पहुँचा जा सकता है और अशुभ कर्म करने से पत्थर की योनि तक अवरोहण कर सकता है । आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इसी योनि में विदेह मुक्ति भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है ।

जो मानव शरीर इतना बहुमूल्य है, उसका जो रचयिता होगा उसका कितना महत्व होगा । कारीगरी से कारीगर बड़ा होता है ।

वह जो सबसे बड़ा कारीगर है, जिसकी कारीगरी हमें अपने विश्व में भी भिन्न २ रूपों में दिखाई दे रही है । यह सब उसने क्यों रचा ? कैसे रचा ? भिन्न २ योनियाँ कैसे बनीं । इस रचना के निर्माण में उस नाटक-कार का क्या लक्ष्य था ? मकड़ी बड़ा खूबसूरत जाल बनाती है और अपना मन चाहा खेल-खेल कर सारे को अपने में समेट लेती है या सारे ताने-बाने को स्वयं में निगल लेती है । क्या उस महान् कारीगर ने भी ऐसा ही तो

'यह सारा रंग-मंच' नहीं बनाया हुआ है ? एक मानव के मस्तिष्क में जो विचारशील है—इन प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही है और तब उनका सही हल ढूँढना भी आवश्यक है। आगे हम इस सब पर कुछ प्रकाश डालेंगे जिससे प्रिय पाठकों का कुछ लाभ हो सके और विश्व-कल्याण में कुछ सहयोग प्राप्त हो सके।

वह अत्यन्त लघु वट बीज जो पड़ा है, उस पर विचार कीजिये उसमें कितना महान् वट वृक्ष छिपा हुआ है। उस घोर जंगल में किसी ने गलती से आग की चिनगारी डाल दी देखते-देखते सारा जंगल जलकर राख हो गया। सोचिये तो उस छोटी सी चिनगारी में वह महान् ज्वाला बनने की शक्ति कहाँ से आई। आज मानव मस्तिष्क स्व-रचित यान चन्द्रमा के धरातल में उतार कर वहां से यन्त्रों द्वारा चन्द्रमा असंख्य चित्र पृथ्वी पर भेजने में समर्थ हो गया। आखिर इतनी बड़ी शक्ति का भी तो कोई स्रोत होगा। एक छोटे से अंश में जब इतनी महान् शक्ति भरी पड़ी है, तो पूर्णांश में कितनी शक्ति होगी ?

मनुष्य मस्तिष्क ने आज हाइड्रोजन बम व ऐटम बम के भण्डार के भण्डार भर लिये जो एक दो भी संसार के राष्ट्रों को देखते-देखते राख कर सकते हैं। फिर मानव सहित इस दीखने वाले जगत् का कितना बड़ा कारीगर होगा और उसकी कितनी अपार शक्ति होगी ? आओ, इस पर विचार करें।

वास्तव में वह महान कारीगर—इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माता ही पूर्णांश है। चर-अचर स्थावर जंगम जो भी सृष्टि बनी है, यह सब उसी का खेल है। उसी को हम ईश्वर नाम से भी पुकारते हैं। मैं 'सियराम' इस पुस्तक को लिख रहा हूँ। सो यहाँ जो मैं है, वही अपना नाटक रचकर उसे देखकर स्वय को और औरों को प्रमुदित कर रहा है।

यहाँ 'सियराम' में (इस पुस्तक के लेखक में) अपूर्ण अहंकार है, अर्थात् पूर्ण अहंकार का अंश मात्र। पूर्णता का अहंकार तो ईश्वर का अहंकार है, ईश्वर पूर्ण है, जीव अपूर्ण। ईश्वर पूर्ण अहंकार वाला होने से

सर्वज्ञ, सर्व व्यापक और सर्व शक्ति सम्पन्न है। जीव अपूर्ण अहंकार वाला होने से अल्पज्ञ, एक देशीय और अल्प शक्ति युक्त है। वास्तव में जीव भी ईश्वर का ही एक अंश है, इसलिये उसे अपने ईश्वर की पूर्णांहता को जानना, उसे अनुभव करना और उसे प्राप्त करना जीव का जन्म सिद्ध अधिकार है।

जीव पैदा होता है, रोता है, हँसता है, कल्पना करता है। बड़ा होकर अपनी कल्पना से बड़े-बड़े काम तक कर बैठता है। जैसी कल्पना करता है, उसी के अनुसार अपनी दुनिया बसा डालता है। यह सब कुछ वह अपने जन्मजात स्वभाव के अनुसार करता है। यह स्वभाव उसे अपने आदि स्रोत ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है।

आज से कई मास पूर्व एक शुभ दिन की अर्द्ध-रात्रि में अचानक नींद खुली, मन में कल्पना उठी—भावना हुई कि अब तो यह शरीर वृद्धत्व की ओर जाने लगा है। चिकित्सा कार्य करते-करते वर्षों बीत गये। इस समय मानव भौतिक बाद में यद्यपि बहुत आगे बढ़ गया हैं; परन्तु आज बेचैन, दुःखी और अशान्त जीवन में छटपटा रहा है। किस प्रकार उसकी यह बेचैनी दूर होकर सुख व शान्ती का जीवन प्राप्त हो—यही सब उसके हित की भावना से प्रेरित हो इस 'सुधा संजीवनी' की पवित्र रचना प्रारम्भ हुई और अपने इस शुभ कार्य के अन्तिम चरण पर पहुँच कर इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ। अतः कुछ भी करने के लिये मन में पहिले एक विचार उठता है, भावना होती है और कल्पना से प्रेरित गाड़ी फिर आगे-आगे भागने लगती है।

जैसे मैंने अपनी भावना को साकार रूप में बदल दिया ठीक इसी प्रकार आदि काल में—'एकोऽहं बहुस्याम्' भगवान के मन में भावना हुई—एक इच्छा उठी—"मैं अकेला हूं अनेक बन जाऊँ।" यही एक प्रकार से भगवान की आदि शक्ति है।

आदि पुरुष भगवान स्वयं श्री कृष्ण हैं और आदि शक्ति भगवती श्री राधा जी हैं। बस यह सारी सृष्टि इन दोनों की लीला का एक प्रकार

से रंगमंच है। एक से बहुत बनने के लिये एक आदि आत्मा को विविध शरीरों के अन्दर आत्मा के भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पड़े जिससे सारा सृष्टि नाटक ठीक तरह से खेला जा सके।

सत्-चित्-आनन्द रूप त्रिपाद सृष्टि ईश्वरीय है और पूर्णाहता के आधार पर रची गई है—यहाँ सब कुछ ही सच्चिदानन्द मय है। इसको अक्षर ब्रह्म भी कहते हैं। वह सदा-सर्वदा एक रूप रस है, उसका न आदि है न अन्त। वहाँ सबको अद्वैत का आभास होता है। नित्य मोक्ष की अनुभूति रहती है। यहाँ पूर्ण अहंता का राज्य है। इस प्रकार ब्रह्म की त्रिपाद विभूति वाली सृष्टि है।

ब्रह्म की दूसरी सृष्टि अविद्यापाद विभूति है, जो त्रिगुणात्मक है। यह काल के अधीन है। काल गुणों को क्षोभित करके इस सृष्टि का सञ्चालन करता है। इसमें जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, भय, शोक, चिन्ता, रोग, बुढ़ापा आदि का राज्य है। राग द्वेष लाभ आदि इससे भरे पड़े हैं। इसमें ८ देव योनियाँ भी हैं और मनुष्य से नीचे स्थावर तक ८४ लाख योनियाँ इस प्रकार हैं:—

(१)	धातु	योनि	२० लाख
(२)	वनस्पति	,,	१० लाख
(३)	सरीसृप	,,	१० लाख
(४)	पक्षी	,,	१० लाख
(५)	वानर	,,	४ लाख

यह जीवात्मा अनन्त अहकारों से युक्त होकर इन योनियों में चक्कर काटता फिरता है। कभी पुण्यवश ऊँची योनियों में तो कभी पाप के कारण अधो या नीच योनियों में मारा-मारा फिरता है। यह जीवात्मा प्रत्येक योनि में अलग-अलग अहंकार और भिन्न-भिन्न शरीरों से युक्त होता है।

वास्तव में 'बहुस्याम्' वाली भगवान् की लीला करने की इच्छा अविद्या और भेदमयी सृष्टि में ही चरितार्थ हुई। त्रिपाद वाली आदि सच्चिदानन्दमयी सृष्टि 'अपरिच्छिन्न और पूर्ण अहंकार युक्त है और इसकी

आधार शिला 'एकोऽहम्' है । जहां इस 'एकोऽहम्' सृष्टि में सर्वज्ञता, पूर्णता सर्व शक्ति सत्ता है वहां 'बहुस्ताम्' वाली सृष्टि में अल्पज्ञता, अपूर्णता और अल्पशक्ति सत्ता है । परिच्छिन्न अहंकार में अल्पज्ञान और अल्पशक्ति होना स्वाभाविक ही है । सच्चिदानन्दवाली त्रिपाद सृष्टि में सत्-चित्-आनन्द एक दूसरे के पोषक व वर्धक हैं, परस्पर विध्वसंक नहीं । परन्तु दूसरी में सत्-रज-तम एक दूसरे के पोषक भी हैं और विध्वसंक भी । ये सत्, रज, तम तीनों विषम रूप में वर्तते हैं और जीवों के अनन्त स्वभाव के कारण भी ये तीनों हैं ।

पूर्ण भाव से जीव भाव की परिणति इस भेद की सृष्टि के कारण ही हुई । यह जीवात्मा जिस अहंकार और शरीर से अध्यास युक्त होता है, उसी के स्वभाव से मेल पा जाता है । यह जीवात्मा देव में देव, सिद्ध में सिद्ध, मनुष्य में मनुष्य, पशु में पशु, वनस्पति में वनस्पति और पत्थर में पत्थर के स्वभाव वाला बन जाता है । प्रत्येक योनि के अनुसार अपने अहंकार इच्छा मन ज्ञान शक्ति आनन्द को विभक्त किया ।

मनुष्य स्तर से नीचे चौरासी लाख तक तामस योनियाँ हैं । इन योनियों में पत्थर से लेकर पशु तक कोई न तो अपने आप को जानता है, न दूसरी योनि वाले को जानता है । इस प्रकार से सब अज्ञान अंधकार में ही डूबे रहते हैं । संसार में मूल्य है तो एक मात्र मनुष्य योनि का, इसीलिये मैंने लिखा ' मुसाफिर जीवन हैं अनमोल ।' नीचे की सब योनियों का मूल्य तथा ऊपर की आठ देव योनियाँ तथा ईश्वर का आभास ज्ञान तथा प्रत्यक्ष ज्ञान भी मनुष्य में ही कीमत रखते हैं, क्योंकि हीरे की कीमत जौहरी ही जानता है । पदार्थों का परखने वाला एक मात्र परखने वाला ही जानता है और वही उनका सदुपयोग भी करता है । यह सब अधिकार विशेष बुद्धि रखने के कारण, मनुष्य को ही एक मात्र दिया गया है और अन्य किसी भी योनि में यह अधिकार नही बाँटा गया है ।

मनुष्य स्तर से नीचे महान् अन्धकार है । इसी कारण शास्त्रों में मनुष्य को बार बार सचेत किया गया है कि पाप कर्म करके नीचे न गिरना

अधोयोनि में न जा गिरना, कहीं पशु, कीट पतंग, वनस्पति, पत्थर आदि नीच योनि के अहं में न पड़ जाना वल्कि देव अहं, ईश्वर अहं की ओर आरोहण करना।

आत्म अहंकार के कारण आरोहण और अनात्म अहंकार के कारण अवरोहण (नीचे की ओर उतरना होता हैं। इसका प्रभाव देव योनियों तक भी है। शास्त्रों में देवलोकों से देवताओं के पतन विषयक वर्णन मिलते हैं। जब तक पूर्ण अपरिच्छिन्न भाव से अहंता अभिन्न नहीं होती, पतन का भय देवताओं तक भी बना रहता है। पूर्णहंता पर पहुँचने पर यह आरोहण, अवरोहण का चक्र मिट जाता है। बिन्दु सिन्धु में मिलकर एक रूप हो जाता है फिर जन्म मरण का प्रश्न ही नहीं रहता या आवागमन का चक्र सदा के लिये समाप्त हो जाता है।

गीता में भगवान् ने कहा हैं कि मैं ही सब भूतों का आत्मा हूँ, उनका आदि, मध्य और अन्त भी मैं हूँ ।

"यच्चापि सर्वं भूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥"

(गीता)

जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा चर व अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो इसलिये यह सब कुछ मेरा ही स्वरूप है। (सर्वं व्यापी सर्वं भूतान्तरात्मा)। इस प्रकार इस सृष्टि का प्रत्येक अणु पूर्ण है क्योंकि वह सर्वत्र-सर्वव्यापक उस एक पूर्ण शक्ति से समाया हुआ है।

उस अणु का एक रूप दिखाई देता है और उसके भीतर क्रमशः पूर्ण विकास और पूर्ण संकोच का क्रम (आरोहण-अवरोहण) निरन्तर विद्यमान है। पत्थर में भी पूर्ण विकास का भाव छिपा है। पत्थर में वनस्पति, पशु मनुष्य सिद्ध, देव, ईश्वर तक के अहं भाव गुप्त रूप से बीज रूप में मौजूद हैं इसी प्रकार सब प्रकार की योनियों में पत्थर से ईश्वर तक के भाव विद्यमान् हैं। उस प्रभु का पूर्णत्व प्रत्येक परमाणु में मौजूद है। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा

पिण्डे'—इसी से भगवान को सर्वव्यापी कहा है। ब्रह्माण्ड से अणु तक सभी कुछ पूर्णता से परिवेष्टित है।

मनुष्य में जहाँ ८४ लाख योनि के संस्कार बीज रूप में मौजूद है—वहाँ सिद्ध, देव, ईश्वर के संस्कार भी बीज रूप से मौजूद हैं। परन्तु यह नाटक ऐसा अद्‌भुत है कि इसमें सब योनियों के अपने २ रूप अपने २ समय में रंग मंच पर आते हैं और अपना अपना पार्ट दिखाकर निरोहित हो जाते हैं, जो नाटक की स्वाभाविक का द्योतक है। अद्‌भुत इसलिये कि इतनी बड़ी सृष्टि का यह नाटक भी ठीक पृथ्वी के मनुष्यों के नाटक की भाँति ही खेला जा रहा है जिसको केवल प्रभु भक्त या महान विचारक भी देख रहे हैं।

प्रत्येक योनि का प्रत्येक भाव अपने २ स्थान पर पूर्णता का केन्द्र है जेसे कुत्ते का बच्चा पैदा होते ही कुत्ते की चेष्टा, हाव भाव व स्वभाव वाला होता है, इसी प्रकार प्रत्येक योनि का समझें। मनुष्य चौरासी लाख योनियों में भी पाप कर्म के द्वारा अवरोहण कर सकता है और अवरोहण से ईश्वर भाव तक को भी प्राप्त कर सकता है। यह है भगवान का बहुस्याम रूप'। इसमें भी प्रत्येक रूप पूर्ण है। केवल लीला के प्रयोजन से एक एक रूप रंग मंच पर आता दिखाई देता है और अपनी २ लीला कर रहा है। जीव रूप बदल बदल कर कई रूप से लीला कर रहा है।

वासुदेव रूप पूर्णता जो सब काल और सर्वत्र सब रूपों में एक रूप ही व्यापक है, परन्तु हम अपने अज्ञान के कारण उसे जानते नहीं। अनेकों जन्मों के बाद ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानी को अनुभव होता है कि यहाँ सब कुछ ही तो वासुदेव मय है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य का अहंकार परिच्छिन्न है और इसी के कारण वह अपूर्णता का अनुभव करता है। पूर्णता के दर्शन के लिए पूर्ण अहंकार से तदात्म्य प्राप्त करना आवश्यक हैं। और सच्चाई तो यह है कि हमारी यह अविद्यापाद वाली सृष्टि भी सच्चिदानन्द मय ही है, केवल अपने अज्ञान के कारण हमें वह अपूर्ण लगती है।

सबमें सर्वत्र ईश्वरत्व की भावना अपनानी व समझना ही वास्तविक परमात्मा के निकट पहुँचना है। ईश्वर भाव सी पूर्णहंता का भाव है, जिससे

प्रत्येक जड़ चेतन वस्तु से तादात्म्य ज्ञान सहज में प्रतिष्ठित है। जीवात्मा को ऐसा ही तादात्म्यज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जव जीव का परिच्छिन्न अहंकार ईश्वर के पूर्ण अपरिच्छिन्न अहंकार से अभिन्न हो जाय। यही सायुज्य मोक्ष है।

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णं मे वा वशिष्यते॥"

वे सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम परिपूर्ण हैं। उनमें अभिव्यक्त हुआ यह जगत् भी तो पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण जगत् की ही उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूर्ण से पूर्ण को अभिव्यक्त करने पर पूर्ण का पूर्ण का पूर्ण ही रह जाता है। अभिव्यक्त रूप से देखें तो भी पूर्ण है, अव्यक्त रूप से देखें तो भी पूर्ण है। पूर्ण की अपनी—अव्यक्तता में ही यह अभिव्यक्तता है।

विभाजन की दृष्टि के लिये तो कोई स्थान नहीं है। यही पूर्णहंता है कि 'मैं ही सब कुछ हूँ। इसकी प्राप्ति साधक को उस अपार शक्ति (परब्रह्म) में पूर्ण श्रद्धा व भक्ति रख कर सतत उपासना अभ्यास से करनी होगी। गीता में भगवान् ने कहा है—

"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना॥"

यह समस्त जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप के द्वारा व्याप्त है! हे अर्जुन श्री कृष्ण के रूप में तो मैं तुम्हारा रथ हांकने का सारथी बना हूँ, परन्तु दूसरा मेरा ही अव्यक्त सर्वव्यापक और सूक्ष्म रूप है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप रहा है।

जो महापुरुष ज्ञान होने पर सर्वत्र वासुदेव की प्रतीति अनुभव करने लगते हैं, उनसे दूर रहने के लिये यमराज अपने दूतों को आदेश देते हुए कहते हैं—"हे दूतो! जो निरन्तर वासुदेव में ही आनन्दित हैं, उन्हें तुम दूर से ही नमस्कार कर आगे चला जाना, क्योंकि वे निष्पाप हो मृत्यु को जीत चुके होते हैं, वे हमारे अधिकार से बाहर हैं, उनका न्याय करना हमारे अधीन नहीं है।"

एक अद्‌भुत नृत्य इस सृष्टि में निरन्तर चल रहा है, जो ज्ञान चक्षु से ज्ञानियों द्वारा निरन्तर देखा जा रहा है । क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् वासुदेव अपनी इस सृष्टि के साथ सदा ही नृत्य कर रहा है—

"मेरे प्रियतम नाच रहे हैं,
मैं ही क्यों हट जाऊँ ।
कुछ भी याद नहीं है कब है–
मुझको अंग लगाया ।
कुछ भी ज्ञात नहीं है कब है–
मुझको संल लगाया ।। मेरे०

जिस प्रकार अपने मनोरंजन के लिये, मनुष्य नाना प्रकार के नाटक व खेल रचता है और उन्हें देख देख कर अपना दिल बहलाता है, ठीक इसी प्रकार वह सर्वव्यापी चैतन्य (वासुदेव) इस सृष्टि नाट्यशाला को रचकर अपना दिल बहलाता है । इसका चित्रण भगवान् श्रीकृष्ण की रामलीला में बड़ी ही सुन्दरता से दिखाई देता है । यह रासलीला परमात्मा और प्रपञ्च के सम्बन्ध की रूपरेखा हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है । भगवान् के नृत्य का वर्णन श्रीमद् भागवत में इस प्रकार है:—

"अङ्गनामङ्ग नामन्तरा माधवो—
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना ।
इत्थमा कल्पिते मण्डले मध्यग:—
संजगौ वेणुना देवकी नन्दन: ।।"

यह राम मण्डल भगवान् और जीवात्माओं का एक चक्र है । जो संसार को बनाता है । इस रास मण्डल में प्रत्येक गोपी के दोनों ओर तथा चक्र के मध्य में भी श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरी बजाते हुये नृत्य कर रहे हैं । यह बात हमें बतानी है कि जीवात्माएँ जहाँ असख्य हैं, परमात्मा एक ही है परन्तु वह एक होते हुए भी हमारे सब तरफ विद्यमान है और यही हमें देखना भी है । गोपियाँ जैसे अपने चारों ओर श्री कृष्ण को देखते, नृत्य करते मग्न रहती थीं, उसी प्रकार हम जीवात्माओं को भी चाहिये कि इस

संसार नाटक शाला में अपना अभिनय करते हुए ध्यान उसी भगवान में केन्द्रित किये रहें।

नृत्य करते करते गोपियों का अहंकार बढ़ जाता है, जब श्री कृष्ण जिनके साथ गोपियाँ नाना प्रकार से प्रसन्न चित्त हो नाचतीं, गाती थीं—

"प्रशमाय प्रसादायतत्रैवान्यर धीयत।"

अचानक गायब हो जाते हैं। तब गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हो, उन्हें चारों ओर ढूंढ़ती फिरती हैं, परन्तु अन्धकार के सिवाय उन्हें कुछ नहीं दिखाई देता।। तब वे अपनी बाह्य दृष्टि को मोड़ कर अन्दर की ओर कर अन्दर ही ढूढने लगती हैं, ढूंढते २ स्वयं को भूलकर श्रीकृष्ण में पूर्ण आत्म समर्पण कर देती हैं, तब—

"सब तरफ से हटा दिये, वातिनका जू—इकसू किया।
जिसकी ख्वाहिश थी वही-हरसू नजर आने लगा॥"
"तन्मनस्कास्तदालापास्त—द्विचेष्ठास्तदात्मिकाः।"

उनका मन भगवान पर पूर्णतः केन्द्रित हो जाता है। उनका सम्पूर्ण वार्तालाप ही भगवद्विषयक हो जाता है, सम्पूर्ण कर्म भी उससे सम्बन्धित हो जाते हैं, तथा अपने को पूर्णतः भूल कर वे परमात्मामय बन जाती हैं। और तब—

"तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः।"

भगवान् यहाँ, वहाँ—सब जगह मुस्कराते हुए प्रगट हो जाते हैं, तथा पहिले के समान ही वंशरी बजाते हुए, गोंपियों के साथ अपना नृत्य आरम्भ कर देते हैं।

इस कथा का भावार्थ स्पष्ट है। जब मनुष्य में अहंकार पैदा हो जाता है, अपने भीतर स्थित अन्तरात्मा के कहे अनुसार आचरण नहीं करता जब परमात्मा अदृश्य हो जाता है (सद्भाव लुप्त हो जाता है) और अन्धकार के सिवाय उस अहंकारी को कुछ भी नहीं दीखता। परन्तु वही जब उस अहंकार के पिशाच को एक तरफ पटक कर आत्मानुकूल आचरण करने लगता है। उस आत्मा परमात्मा के आगे अपने को पूर्ण समर्पित कर देता है

जब उसे वह सर्वत्र दीखने लगता हैं (मोह का पर्दा हटते ही सर्वव्यापक सद्-वस्तु सामने प्रगट हुई दीखने लगती है)। तब भगवान् के सभी व्यवहार उसके साथ आनन्दमय हो जाते हैं। अर्थात् अहंकार से रहित होकर 'नर' इस देह में रहते हुये भी नारायण' वन जाता है। इस प्रकार राजा जनक के समान विदेह की स्थिति में रहते हुए जीव परमात्मा बन जाता है। निष्काम भाव से अपने सम्पूर्ण गार्हस्थ धर्म कर्म करते हुइ गृहस्थी भी हरि का प्यारा बन जाता है—

"यत्र निर्लिप्त भावेन संसारे वर्तते गृही।
धर्मं चरित निष्कामं तत्रैव रमते हरिः ॥"

संसार में मनुष्य पेड़ पर पके हुए मीठे मीठे फल तोड़ने के लिये सीढ़ी लगाता हैं तब पेड़ पर चढ़कर उन फलों को तोड़ कर खाता है। और तृप्ति अनुभव करता है। ठीक इसी प्रकार शिक्षा की सीढ़ी द्वारा ही ज्ञान वृक्ष के फल तोड़ कर मनुष्य आत्म तृप्ति का अनुभव प्रतीत करता है। बिना ज्ञान के भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति व विकास सम्भव नहीं है। वह ज्ञान दो प्रकार का है—

१—भौतिक वादी और
२—अध्यामवादी

अध्यात्मवादी विचारधारा के अनुसार उन्नति का अर्थ प्रकृति की नहीं, आत्मा की विजय पाना है।

आज मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह के सामने अपने को नितान्त निर्बल पा रहा है, यद्यपि वह चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रहों पर भी विजय पाने के सतत प्रयत्न में लगा हुआ है। उधर उसके मनोवेगों ने उसे पागल जैसा बना डाला है, वह निरन्तर बेचैन और दुःखी है। यदि प्रकृति पर विजय पा लेने से सुख व शान्ति मिलती है तो आज के युग में तो उसे बहुत बढ़ जाना चाहिये था, परन्तु बढ़ने के बजाय वे दिनों दिन घटते जा रहे है और मनुष्य बेचैन होता चला जा रहा है। भौतिक बाद में मनुष्य चाहे कितनी बड़ी उन्नति भी क्यों न करले, सुख व शान्ति के लिये उसे अध्यात्म मंजिल

का दरवाजा ही खटखटाना होगा। बाहर से दृष्टि मोड़ कर आभ्यन्तरिक दृष्टि अपनानी होगी। इसीलिये तो प्राचीन भारत में भौतिक ज्ञान के बजाय आध्यात्मिक ज्ञान को अधिक महत्व दिया जाता था। इसके लिये हमें आत्मा की ओर ढूंढ करनी होगी। आत्मतत्व का वास्तविक सुख शान्ति और अमरता मनुष्य को प्राप्त होनी सम्भव है।

छान्दोग्य उपनिषद (७/१) में एक प्रसंग पर श्री नारद सनत्कुमार ऋषि के पास गये और बोले—"भगवान् मैंने सारे विश्व का ज्ञान पढ़ डाला वेद, वेदान्त, नक्षत्र विद्या आदि कोई भी विद्या नहीं छोड़ी, परन्तु फिर भी आत्मा में पूर्ण शान्ति नहीं आई। मैं 'मंत्रवित्' हो गया हूँ, 'आत्मवित्' नहीं। प्रकृति का ज्ञान (भौतिक ज्ञान) मंत्र ज्ञान है और अपने आप का ज्ञान 'आत्मज्ञान' है। भगवान् ! मैंने सुना है 'तरतिशोक मात्मवित्'—जो आत्मतत्व को जानता है, वह शोक व दुःखों से पार होकर वास्तविक सुख व शान्ति को प्राप्त होता है ! अतः कृपया मुझे तो आत्मा का उपदेश दीजिये !

"असुर्या नामते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तोंस्ते प्रेत्याभिगच्छन्तिये केचात्महनो जनाः॥"

(यजुर्वेद)

अर्थात् जो कोई आत्मा के हनन करने वाले (आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले) मनुष्य हैं, वे मर कर अन्धकार से आच्छादित हुऐ, प्रकाश रहित जो लोक—योनियाँ हैं, उनको प्राप्त होते हैं।

कठोपानिषद् में यम व नचिकेता की कथा कही गई है—

यम ने नचिकेता को ३-३ बर माँग ने को कहा। नचिकेता ने दो बर मांग लेने के बाद कहा—'भगवन् ! आप तो पूर्ण आत्मतत्व के ज्ञाता हैं, अतः मुझे अब आत्मत्व का दर्शन कराइये !' इस पर यम बहुत घबराकर बोले—'तुम मुझ से धन, ऐश्वर्य, भोगविलास, प्रकृति पर आधिपत्य आदि जो चाहो मांग लो ! परन्तु आत्मतत्व के विषय में कुछ न कहो, वह अत्यन्त कठिन है।' नचिकेता आज के युग के जैसा स्वेच्छाचारी, अनियंत्रित नवयुवक

तो था नहीं, वह तो शुद्ध धार्मिक वैदिक शिक्षा में पला था, वह कहने लगा, 'भगवन् आपने जो ये सब मुझे देने को गिनाए हैं, वे सब तो भौतिक वासनाओं के ही जन्म दाता हैं, इनको सैंकड़ों या सहस्रों वर्ष भी लेते जाँय ये मिटने के बजाय और बढ़ेंगी ! और परिणाम घोर अशान्ति के सिवाय और कुछ हाथ न आयगा ! परन्तु आत्मतत्व के तो एक बार भी दर्शन कर लेने पर यह सम्पूर्ण भौतिक-जगत् स्वयं हाथ जोड़ कर सामने आ खड़ा हो जायगा और आत्मा को स्थाई शान्ति मिल जायगी ! अत: प्रभुवर ! मुझे तो आत्मज्ञान का ही परम कल्याणकारी उपदेश देकर मेरा उद्धार कीजिये !

आत्मतत्व के विषय में याज्ञवल्क्य और मैत्रीय संवाद—
बृहदारण्यक उपनिषद् (४/५)

महर्षि याज्ञवल्क्य वान प्रस्थ में जाने से पहले अपनी दोनों पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी को पास बुलाकर कहते हैं—"मेरी इच्छा अब वान-प्रस्थ लेते की है, इसलिये कात्यायनी के साथ तुम्हारे हिस्से का धन बाँट देना चाहता हूँ।" यह सुनकर कात्यायनी तो प्रसन्न हो गई, परन्तु मैत्रेयी बोल उठी,—"यन्नु मइयं भागों: सर्वापृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्याँ न्वहं तेनामृता।" भगवन् ! धन धान्य से पूर्ण समूची पृथिवी भी मुझे मिलजाय तो क्या मै अमर (दु:ख सुख और जन्म मरण के बन्धनों से मुक्त) हो जाऊँगी ? क्या मेरी आत्मा को इससे पूर्ण शान्ति मिल जायगी ?" इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

"नेति ! नेति !" नहीं ! नहीं ! अमरता तो नहीं मिल सकती ! हाँ धनियों की तरह तुम्हारा जीवन अवश्य हो जायगा। सांसारिक प्राकृतिक साधनों के मिलने से तुझे आत्मिक शान्ति तो प्राप्त नहीं होगी, किन्तु साधन सम्पन्न व्यक्तियों के जीवन के समान ही तेरा जीवन कुछ सहूलियत सुखी जरूर हो जायगा।" इस पर मैत्रेयी ने कहा—

"ये नाहं नामृतास्यांकिमहं तेन कुर्याम्।"

जिस वस्तु के मिलने से मुझे चिरस्थाई सुख व शान्ति नहीं मिलनी है, तो उसके पीछे दौड़ कर मैं क्या लाभ उठाया करूँगी ? इसलिये भगवन्,

मुझे आपकी इस भौतिक धन सम्पत्ति में कोई लोभ नहीं है, नाश्वर वस्तु का लोभ करना मूर्खता है ! मुझे जो असली धन जिससे मैं उमर हो जाऊँ, उस सर्वश्रेष्ठ 'आत्म तत्व' का उपदेश दीजिये ।"

तब याज्ञवल्क्य इस प्रकार उपदेश देते हुये कहते हैं—"हे मैत्रेयी ! सत्-चित् और आनन्द की बृहद्दैवी शक्ति हमारे ही अन्दर है । उसे ढूंढने के लिये कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता । परन्तु उसके लिये पहिले चतुर्मुखी शक्ति प्राप्त करनी आवश्यक है; इसमें वेद का आदेश है—

"नायमात्मा बल ही नेन लभ्यः ।" कि बलहीन व्यक्ति इस आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता । इसीलिये तो गीता में अर्जुन को दुर्बल व्यक्ति जान कर श्री कृष्ण कहते हैं—

"क्षुद्र हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।
सुख दुःखे समेभूत्वा लाभा लाभो जया जयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवपाप मवाप्स्यसि ॥"

हे अर्जुन ! अपने हृदय की दुर्बलता को दूर कर ! उठो ! युद्ध करो । सुख दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय की चिन्ता न करते हुये, युद्ध करता हुआ तू ! अपने क्षत्रिय धर्म का पालन कर ! तब पाप तुझे नहीं लग सकता ।"

परन्तु हमारी ये सभी चतुर्मुखी (शारीरिक बोद्धिक, नैतिक और आत्मिक) शक्तियों सदा सत्कर्मों में ही लगाई जानी चाहिये, भूल कर भी बुरे कामों में नहीं ।

"बलं बलवतामस्मि काम राग विवर्जितम् ।" वही शक्ति दैवी होती है, जो काम और पक्षपात से रहित हो । बुद्धिमानी इसी में है कि हमारी दैत्याकार भारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आर्थिक शक्तियों एक मात्र जीवमात्र के हित साधन में ही खर्च हों, उनको दुख देने व संताने में नहीं ।

मानव को उस महान् शक्ति को अपने में इकट्ठा करने के लिये सर्व व्यापक अपार शक्ति पुञ्ज परमात्मा की उपासना करनी होगी जो प्रत्येक पदार्थ में अपने को तथा परमात्मा को देखता है वही एकमात्र उसका श्रेष्ठ

उपासक है। क्योंकि वह अपार शक्ति एक ब्रह्मरूप हो सर्वत्र विराजमान है, और भिन्न-भिन्न रूपों में भी वही दीखता है। वह ब्रह्म किसी भी कालमें अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता।

जब चैतन्य सर्व व्यापक होता है, तब उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है; वही जब शरीर विशेष में प्रगट होता है तब 'आत्मा' या 'प्रत्यआत्मा' कहा जाता है, और आत्मा जब शरीर के साथ तदात्म्य सम्बन्ध वाला होता है, तब उसे जीव कहते हैं।

शुद्ध आत्मा जीव भाव को कैसे प्राप्त होता है ?

जैसे दीपक प्रकाश ही करता है, अन्य कोई क्रिया नहीं करता; परन्तु वही चैतन्य शुद्ध होने पर भी देहादि की भावना करने मलिन जैसा, निर्विकल्प होने पर भी सविकल्प जैसा, अजड़ होने पर भी जड़ जैसा और सर्व व्यापक होने पर भी परिच्छिन्न जैसा हो जाता है।

इस प्रकार एक मात्र देह के संग के कारण शुद्ध आत्मा में जीव भाव आजाता है।

कहीं एक स्फटिक शिला पड़ी है, तो उसके पास लाल, पीले या विविध रंगों की जितनी वस्तुऐं रक्खी जायेंगी वह (स्फटिकशिला) उतने ही रंगों की दिखाई देगी। स्फटिक स्वरूप से तो श्वेत है, वह अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं करती, परन्तु यहाँ उपाधि के संयोग से, वह विविध रंगों वाली दिखाई देती है, ठीक इसी प्रकार 'ब्रह्म' स्वरूप से तो अच्युत ही है, किसी भी काल में अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, तथापि उपासना के भेद से वह विविध रूपों उपासित होता है।

जल जैसे तीन रूपों में—१ वर्फ के रूप में, २. भाप के रूप में और ३. प्रवाही रूप में अलग-अलग दीखता है, तथापि स्वरूप से वह जल एक रूप है। इसी प्रकार चैतन्य भी ३ रूपों में रहता है:—१ जगत् के रूप में, २ जीव के रूप में और ३. पूर्ण ब्रह्म के रूप में। यद्यपि ये तीनों रूप भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले दिखाई देते हैं, परन्तु स्वरूप से सब एक ही है, केवल विवर्त से भिन्न भिन्न रूप में भासते हैं। अन्धेरे में रस्सी भी सर्प लगने लगती

है, परन्तु रस्सी सर्प नहीं है। भ्रम दूर होते ही सत्य स्पष्ट होजाता है। इसी प्रकार चैतन्य भिन्न-भिन्न २ रूपों में भासने पर भी अपने मूल निर्विकल्प व निर्विकार स्वरूप में ही रहता है। वह अपने मूल रूप को कभी नहीं छोड़ता, इसीलिये वह 'अच्युत' भी कहलाता है।

अभिनय का दृष्टान्त—

नाटक में आप देखते हैं—एक ही पात्र कभी राजा दशरथ का, कभी ब्राह्मण का, कभी बाली का या कभी अन्य कोई वेश धारण कर अभिनय करता है। तथापि अभिनय करते समय, उक्त किसी भी वेश का उसके अपने मूल स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अपने मूल स्वरूप का निश्चय उसमें पूर्ववत् ज्यों का त्यों बना रहता है। नाटक में वह भिन्न २ रूपों (वेशों) में दिखाई देने पर भी स्वरूप में अच्युत ही बना रहता है।"

"फिर वह चैतन्य कितने रूपों में रहता है और इस जन्म मरण के चक्र में कैसे पड़ता है ?" मैत्रेयी ने बड़ी नम्रता से पूछा।

इस पर आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

"संक्षुब्ध मक्षुब्ध मितिद्विरूपम्—
संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः"
(योग वासिष्ठ)

संवित्—चैतन्य दो रूपों में रहता है। (१) संक्षुब्ध विवर्तभाव से—जीव जगत् के अवतार के रूप में, (२) अक्षुब्ध—निर्विकल्प, निर्विकार और निरंजन के रूप में।

इस प्रकार जीव का ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र स्वरूप नहीं है। ब्रह्म स्वयं ही बहिर्मुख होकर 'एकोऽहंबहूस्याम्" मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ—इस भावना को अपना कर देह विशेष में आत्मा रूप से प्रगट होता है, और अपनी ही माया से देह के संग के कारण जीव भाव को अंगीकार करके जन्म मरण के चक्र में भटकने लगता है।

जो ब्रह्म में है वही पिण्ड में भी है। अपने कौतूहल या लीला के लिये ही ब्रह्म इस सृष्टि की रचना करता है। जैसे मनुष्य भिन्न-भिन्न,

कल्पना के भिन्न भिन्न कौतूहल करता है। जैसे एक ब्राह्मण शूद्र कन्या को अपना कर अपने विप्रत्व से च्युत होकर शूद्र बन जाता है, वैसे ही शरीर का संग अपना कर चैतन्य या ब्रह्म जीव भाव को अंगीकार कर 'मैं जीव हूं"—ऐसा मानने लगता है और उसी के अनुसार उसकी सारी क्रियाएं होने लगती हैं, तब वह अपने ब्रह्मरूप को सर्वथा भूल जाता है तथा जिस भी शरीर को धारण करता हैं उसी के स्वभाव व गुणों वाला बन जाता है।

आपने देखा होगा कि किसी संगीत सम्मेलन में गान और नृत्य देखते देखते आये हुये दर्शक गण, इच्छा न होने पर भी डोलने लगते हैं, ताल देने लगते हैं और कोई-कोई तो नाचने गाने भी लगते हैं, ठीक इसी प्रकार यह आत्मा पूर्ण काम होते हुए भी बुद्धि के भोग देखकर उनमें ललचा जाता हैं और परिणाम में उसके साथ एक रूप हो जाता है।

इस प्रकार अनादि और अनिर्वचनीय माया के आवरण (देह) के कारण, आत्मा स्थूल शरीर के जन्म-मरण को और सूक्ष्म शरीर के आवागमन को अपने में मानकर अपने में स्वयं ही बन्धन की कल्पना करता है। बन्धन की कल्पना हुई तब उससे छूटने के लिये मोक्ष की भी कल्पना करता है। अपराध किया, उसमें पकड़ा गया, फिर उससे छूटने के लिये साधन जुटाने में लग जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनी ही माया से बंध कर विविध शरीर धारण करता है—अर्थात् जन्म मरण के प्रवाह में बहता फिरता है।

मनुष्य में कभी-कभी भ्रम व शंका आ जाने से वह असद् व्यवहार करने लगता है। इसका कारण चित्त में मल व विक्षेप का आना है। मल और विक्षेप—चित्त में होने वाली राजसिक और तामसिक दो प्रकार की मलिनता है। इन्हें कषाय भी कहते हैं। तामसिक मलिनता से मोह, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, जड़ता, भय, निद्रा, संशय, अनीश्वरता और विपर्यय ज्ञान की कारणरूपा देहात्मबुद्धि उत्पन्न होती है, राजसिक मलिनता से चिन्ता, शोक, लोभ, काम, क्रोध, दम्भ, ईर्ष्या, मद, मत्सर, अहंकार आदि चित्त में विक्षेप करने वाले दोष उत्पन्न होते हैं। इन दोषों के वेग से चित्त अशान्त, दुःखी, चंचल और व्यग्र रहता है। चित्त के इन दोषों को दूर करने

के लिये कर्म और उपासना आवश्यक है।

जब मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करता है तब वह कर्त्तव्य को कर्त्तव्य की दृष्टि से करता है, फलाकांक्षा की दृष्टि से नहीं और उसका परिणाम यह होता है कि पूर्व जन्म के कमाये हुये सारे पाप व दुःख समाप्त हो जाते हैं। तब अविद्या, काम अथवा कर्म—इनका कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता और न इनके कारण होने वाले जन्म मरण का ही कुछ मतलब रह जाता है। कर्म में आसक्ति ही बन्धन का कारण है, और निरासक्ति ही मोक्ष का कारण है। इस मोक्ष की स्थिति (विदेह स्थिति) पर आ जाने से जीव जन्ममरण के चक्र से छूट जाता है।

इस पर मैत्रेयी ने फिर पूछा—"भगवन्! यह तो ठीक है कि इस प्रकार की निष्काम भावना अपनाने से नये कर्म तो उत्पन्न नहीं होंगे, परन्तु पिछले संचित कर्मों के फल का क्या होगा?"

याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—"तदधिगम उत्तरपूर्वार्धं योरश्लेषविनाशौ।" अर्थात् ज्ञानी के पूर्व संचित कर्म समाप्त या नष्ट हो जाते हैं और उसके आगामी कर्म निष्काम (निरासक्त) भाव से किये जाने के कारण, उसके पुनः जन्म के हेतु नहीं बनते और प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो जाते हैं—फिर कोई कर्म शेष नहीं रहते—जब बैंक बैलेन्स ही कुछ नहीं है तो बैंक में पुनः आना जाना क्यों? आने जाने का कारण ही सब समाप्त हो जाता है। जीव और ब्रह्म की फिर से एकता में देरी का कारण उसके सकाम कर्म ही हैं। ज्यों ही सकाम कर्म समाप्त हुये कि जीव व ब्रह्म एकाकार हो गये। बरफ व वाष्प जब तक पिघलते नहीं तभी तक जल से पृथक हैं। पिघल कर एक जल रूप बन गये तो पृथकत्व फिर कहां रह जाता है?

"यथा जलेजलं क्षिप्तं क्षीरेक्षीरे घृतेघृतम्।
अविशेषो भवेद् जीवात्म परमात्मनोः॥"

(उत्तर गीता २/२)

जिस प्रकार जल में जल डालने से, दूध में दूध डालने से और घृत में घृत डालने से एक रूप हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव परमात्मा में मिल जाने से एक रूप हो जाता है।

'इदं सर्वं यदयमात्मा'—यह सब जो कुछ है, वह आत्मा ही है। 'शिव एव गृहीत पशुभाव:' जीव के रूप में शिव (ब्रह्म) ने ही पशु भाव को ग्रहण कर रखा है। अभ्यास के कारण ही शु० चैतन्य (ब्रह्म) जीव रूप हो विचरता है। यह अध्यास ही भ्रान्ति मूलक है। देह के सम्पर्क में आने पर निर्विकार आत्मा (शु० चैतन्य या ब्रह्म) को मिथ्या यानी अकारण तादात्म्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है। जैसे स्फटिक के पास लाल पुष्प रख देने पर स्फटिक स्वाभाविक ही लाल दीखता है, और उस लाल पुष्प के न हटाने तक वह लालिमा—मिथ्या दिखावा मात्र होने पर भी दूर नहीं होती (ऐसी भ्रान्ति को शास्त्रीय भाषा में 'सोपाधिक भ्रम' कहा जाता है) ठीक इसी प्रकार जब तक आत्मा और लिंग (सूक्ष्म) शरीर पास पास रहते है, तब तक स्वाभाविक ही लिंग देह के धर्म आत्मा में दीखते हैं और अध्यास बना रहता है। अर्थात् जीव भाव की निवृत्ति न होने का अर्थ यह हुआ कि आत्मा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि 'मैं' इन दोनों देहों से भिन्न हूँ। ऐसा निश्चय होने पर कारण शरीर नष्ट हो जायगा और पश्चात् प्रारब्ध का क्षय होते ही स्थूल शरीर यहीं नष्ट हो जायगा और लिंग देह, कारण शरीर के आधार के अभाव में, स्थूल शरीर को छोड़ कर बाहर निकलते ही नष्ट हो जायगा। इस प्रकार तीनों देहों (कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर) के नाश होने पर आत्मा को अध्यास होने का फिर कोई कारण शेष नहीं रह जाता। आत्मा के अध्यास होने में एक मात्र कारण है अविद्या (कारण शरीर) और अध्यास होता है लिंग देह में और उसके द्वारा स्थूल देह में भी।

भवन नष्ट होने पर जिस प्रकार भवन का आकाश उपाधि के अभाव में महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही तीनों देहों के नाश होने से, उपाधि के अभाव में योगी का आत्मा परमात्मा मिलकर एक हो जाता है। क्योंकि आत्मा स्वरूपत: तो परमात्मा ही है, केवल देह के संग से जीव भाव को प्राप्त हो गया था, वह पुन: भ्रान्ति के दूर होते ही फिर अपने असली रूप को प्राप्त हो गया। वास्तव में बीच में अविद्या के कारण जो देह

भाव को प्राप्त हो गया था, वह दूर होवे पर वह अपने पुनः असली स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अहं भाव जीव में से पूर्णतः समाप्त होने पर वह परमात्मा बन जाता है।

जब तक यह जीवात्मा मुक्त नहीं होता, तब तक प्राण इसके साथ-साथ प्रहरी की तरह चलता रहता है—जैसे एक कैदी जो जेल से मुक्त नहीं हुआ, दंड भोग रहा है, एक जेल से जब दूसरी जेल में ले जाया जाता है, तो पुलिसमैन उसके साथ-साथ चलता है, परन्तु जब वही कैदी जेल से मुक्त हो जाता है तो उसके साथ कोई पुलिसमैन नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह जीवात्मा जब तक बन्धन में है, एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तो कैदी के साथ पुलिस की तरह प्राण जीवात्मा के साथ-साथ प्रत्येक शरीर में चलता रहता है, परन्तु जब वह मुक्त हो जाता है तो प्राण भी उसका साथ छोड़ देता है अर्थात् तब उसे देह धारण नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह अपनी मूल भूत आत्मा परमात्मा में सदैव के लिये एकाकार हो विलीन हो जाता है।

दूसरे प्राणियों का शरीर जो 'भोग क्षेत्र' मात्र है, जहाँ पर जीवात्मा पिछले जन्मों के कर्मों का फल भोगता है; परन्तु मानव शरीर (जिसमें उचित अनुचित को विचार कर कार्य करने की सुविधा है) एक कर्म क्षेत्र है जिसमें हम केवल पिछले जन्मों के कर्मफल ही नहीं भोगते किन्तु ऐसे नये कर्म भी करते हैं जो हमें मुक्ति भी दिला सकें। इसीलिये यह मानव देह विशेष महत्व का है। अतः इस मानव देह के पाने के बाद मनुष्य को कर्म और उपासना के द्वारा उस सर्व व्यापी परमात्मा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। इसमें वेदान्त का यही आदेश है कि अपने दैनिक कार्य करते—अपने सांसारिक नाटक का अभिनय करते हुये, कभी भी परमात्मा को न भूलो। यहाँ तक कि तुम्हारे सब काम (अभिनय) नाटक पात्र की तरह निष्काम (आसक्ति रहित) हों तभी जीवन का सौन्दर्य है'—आत्मैकत्व दर्शन का यही सन्मार्ग है।"

जब निरन्तर सभी जीवों में भगवान् की भावना की जाती है, तब

अल्पकाल में ही चित्त से स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर होकर यह निश्चय हो जाता है कि समस्त देहधारियों के अन्दर एक ही आत्म ज्योति छिटक रही है और कार्य-कारण से, माया से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में यह सब नाटक उस एक की रचना है, और उसी में पुनः लीन भी हो जाता है। मकड़ी व उसके जाल की तरह। वह परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत् का आदि मध्य और अन्त है। जैसे घड़े का आदि मध्य और अन्त मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है।

जो लोग भगवान् की माया से मोहित होकर देह को ही आत्मा मान कर उसमें आसक्त हो जाते है, सब कुछ उसकी ही तुष्टि के लिये करते फिरते हैं वे ही भगवान् की माया से मोहित हुये रहते हैं, यही अज्ञानता है। भगवान् की इस त्रिगुणमयी माया से छूटने के लिये ही समझदार लोग निरन्तर उसका भजन ध्यान और उपासना करते है और सरलता से पार हो जाते हैं।

चरक संहिता में हिताहित परखने पर बड़ा जोर दिया गया है। जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थ को न रहने पर भी स्वप्न में भोक्ता, भोग्य और भोग रूप फलों का अनुभव करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष इस संसार की माया का अनुभव करते हैं। परन्तु समस्त प्राणियों का आत्मा अपने हित और अहित को भली भाँति जानता है, क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित और अहित का निर्णय करने में पूर्णतः समर्थ है।

"सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः।"

(च० सू० अ० ७)

अर्थात् संगति उन लोगों की करनी चाहिये जो सद्परामर्श देने वाले हों, जिनके वार्तालाप सुनने से तथा जिनके दर्शन करने से अपनी प्रवृत्ति स्वतः ही शुभ मार्ग की ओर जाने लगे।

आज के युग में मानव के अनेक रोग, चिन्ता, भय, शंका आदि का एक मात्र कारण दूषित कुसंगति का वातावरण ही है। सत्संगति से सदैव

युक्ताहार-विहार और आरोग्य की ही उत्पत्ति होती है। अतएव मनुष्य यदि अच्छी संगति में रहेगा तो अनेकानेक मिथ्याहार विहारों से बचेगा। संगति किन की सेवनीय है, महर्षि चरक ने कहा है—

"पापी आचरण वाले, पापी वचन बोलने वाले, पापी स्वभाव वाले, चुगल खोर, झगड़ालू प्रवृत्ति वाले, कर्कश बाणी बोलने वाले, बुरा मजाक करने वाले, लालची, जलने-कुढ़ने वाले, ईर्ष्यालु, निर्दयी, दुष्ट, धूर्त, सदा निन्दा करने वाले, चंचल स्वभाव वाले, शत्रुओं से मिले हुए, चापलूस मुँह के सामने बड़ाई करने वाले, सदाचार शून्य, अधम, नीच मनुष्यों की संगति में कभी भूलकर भी उठना, बैठना या रहना नहीं चाहिये। इसमें कभी भी बदपरहेजी नही बरतनी चाहिये।

बदपरहेजियाँ जो मिथ्याहार-विहार के कारण दुष्टों की संगति से भी होती हैं, वे स्थूल ही नहीं सूक्ष्म भी होती हैं अर्थात् शरीर के साथ-साथ मन पर भी उनका प्रभाव पड़ता है। कुसंगति से व्यक्ति का स्वभाव ही बदल जाता है, वह अशान्त रहने लगता है। कभी-कभी वह भय, शङ्का, भ्रम, शोक आदि में वह इतना फंस जाता है कि उन्माद, अपस्मार, अतत्वाभि-निवेश (भयंकर उन्माद) आदि रोग उसे आसानी से आ दबोचते हैं।

जिसमें मानसिक शान्ति नहीं, जिसके अन्दर काम, क्रोध, भय, शंका आदि ने सूक्ष्म रूप से (अन्दर) वात, पित्त, कफ, आदि को प्रकुपित कर दिया है और इस प्रकार जिसके वात तन्तु (Nerves) सदैव असामान्य रूप से आतंकित और उत्तेजित रहते हैं, वह सदा ही आधि-व्याधि से पीड़ित हुआ समझना चाहिये, उसका हृदय भी दुर्बल पड़ जाता है। वह कभी भी दीर्घायु स्तर पर नहीं पहुँच सकता।

संगति किन की करे इस पर आचार्य चरक कहते हैं—

"बुद्धि विद्यावयः शीलः धैर्यस्मृति समाधिभिः।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावजागतव्यथाः॥
सुमुखाः सर्वसत्वानां प्रशान्ताः शंसित व्रताः।
सेव्याः सन्मार्ग वक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः॥"

जिनमें विद्या अधिक हो, बुद्धिमान्, आयु में अपने से बड़े, सुशीलता में बड़े हों, जिनमें धैर्य स्मृति आदि गुण बड़ी मात्रा में हों, जिनकी याद-दाश्त भी उत्तम हो, जो अपने चित्त को एकाग्र रख सकते हों (चंचल मन वाले न हों), जो आपके स्वभाव से परिचित हों, जो सदैव हंसमुख व प्रसन्न चित्त रहते हों, शान्त स्वभाव वाले, नियम परायण (संयम नियम पूर्वक जिनकी दिन चर्या चल रही हो) सदैव अच्छी सलाह देने वाले—ऐसे व्यक्तियों की सगति में ही उठना बैठना या रहना चाहिये।

ऐसी भाग्यशाली सत्संगति जिस व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है, उसे ईर्ष्या, द्वेष, भय, शोक, संशय, क्रोध आदि मनोविकार कभी भी अनावश्यक रूप से उत्तेजित या आतंकित नहीं कर पाते, मानसिक शान्ति व विश्राम उसे भरपूर मात्रा में उपलब्ध होते रहते हैं और उस पर वाततन्तुओं का अस्वाभाविक आतंक और तनाव भी नहीं पड़ने पाता। इस प्रकार उसे आधि-व्याधि का भय भी नहीं रहता और इस सुख, शान्ति और स्वस्थता में वह दीर्घायु प्राप्त करता है।

"परीक्ष्यकारिणोहि कुशलाः भवन्ति।"

(च० सू० अ० १)

परीक्षा करके, खूब जांच पड़ताल करके, काम करने वाले लोग ही कुशल होते हैं। बिना परीक्षा किये कभी कोई काम नहीं करना चाहिये। जो इस नियम में असावधानी बरतते हैं, उनका अनहित होना स्वाभाविक ही है।

राजनीति के परमाचार्य इस विषय को अधिक स्पष्ट शब्दों में यों वर्णन करते हैं—

"कोऽहं कोदेशकालौ समविषमगुणः केऽरयःकेस्वपक्षाः।
कुत्रेमे कार्ययोगाः रिपुसमसुहृदां कीदृशः शक्तिसारः॥
सम्पत्तौ कोऽत्रबन्धुः प्रतिहतवचन स्योत्तरंकिन्नु मेस्यात्।
इत्यर्सकार्य सिद्धावविहितमनसो नोवाहस्या भवन्ति॥

(मुद्राराक्षस)

"मैं कौन हूँ, मेरी परिस्थिति क्या है, जमाना कौन है, यह देश कैसा है, कौन-कौन सी परिस्थितियां मेरे अनुकूल और प्रतिकूल हैं। मेरे शत्रु और मित्र कौन हैं। मेरा यह कार्य कहाँ पर होगा। मेरा यह कार्य किस-किस को प्रभावित करेगा। छिपे अज्ञात मित्रों की ताकत कितनी है और अज्ञात शत्रुओं की ताकत कितनी है। यदि मुझे सफलता मिली तो मुझे कौन कौन नवीन मित्र प्राप्त होंगे और असफलता मिलने पर कौन-कौन संकट आ सकते हैं, असफल होने पर मैं जनता को क्या जवाब दूँगा ?"

इस प्रकार इन सब बातों पर जो लोग पहिले से ही भली प्रकार विचार कर लेते हैं और सावधानी से शुभ कार्य आरम्भ करते हैं, वे कभी असफल नहीं होते और कभी परिहास को भी प्राप्त नहीं होते।

आचार्य चरक ने इस बात को बलपूर्वक कहा है कि समझदार और जितेन्द्रिय लोग हर बात में तथा प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति में हित को ही ग्रहण करते हैं, किन्तु मन्द बुद्धि और अजितेन्द्रिय लोग प्रेय-प्रिय को ही ग्रहण करते हैं। प्रिय तथा हित में से जब एक को चुनना हो, तो सदा हित को चुनना चाहिये। हितकारी मार्ग चाहे कितना ही नीरस, अप्रिय, अरुचि कर व कष्ट प्रद क्यों न हो बुद्धिमान को उसी पर चलना श्रेयष्कर है। अहित-कारी मार्ग चाहे कितना ही सरल, प्रिय व रुचिकर भी क्यों न हो उस पर भूल से भी नहीं चलना चाहिये।

उस हित मार्ग का दर्शक मनुष्य के अपने ही अन्दर है, अपने ही दिल में है—

"दिल के आईने में है, तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन मोड़ी कि देखली।"

उस परम हित चिन्तक दोस्त की सलाह पर जो नहीं चलता, उसका पतन निश्चित देखा जाता है।

चिकित्सा शास्त्र के आदि गुरु महर्षि अग्निवेश ने चरक संहिता की रचना कर विश्व का महान कल्याण किया। इसमें मानव जीवन के लिये प्रायः सभी विषयों का समावेश कर गागर में सागर भर दिया सा जान

पड़ता हैं। इसमें हर व्यक्ति अपनी अभीष्ट वस्तु पा सकता है और जीवन के हर क्षेत्र में अपने लिए मार्ग प्रदर्शन की सामग्री प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि यह मानव देह भी अन्य योनियों की भांति ही नाशवान है, परन्तु इस का महत्व इस बात में है कि इस के द्वारा ही परमार्थ की सत्य वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वासुदेव ने उद्धव से कहा है—

"उद्धव जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है, जिससे ब्रह्म और आत्मा का साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है। मनुष्य योनि प्राप्त कर भी जो इस ज्ञान को प्राप्त न किया तो सब निष्फल ही जानो।"

इस लिये बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह यह जानकर मृत्यु से पूर्व ही सन्मार्ग अपनाकर ऐसी साधना कर ले, जिससे मृत्यु के बन्धन से सदा के लिए छुटकारा मिल जाय।

"सत्व सम्पन्न या बुद्धया मन आत्म वशंनयेत्।"

इन्द्रियों और अपने प्राणों को वश में रक्खे। इस चंचल मन की बागडोर मजबूती से काबू में किये रक्खे और उसकी प्रत्येक गतिविधि पर कड़ी निगरानी रक्खे। इस प्रकार सत्वसम्पन्न बुद्धि द्वारा धीरे धीरे मन को वश में कर लेना चाहिये और भगवान में उसे अनन्य भाव से लगाये रखने का प्रयास सतत जारी रहे।

यावत्सर्वेषु भूतेषु मदभावो नोप जायते।
तावदेव मुपासीत वाङ्मनः काय वृत्तिभिः॥ (कपिलमुनि)

जब तक समस्त प्राणियों में मेरी भावना भगवद भावना न हो जाय, तब तक मन, वाणी, शरीर के सभी संकल्पों और कर्मों द्वारा भगवान की उपासना करता चले।

वास्तव में साँसारिक धन और भोगों से संतुष्ट न होना ही जन्म मृत्यु का वास्तविक कारण है। अतः जो कुछ अपने परिश्रम से मिल जाय उसी में देव, ऋषि, पितर, अन्य जीव आदि को उनका भाग देकर और इस प्रकार यज्ञ द्वारा बचे हुए प्रसाद को जो ग्रहण करता है, उसे ही जन्म मृत्यु के विकट बन्धन से छुटकारा मिलता है।

आज मनुष्य चलते चलते विकट परिस्थिति में आन फंसा है। सन्मार्ग भूलकर, भयभीत, सशंकित व पीड़ित थका सा मारा मारा फिर रहा है। जाल में फंसे मृग की भाँति, अनेक प्रयत्न जाल से निकलने को कर रहा है, परन्तु उसमें वह और फंसता चला जा रहा है। पुर जोर कोशिश कर रहा है, चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रहों में डेरा डालने की मोज से वहां की सैर करने की इच्छा की तो कोई हद होती है, परन्तु तृष्णा की तो कोई सीमा नहीं होती। मेरे विचार में तो यह तृष्णा ही आज मानव को चारों ओर से खाये जारही है, इसी लिए वह दुःखी है। भौतिकवाद की अभूत पूर्व उन्नति के चश्मे ने उसे वास्तविक सत्य देखने को अन्धा बना दिया है।

आज संसार के दो महान राष्ट्र अपनी शक्ति से सारी दुनिया पर छा जाना चाहते हैं। अमेरिका अपनी अपार धन व वैज्ञानिक शक्ति से नक्षत्रों तक में छा जाना चाहता है, वहाँ रूस व चीन अपनी साम्यवादी नीति और आधुनिक वैज्ञानिक शक्ति से अमेरिका को पछाड़ने व दुर्बल करने के लिये हर प्रकार के दाव पेचों में लगे हुए हैं। उधर मध्यपूर्व में लगभग २१ लाख आबादी का एक छोटा सा देश विश्व में अन्य राष्ट्रों के साथ शान्ति पूर्वक रहने के लिए, अरब राष्ट्रों के मध्य में, निरन्तर अपने जीवित रहने के लिए हाथ पैर पटक रहा है. परन्तु पड़ोसी अरब राष्ट्र उसका नाम निशान मिटाने पर तुले हुए हैं और इस प्रकार विश्व अशान्ति की आग वहाँ बराबर सुलग रही है।

विश्व शान्ति स्थापना के लिये विश्व के सम्पूर्ण राष्ट्रों का एक राष्ट्र संघ बना हुआ है। वहाँ एकत्र विश्व एकता और विश्व शान्ति का नारा लगाने वाला प्रत्येक राष्ट्र अपनी जेब में छुरा और रिवाल्वर छिपाये बैठाहै और मौका मिलने पर अपने पड़ोसी या विरोधी के पेट में भोंकने को तैयार है। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का मनुष्य से विश्वास सर्वथा उठ गया है।

इस सबका परिणाम यह है कि आज संसार में दुःख, दरिद्रता गरीबी कष्ट, भ्रष्टाचार, निराशा, बेचैनी, परावलम्बन और असन्तोष उत्तरोत्तर

बढ़ते ही जा रहे हैं ।

नित नये नये वैज्ञानिक अविष्कार और विविध प्रकार की मशीनों के द्वारा मनुष्य प्रकृति का स्वामी बनता जा रहा है । आज मानव मशीन के द्वारा प्रकृति का स्वामी तो कुछ हद तक जरूर बन बैठा, परन्तु उस मोटर से वह दूसरे का कत्ल कर रहा है या दिन दहाड़े बैंकों पर डाका डालने में उसका उपयोग कर रहा है । जहाज बना है तो उसका उपयोग निरीह जनता पर बम बरसाये जा रहे हैं, तो ऐसी विजय किस काम की ?

लोग कहते है इस संसार का निर्माण परमात्मा की कृपा से हुआ है । उसने इसकी रचना जीवों की भलाई व सुख के लिये ही किया है । परन्तु आज चारों ओर सुख के बजाये दुख, बेचैनी और विनाश के अतिरिक्त और क्या दिखायी दे रहा है ? मानव-मानव में इतना वैमनस्य क्यों ? क्या यही भगवान की बनाई हुई मानवता है, जिसका नग्नरूप देखकर लज्जा व भय के मारे आंखें बन्द हो जाती हैं । आज मानव रक्त से वसुन्धरा देवी का खप्पर लबालब भर रहा है, खेतियों को मानवीय अस्थिचूर्ण से उपजाऊ बनाया जा रहा है । प्रजातन्त्र दिखाने मात्र रहकर राजनीतिज्ञों की स्वार्थ पिपासा बुझाने के प्याऊ के अड्डे बने हुये हैं ।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की श्री वृद्धि न देख उसे मिटाने पर तुला हुआ है । बड़े बड़े शीश महल धाँय धाँय कर विध्वंसक बमों के कारण मिनटों में जलकरभूमिसात होते देर नहीं लगरही है और अपने आप को मानव कहलाने वाला जीव, अग्नि की उन प्रचण्ड ज्वालाओं में जीते जी जलने वाली सहस्त्रों सतियों के हाहाकार को सुनकर अट्टहास की हंसी हंस रहा है । असंख्य शिशु अनाथ होते हैं तो क्या ? अस्पतालों तक को बमों से तबाह किया जा रहा है तो क्या ? निरीह जनता गोलियों की बौछार से चीटियों की तरह भुनी जा रही है तो क्या ? असंख्य नव विवाहिता अबलाओं के सुहाग पर वज्रपात हो रहा है तो क्या? क्या यही है प्रकृति पर मानव विजय का वैज्ञानिक चमत्कार ?

यह सब कुछ देख कर रोमांच हो उठता है और मानव पुकार उठता है 'क्या इस भयंकर विनाशकारी अवस्था से, असंख्य भवरों तथा तूफानों से भरपूर इस विकट संसार सागर में जीवन बिताने का कोई उपाय भी हो सकता है ? वेद के गम्भीर शब्दों में उत्तर मिलता है ।

"तेन त्यक्तेन भुञ्जी थाः ।"

अर्थात् इस संसार में वैराग्य भाव से यहां के पदार्थों का भोग करना ही संसार के दुःखों से छूटने और उससे पार होने का एक मात्र मार्ग है ।" इस संसार में दो प्रकार की विचार धारा पाई जाती है । (१) अध्यात्मवादी (२) भौतिकवादी । भौतिकवादी विचार धारा में प्रकृति पर विजय पाना है, और यही इनकी चरम उन्नति है । परन्तु अध्यात्मवादी विचारों की दृष्टि में उन्नति का अर्थ प्रकृति पर विजय पाना नहीं है बल्कि आत्मा की विजय है—मानव का चरम लक्ष्य आत्म ज्ञान या आत्मतत्व की उपलब्धि है ।

आज भौतिकवादी मनुष्य बाहरी प्रकृति का स्वामी बनने का घमण्ड करता हुआ अपने ही अन्दर रहने वाले शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के सामने अपने को असहाय और निर्बल पा रहा है, छटपटा रहा है । इन मनो वेगों के सामने वह पागल सा बना जान पड़ता है । आखिर इस सब का दोष किसका है ? क्या विज्ञान का ? नहीं—यह विज्ञान का दोष नहीं । इसका वास्तविक दोषी, मनुष्य की वह स्वार्थ भरी भावना है, जो दूसरों की वस्तु या अधिकार को अपनी वस्तु या अधिकार बनाना चाहती है । आज के युग के अनुसार भौतिकवादी दृष्टिकोण के परिचायक संसार के साम्राज्य-वाद और साम्यवाद दोनों ही है । अर्थात् लन्दन और न्यूयार्क की साम्राज्य वादी विचार धारा का यही तो उद्देश्य है कि धन और अस्त्र शस्त्र के बल से संसार में जो वस्तु मेरी नहीं है वह किसी तरह मेरी हो जाय और मास्को व चीन की साम्यवादी विचार धारा, सुनने में इससे भिन्न हो सकती है, परन्तु लक्ष्य तो उसका भी वही है, जो साम्राज्यवादी विचार धारा का है । परन्तु सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि आज भारत निर्बल बना हुआ दोनों के बीच में पिसा जा रहा है और बेचैनी का शिकार हुआ कराह रहा है । और वह भी वह भारत जो कभी—

जंग के सुसज्जित भाल में भारत रहा मणि तुल्य था।
सब का प्रसंशागार जगमग रत्न वो बहुमूल्य था।।"
एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्व स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याँ सर्व मानवाः।।

जिसमें संसार भर से उच्चशिक्षा, ज्ञान सभ्यता और चरित्र निर्माण के लिये यहाँ आते थे और भारत का उच्च आदर्श इस प्रकार संसार भर के राष्ट्र अपना कर अपने को गौरव शाली समझने में समर्थ होते थे। और वह भारत जिसने—पृथ्वी की सभ्यता के आदि काल में सम्पूर्ण विश्व कल्याण के लिये—

'अनुपम वैदिक विचार धारा को जन्म दिया था। जो महान्त्यागी व तपस्वी ऋषि मुनियों की महान देन है।'

वह विश्व उद्धारक प्राचीन भारतीय विचार धारा इन साम्राज्य-वादी और साम्यवादी दोनों दृष्टि कोणों से भिन्न है।

प्राचीन भारत की वह वैदिक विचार धारा पूर्णतः आध्यात्मिक दृष्टि कोण पर आधारित है, जिसमें मानव को जीव मात्र के प्रति त्याग व सेवा का विशाल दृष्टि कोण अपना कर जग कल्याण की महान भावना सन्निहित है। वह जगह जगह देखती है, कौन वस्तु अपनी है और कौन दूसरे की। जो अपनी नहीं है, उसमें मेरा दखल देने का अधिकार ही क्या है? इसी लिये प्राचीन सनातन धर्म व वैदिक धर्म ने शान्ति, सुव्यवस्था, सुख और अमरता के लिए 'अपरिग्रह' का उपदेश दिया। 'परि' का अर्थ है चारों तरफ से, 'ग्रह' का अर्थ है ग्रहण करना या पकड़ना। 'परिग्रह' का अर्थ है किसी वस्तु को चारों तरफ से पकड़ना या ग्रहण करना और अपरिग्रह का अर्थ है उसे छोड़ देना।

सनातन धर्म व वैदिक धर्म ने संसार के सुख व ऐश्वर्यों को भोगने से मना नहीं किया है, परन्तु उन्हें भोगते हुए उनमें डूबने (आसक्ति) से मना किया है। उन्होंने संसार को भोगों के भोगने में वैराग्यभाव (अनासक्त या निर्लेप भाव) से भोगने का आदेश दिया है।

"तेन त्यक्तेन भुञ्जी थाः"

पर बार-बार जोर दिया है।

अपने परिश्रम से जो प्राप्त हो, उसी में सुख, सन्तोष व बरकत है, क्योंकि वही सब प्रकार पवित्र है। अनायास मिला धन, ऋण से लिया हुआ धन व अन्य भ्रष्टाचार से मिला धन सर्वथा अपवित्र है और नरक में धकेलने वाला है।

वास्तव में सांसारिक नाशवान् पदार्थों के प्रति मोह व लोभ ही मनुष्य के बहुत से अनर्थों का मूल कारण हैं। यदि निष्काम भावना अपना कर सांसारिक ऐश्वर्यों का भोग किया जाय तो मनुष्य अनेक दुःख व संकटों से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकता हैं।

इस संसार में आकर निज धर्म में तत्परता, मुख में मधुरता और दान में उत्साह दिखाना आवश्यक हैं। मित्रों के साथ निष्कपटता अपने से वृद्ध व गुरुजनों के प्रति श्रद्धा व भक्ति और चित्त में गम्भीरता धारण करना श्रेय की ओर ले जाने वाले भाव हैं। आचार विचार में शुद्धता और दूसरों से श्रेष्ठ गुण अपनाने की आदत होनी चाहिये। ज्ञान व श्रेष्ठ गुण जहां कहीं भी मिले उनसे अपने को हर समय सजायें रखना चाहिये। बाहर भीतर की शुद्धता का ध्यान रखते हुए अपने चित्त में सर्वशक्तिमान पिता को विठाये रखने में क्षण भर का भी विराम नहीं होना चाहिये। भौतिक वाद से ऊपर जो वास्तविक कल्याणकारी मंजिल है उसमें पहुँचने के लिये अपने प्रयत्न में कभी ढील व असावधानी नहीं बरतनी चाहिये।

हिमालय की उन गुफाओं में जहां कभी तपस्वी लोग भौतिकवाद में डूबी सुई संत दुनिया को आध्यात्मिक शान्ति का संदेश दिया करते थे, आज भी एक दूसरे के रुधिर की प्यासी और भौतिकवाद की चकाचौंध से उन्मत्त हुए संसार को सचेत करने के लिये एक गूंज सुनाई दे रही है—

मारने के स्थान दूसरों के लिये मरना, मिटना सीखो! मक्कारी के स्थान पर ईमानदारी सीखो! लेने के स्थान पर देना सीखो! दीन, दुःखी जीवों के प्रतिकूरता का व्यवहार छोड़ उनसे प्रेम करना सीखो! उच्छृङ्खलता

के स्थान पर अनुसाशन के अन्दर जीवन बिताना सीखो ! फंसने के स्थान से निकलना सीखो। प्रकृति की चकाचौंध में अपने को खो देने के स्थान में से आत्मतत्व को समेटना सीखो। कतिपय काँच के टुकड़ों को मोती मत समझो शिक्षा व ज्ञान प्राप्त कर उद्दण्डता के स्थान पर मखमल के समान मुलायम बनना सीखो ! तड़क भड़क की वेषभूषा और हीन विचार अपनाने के स्थान पर सादा रहन सहन व उच्च विचार अपनाना सीखो। कागज के गुलदस्ते को असली गुलाब का फूल मत समझो। मशीन बनने के स्थान में मनुष्य बनना सीखो। नकली को असली मत समझो।

आज भी यह अमर सन्देश भारतीय क्षितिज पर लिखा है और पूर्व से बहने वाली हवा में बड़े मधुर स्वर से गूँच रहा है, सुनने वाले सुनते है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जी थाः।

'सियराम जीवन का प्यारा गीत।'

मुसाफिर जीवन है अनमोल, सुनु ए अमृत बोल।
नील गगन सुखमय यदि ऊपर नीचे काँटे बिछे अतोल।
समझ बूझ कर चलना मानव पग-पग आँखे खोल॥ मु०१
दो दिन की जीवन बस्ती अस्थाई मिल जोल।
हंसी खुशी सद्प्रेम से मिलले सबसे ही दिलखोल॥ मु०२
आना अरु जाना दुनिया में थिर मुकाम है किसका बोल।
कौन टिका जाना सब ही ने मानहु ए सच बोल॥ मु०३
काहे अभिमान करे ओ मानव का तेरे तन का तोल।
एक हवा झोंके से उड़िहो तन दीपक का खोल॥ मु०४
कुटुम कबीला बड़पद संपद आकत नहि कछु मोल।
परमारथ के साधन कारज राखत हैं कछु मोल॥ मु०५
जीवन के संघर्ष में पहने बीरत्व कवच का खोल।
कुचल शत्रु भय संकट बाधा ले जीत युद्ध का मोल॥ मु०६
गाफिल [illegible] क्यों [illegible] जीवन अनमोल।
दान धर्म के कारज संग्रह कर, जो है अनमोल॥ मु०७

विकट मार्ग व दूर है मंजिल कामादि शत्रु बैठे वट खोल ।
सम्हल देख कर चलना अपनाए विवेक सद्‌बोल ।। मु०८
त्याग व सेवा साधन ही परहित में भाव अतोल ।
जीवन में अपनाये रख ए सदविचार अनमोल ।। मु०९
नहि परहित जो मानुष तन तो का उसका मोल ।
जों लों जीना परहित साधन केवल उसका मोल ।। मु०१०
सांच झूठ अरु पुण्य पाप विकते गली घर खोल ।
ले खरीद किस्मत झोली भर ज्ञान चक्षु को खोल ।। मु०११
जल में कमल दल ज्यों बिलग जग विचर दिल को खोल ।
निष्काम भाव सेवा में उसकी ले तन मन को घोल ।। मु०१२
आम कि डार सरिस झुक सदगुण फल रस ले मधु घोल ।
चाखि सरसता जीव सराहें, दें आशीष दो बोल ।। मु०१३
सुन्दर फूल सजा जग उपवन, जीवन पंखड़ी खोल ।
जीव-मधुप मधु पान करें जाने जीवन का मोल ।। मु०१४
मत बन सरिता-जल-गंगा तू मानव स्नान करें दिल खोल ।
तन मन के संताप मिटें समझे जीवन का मोल ।। मु०१५
बाहर भ्रमाये भटकत का अन्तर पट को खोल ।
देख विराजत घटघट व्यापक जोत जली अन मोल ।। मु०१६
मत अलि इठला इन विषयन मधु ज्ञान की आंखे खोल ।
सांझ होवत मुंदि जाई ही कमल पंखड़ी खोल ।। मु०१७
दुख विषयन रस रसना पीबत घर चित अन्तिम बोल ।
राम नाम 'सियराम' चरण रति रस पी अमृत घोल ।। मु०१८

———

कविराज डा० सीताराम शर्मा ध्यानी
आयुर्वेदाचार्य, B. I. M. S.
ग्राम पीड़ा, पट्टी कौड़िया, पो० व तहसील लैन्सडौन
जिला गढ़वाल (उ० प्र०) निवासी

द्वारा विरचित :-

अपार जीवन सिन्धु–आयुर्वेद मन्थन

से

'सु धा सं जी व नी'

की अमर घूंट

एक आयुर्वेदिक स्नातक का
मानव कल्याणार्थ पावन प्रयास समाप्त ।

प्रसिद्ध तीर्थ श्री बदरी केदार से मानव मात्र के चहुँमुखी विकास व कल्याणार्थ—

दिव्य चरणामृत घूंट

ॐ तत्सत् ॥

प्राचीन भारत की अमोघ

चिकित्सा पद्धति पर लेखक की :—

१—'अग्नि दग्ध चिकित्सासार' पुस्तक २.०० रु.

२—'सुधा संजीवनी' पुस्तक ५.०० रु.

पो० नथाणा,
जि० गढ़वाल,

मिलने के पते :— (उ०प्र०)

१. पुस्तक में वर्णित लेखक का अस्थाई व स्थाई घर का पता

२. श्री आनन्द सिंह, श्री महानन्द जी बहुगुणा बुकसेलर्स
चोपात, पो० जारवणी, जिला—चमोली (उ०प्र०)

३. लाला जीत सिंह एण्ड सन्सबुकसेलर्स
[illegible]याल, पो० नैथाणा, गढ़वाल (उ० प्र०)